प्रकाशक
दरबारीलाल जैन कोठिया
मन्त्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण एक हज़ार प्रति
फाल्गुन सं० २०१९ मार्च सन् १९६३
पृष्ठ-संख्या [illegible]
मूल्य [illegible]

मुद्रक
—सन्मति-प्रेस
२३०, गली कुंजस, दरीबा कलां,
दिल्ली



श्रीमान् माननीय साहू शान्तिप्रसादजी जैन

समर्पण

सुधारप्रिय, उदारहृदय, विद्या-साहित्य-प्रेमी. साहित्योद्धारक,
गुणिजनानुरागी, गुण-ग्राहक, सत्कार्य-सहायक,
सच्चे अर्थोंमे दानवीर, समाजके महान् सेवक,
धर्म-कर्ममे निष्ठावान्, मदरहित, लोकहितैषी,
सरल-सौम्य-प्रकृति और अपने प्रिय बन्धुवर
श्री साहू शान्तिप्रसादजी जैनको
यह लोकहितानुरूपा कृति
सादर समर्पित ।

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशकीय

यह 'निबन्धावली' आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'-के साहित्य और इतिहास विषयक उन निबन्धोमे पृथक् है, जिनका एक सग्रह 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे, प्रथम खडके रूपमे, ७५० पृष्ठका, प्रकाशित हो चुका है; दूसरा खड प्राय उतने ही पृष्ठोका प्रकाशित होनेको है, और तीसरा खड जैन-ग्रन्थोकी उन परीक्षाओसे सम्बन्ध रखता है जिन्होने महान् आचार्योंके नाम पर अङ्कित कुछ जाली ग्रन्थोका भडाफोड किया, दूसरोंकी कृतियोको अपनी कृति बनानेवालोका पर्दा फाश किया, समाजमे असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की और अनेक भूल-भ्रान्तियो तथा मिथ्या-धारणाओके विषयमे समाजके विवेकको काफी जाग्रत किया। इस खडका पृष्ठ-परिमाण औरभी अधिक है।

इस निबन्धावलीको जिसमें इतस्तत बिखरे हुए सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोका सग्रह है,दो खडोमे विभाजित किया गया है, जिनमे यह पहला खड विविध विषयके महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोको लिये हुए है, जिनकी सख्या ४१ है। दूसरे खडमे निबन्धोको १ उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक-जैसे विभागोंमे विभक्त किया गया है और उनकी सख्या ६० से ऊपर है। पहले खडमे प्रथम निबन्धको छोड़कर शेष निबन्धोको उसी क्रमसे रक्खा गया है, जिस क्रमसे उनका निर्माण हुआ है। इसका विशेप परिचय साथमे दी गई निबंध-सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। दूसरे खडमे भी निबन्धोको अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखनेका विचार है।

निबन्धावलीके निबन्धोका संशोधन-कार्य स्वयं मुख्तारश्रीके हाथो सम्पन्न हो सका है, यह अत्यन्त हर्षकी बात है और इससे उनका मूल्य और भी बढ़ गया है। मुख्तारश्रीके लेख निबन्धोको जिन्होने भी कभी पढा-सुना है उन्हे मालूम है कि वे कितने खोज-पूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नही है। विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोने समय-समय पर समाजमे किन-किन सुधारोको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है। कितने ही निबन्ध तो इस खंडमे ऐसे भी है जो एकाऽनेक-बार पुस्तकाकार छप चुके है और जिनकी माँग बराबर बनी रहती है। इससे सभी पाठक एक ही स्थान पर उपलब्ध इन निबन्धोसे अब अच्छा लाभ उठा सकेंगे।

यह निबन्धावली स्कूलो, कालिजो तथा विद्यालयोके विद्यार्थियो-को पढनेके लिये दी जानी चाहिये, जिससे उन्हे समाजकी पूर्वगति-विधियो एवं स्पन्दनोका कितना ही परिज्ञान होकर कर्तव्यका समुचित भान हो सके और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामे भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

अन्तमे मै अपनी तथा संस्थाकी ओरसे डा० श्री हीरालालजी जैन एम०ए०, एलएल०बी०, डी०लिट् प्रोफेसर व अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत-भाषा-विभाग विश्वविद्यालय जबलपुर (म० प्र०) को हार्दिक धन्यवाद भेंट करता हूँ जिन्होने इस निबन्धावलीके लिये 'नये युगकी झलक' नामसे महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखनेकी कृपा की है।

दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य, एम०ए०)
मंत्री, 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
१५ फरवरी १९६३

नये युगकी झलक

यदि भूलता नही हूँ तो सन् १९२२ की बात है जब दिल्लीमे प्रतिष्ठा-महोत्सवके अवसर पर जैनियोका एक अच्छा मेला भर गया था। दि० जैन महासभाका अधिवेशन भी वहाँ था। प्रथम दिवसकी कार्यवाहीमे ही जैन गजटके सम्पादकत्वके सम्बन्धमे सुधारको और स्थितिपालकोके बीच कडा विरोध उपस्थित हो गया। उसी रात्रिको एक अन्य खेमेमे एकत्र होकर सुधारकदल दि० जैन परिषदके नामसे अपना स्वतंत्र सगठन तैयार करनेका विचार कर रहा था। मै भी अपने नये उत्साहसे वहाँकी कार्यवाहीमे कुछ भाग ले रहा था। अकस्मात् मेरे समीप खादीका चद्दर ओढे बैठे हुए एक सज्जनने मुझे कुछ प्रसगोपयोगी बाते बतलाते हुए उन्हे सभामे उपस्थित करनेके लिये कहा। किन्तु अपरिचित और कुछ-कुछ अपढसे दिखाई देनेवाले व्यक्तिकी दी हुई सूचनाओके आधार पर उन बातोको प्रामाणिक रूपसे सभामे उपस्थित करनेका मेरा साहस नही हुआ। किन्तु शीघ्र ही मेरे आश्चर्य और हर्षका पारावार न रहा जब मैंने जाना कि मुझे वह सुझाव देनेवाला व्यक्ति अन्य कोई नही विख्यात लेखक और

मेरे परोक्ष सुपरिचित विद्वान् प० जुगलकिशोरजी मुख्तार है।

मुख्तार जीने जो साहित्य-सेवा की है और विशेषतः जैनसाहित्यके आलोचनात्मक अध्ययनकी जो परम्परा स्थापित की उसके विवरण देनेका न तो यह अवसर है और न उसकी आवश्यकता। जिन्हे जैन साहित्य व समाजकी प्रगति, हलचलो व प्रवृत्तियोसे सम्पर्क है वे भलीभाति जानते है कि मुख्तारजी इस क्षेत्रमे एक युगान्तर-स्थापक कहे जा सकते है। मुझे अपने तथा अन्य कुछ मित्रोके सम्बन्धमे तो यह कहनेमे कोई सकोच नही कि हमसे पुरानी पीढीके विद्वानोमें स्वर्गीय श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमीके अनन्तर श्रीजुगलकिशोर मुख्तारका ही नाम स्मरण आता है जिन्होने अपने लेखो और पुस्तको-द्वारा हमे साहित्य-सेवामे प्रवृत्त होनेकी स्फूर्ति प्रदान की तथा अध्ययन व लेखनकी उचित दिशाका मार्ग-दर्शन कराया। इसी कारण मैने अपना परम सौभाग्य समझा जब इन वयोवृद्ध साहित्य-सेवी विद्वान्ने अपने लेखोके इस सग्रहकी प्रस्तावना-रूपमे कुछ लिख देनेके लिये मुझे आमन्त्रित किया।

आजसे कोई ६-७ वर्ष पूर्व सन् १९५६ मे मुख्तारजीका 'जैन-साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' शीर्षकसे उनके ३२ लेखोका सग्रह प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशकीय वक्तव्यमे कहा गया था कि "मुख्तारजीके लेखोकी सख्या इतनी अधिक है कि यह सग्रह कई खडोमे प्रकाशित करना होगा। इस प्रथम खडमे ही ७५० के लगभग पृष्ठ हो गये है। दूसरे खडोमे भी प्राय इतने-इतने ही पृष्ठोकी सभावना है।" उस प्रथम खडके लेखोमे ही अध्येताओ व साहित्यकारोको बडी सहायता मिली। मुख्तारजीकी जिन पूर्व खोजो-शोधोको जाननेके लिये जैनहितैषी व अनेकान्त आदि पत्रिकाओकी पुरानी फाइले ढूंढनेमे बडी हैरानी उठानी पडती थी, वह अब नही रही। इसी सुविधाके विस्तारके लिये मुख्तारजीके शेष लेखोके सग्र-

हकी भी लोग बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उनके लेखोका कोई दूसरा सग्रह अब तक प्रकाशित नही हो पाया। श्रेयस्कर कार्यमे अनेक विघ्न आते है। इधर कई दिनोसे मुख्तारजीके वृद्धत्वको देखते हुए यह आशा क्षीण होती जा रही थी कि अब उन्हींके कर-कमलोसे सग्रहीत उनका कोई अन्य लेख-सग्रह भी हमे प्राप्त हो सकेगा। इसे श्रुतदेवीकी महती कृपा ही समझना चाहिये कि उसने मुख्तारजीको यह प्रेरणा दी और बल प्रदान किया कि वे अपना एक और लेख-सग्रह ज्ञानोपासकोंको प्रदान करें। इसीका परिणाम यह मुख्तारजीका लेख-सग्रह उपस्थित है।

प्रस्तुत खडमे मुख्तारजीके उन ४१ लेखोका सग्रह है जो सन् १९०७ और १९५२ के बीच ४५ वर्षोमे भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गये थे, और जैनगजट, जैनहितैषी, सत्योदय, अनेकान्त आदि पत्र-पत्रिकाओमें प्रकाशित हुए थे। यह समस्त काल भारतीय राजनीति, समाज व सस्कृतिके क्षेत्रमे असाधारण उत्क्रान्ति-पूर्ण रहा है। विशेषत देशके स्वतत्र होनेसे लगाकर गत १५-१६ वर्षोमे तो यहाँकी गति-विधियो व विचारोमे आकाश-पातालका अन्तर पड गया है। अतएव आश्चर्य नही जो प्रस्तुत लेखोकी अनेक बाते अब कालातीत हो गई हो। किन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि यहाँ कही गई अनेक बाते ऐसी हैं जो मानो वर्तमान स्थितिको ही दृष्टिमे रखकर लिखी गई हो। उदाहरणार्थ—

'भारतकी स्वतत्रता, उसका झडा और कर्तव्य' (३९) शीर्षक लेख देखिये जहाँ कहा गया है कि—

"भारतकी स्वतंत्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्ज्वल बनानेके लिये इस समय जनता और भारत-

हितैषियोका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओको उनके कार्यो-मे पूर्ण सहयोग प्रदान करे और ऐसा कोई भी कार्य न करे जिस-से नेताओका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बडा प्रयत्न देशमे धर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओका नाश होकर देशमे शान्ति एव सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी" इत्यादि । यह लेख सन् १९४७ के मार्च-अप्रैल मासमे स्वातत्र्य-प्राप्तिकी पृष्ठभूमिमे लिखा गया था। हमारी गत पन्द्रह-सोलह वर्षकी यात्राके प्रतिकूल इधर हुए साम्प्रदायिक झगड़ो और अब चीनी आक्रमणके प्रकाशमे जान पडता है, हम पुन उसी मजिल पर आ खडे हुए है जहाँसे उस समय चले थे।

इसी प्रकार प्रथम लेख 'सुधारका मूलमत्र' ही ले लीजिये जो सन् १९१७ मे लिखा गया था। वहाँ पढिये—

'यदि आप यह चाहते है कि हिन्दी भाषाका भारतवर्षमे सर्वत्र प्रचार हो जाय, और आप उसे राष्ट्रभाषा बनानेकी इच्छा रखते है तो आप हिन्दी साहित्यका जी-जानसे प्रचार कीजिये । स्वय हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिये, हिन्दीमे पत्र-व्यवहार, हिन्दीमे कारोबार और हिन्दीमे वार्तालाप कीजिये । हिन्दी पत्रो और पुस्तकोको पढिये, उन्हे दूसरोको पढनेके लिये दीजिये, अथवा पढनेकी प्रेरणा कीजिये। हिन्दीमे लेख लिखिये, हिन्दीमे पुस्तके निर्माण कीजिये, हिन्दीमे भाषण दीजिये, और यह सब दूसरोसे भी कराइये । दृढताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमे सब विषयो पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे जांय । हिन्दी लेखकोका उत्साह बढाइये । उन्हे लेखो तथा पुस्तकोके तैयार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये, और तरह-तरहके लेखो, चित्रो, व्याख्यानो,

वार्तालापो और व्यवहारोके द्वारा हिन्दीका महत्त्व प्रकट करते हुए सर्व-साधारणमे हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी ग्रन्थो तथा हिन्दी पत्रोकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पड़े। यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेगे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई।"

इस लेखके लिखे जानेसे आज ४५-४६ वर्ष हो जाने पर भी हिन्दीके राष्ट्रभाषा बनने-बनानेकी समस्या जैसीकी तैसी बनी हुई है, और लेखककी वह ललकार आज भी उतनी ही सार्थक है। उसमे उन लोगोके लिये एक चुनौती भी है जो स्वय अपना कर्तव्य पूरा न करते हुए उक्त विषय पर सरकारकी उपेक्षाकी शिकायत किया करते है।

'हमारी यह दुर्दशा क्यो ?' शीर्षक छठे लेखमे भारतके समुज्वल और समृद्ध भूतकालका चित्रण करके आजके शक्ति-ह्रासके सम्बन्धमे कहे गये शब्द ध्यान देने योग्य है—

"और आज उसी भारतवर्षमे हमारे चारो तरफ प्राय ऐसे ही मनुष्योकी सृष्टि नजर आती है जिनके चहरे पीले पडगये है। १२-१३ वर्षकी अवस्थामे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये है। जिनकी आँखे और गाल बैठ गये है। मुँह पर जिनके हवाई उडती है। होठो पर हरदम जिनके खुश्की रहती है। थोडासा बोलने पर मुख और कठ जिनका सूख जाता है । हाथ और पैरोके तलुओसे जिनके अग्नि निकलती है। जिनके पैरोमे जान नही और घुटनोमे दम नही। जो लाठीके सहारे चलते है और ऐनकके सहारे देखते है। जिनके कभी पेटमे दर्द है, तो कभी सिरमे चक्कर। कभी जिनका कान भारी है, तो कभी नाक। आलस्य जिनको दबाये रहता है। साहस जिनके पास नही फटकता। वीरता जिनको स्वप्नमे भी दर्शन

-नही देती। जो स्वय अपनी छायामे आप डरते हैं।" इत्यादि,इत्यादि।

यह जो हमारे नवयुवकोकी निर्बलताका चित्रण आजसे अर्ध-शताब्दी पूर्व किया गया था, क्या वह आज भी सत्य नही है ? इस स्थितिको सुधारनेके जो उपाय लेखमे बतलाये गये है वे आज भी ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि इन पुराने लेखोमे ऐतिहासिक महत्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोंके सवन्धमे भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

प्रस्तुत सग्रहके जैन इतिहास, धर्म और समाज-विषयक लेख तो उस-उस क्षेत्रमे रुचि रखनेवाले पाठको व लेखकोको अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगे, क्योकि उनमे एक कुशल, अनुभवी विद्वान और निष्पक्ष समालोचकके विचार निहित है। महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन तिथि (२६) श्रीधवलमे तो एक हजार वर्षोसे निर्दिष्ट थी, किन्तु मुख्तारजी ने उस ओर समाजका ध्यान सन् १९३६ मे विशेष रूपसे आकर्षित किया। इतना ही नही, किन्तु उन्होने उस दिन राजगृहके विपुलाचल पर्वत पर, जहाँ भगवान महावीरका उपदेश हुआ था, एक महोत्सव मनानेकी प्रथा प्रचलित करनेका भी प्रयास किया। 'महावीरका सर्वोदय-तीर्थ' (४०) लिखकर उन्होने जैनधर्मके अनेकान्त सिद्धान्तके प्रचारकी एक प्रशस्त भूमिका निर्माण की। 'सर्वोदयके मूलसूत्र' (४१) मे उन्होने १०० वाक्योंमें अनेकान्त सिद्धान्तका निचोड भी रख दिया। "जैनी नीति" (२३) मे अमृतचन्द्राचार्यकी ग्वालिनकी उपमा-द्वारा अनेकान्तकी सारग्राहिणी शक्तिका उन्होने अच्छा परिचय कराया और वर्षों तक अनेकान्तमें उसके चित्रण व लेखो-द्वारा उसका खूब प्रचार किया। "जिनपूजाधिकार-मीमासा" (८), 'उपासना-तत्त्व' (१८), 'उपासनाका ढग'

(१५) 'वीतरागकी पूजा क्यो ?' (३१) व 'वीतरागसे प्रार्थना क्यो ?' (३२) जैसे लेखो द्वारा मुख्तारजीने तत्सम्बन्धी जैन दृष्टिकोणका शास्त्रीय एव निर्विकार रीतिसे प्रतिपादन किया व प्रचलित धारणाओ और विधियोमे परिष्कार करानेका प्रयत्न किया।

जैन-धर्म अपने मौलिक स्वरूप व रीति-नीतिमे प्रजातन्त्रात्मक है। वह मनुष्य वर्गमे जन्मत नीच ऊँचका भेद स्वीकार नही करता और सभीको धर्म-पालनका समान अधिकार प्रदान करता है। किन्तु दुर्भाग्यत जैन समाजमें भी नीच-ऊँचकी भावनाए और जाति-पाँतिके नाना भेद-भाव उत्पन्न हो गये। मुख्तारजीने अपने 'जैनियोमे दयाका अभाव' (७) व 'जैनियोका अत्याचार' (६) जैसे लेखों-द्वारा इस विकारकी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया। उन्होने 'जिन-पूजाधिकार-मीमासा' (८) 'जातिभेद पर अमितगति' (१८) तथा 'जैनी कौन हो सकता है?' (२४) आदि लेखोमे शास्त्रीय प्रमाणोसे भले प्रकार सिद्ध कर दिखाया कि वर्ण व जाति एवं दस्सा-बीसा-जैसे अर्थ-हीन भेद-भावोके आधारसे किसीको जैनधर्मका पालन करने व मन्दिरोंमे दर्शन-पूजनके अधिकारसे वचित रखना सर्वथा अनुचित है। 'चारुदत्त सेठका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१२) 'वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१३) 'गोत्र-स्थिति व सगोत्र विवाह' (१६) 'असवर्ण व अन्तर्जातीय विवाह' (२०) आदि लेखोमे उन्होने पौराणिक उदाहरण दे देकर सिद्ध किया कि नीच-ऊँच व गोत्र-मूर आदि भेद-भाव सारहीन है व उनका जैन-परम्परात्मकविवाह-सबंधी नियमोमे कोई स्थान व महत्व नही है।

समाजके स्थिति-पालक कहे जानेवाले दलको मुख्तारजीके सुधारक विचारोसे बडी ठेस पहुँची; किन्तु आज तक भी कोई उनके शास्त्रीय प्रमाणों एव तदाश्रित युक्तियो और तर्कोंको काट नही सका। और अब तो प्राय ये सभी सुधार बहुजनसमाजमे मौन-

पूर्वक स्वीकार किये जा चुके हैं। इस प्रकार हम प० जुगलकिशोरजी मुख्तारको जैनसमाजमे नये युग-निर्माणमे एक महान् अग्रणी कह सकते है, जिसके प्रचुर प्रमाण उनके प्रस्तुत लेखोमे विद्यमान हैं। जो कोई जैनसमाजकी गत अर्ध शताब्दीकी गति-विधिका इतिहास समझना चाहे, व उस विषय पर कुछ लिखना चाहे, उसके लिये यह लेख-सग्रह अनिवार्यरूपसे उपयोगी सिद्ध होगा, और वह पडित-जीकी विद्वत्ता व समाज-सुधारकी शुद्ध और सुदृढ भावनाका लोहा माने विना नही रहेगा। अध-विश्वासो व अज्ञानपूर्ण मान्यताओकी कठोर आलोचनाके साथ साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शो-का पक्षपाततथा नव-निर्माणका सावधानी पूर्ण प्रयत्न पडितजीकी अपनी विशेषता है। अपनी कही हुई बातोकी पुष्टिके लिये प्रमाणो, तर्को व दृष्टान्तोकी उनके पास कोई कमी नही। उनकी भाषा सरल और धारावाहिनी, तथा शैली तर्कपूर्ण और ओजस्विनी है। सस्कृत व फारसीके मोह व आग्रहसे रहित वे ऐसी सुबोध हिन्दी लिखते है जिसके विषयमे किसीको कोई शिकायत नही होनी चाहिये। इन सब गुणोसे पडितजीका अपना 'युगवीर' उपनाम, जो उनके पूरे नामका ही सारगर्भित सक्षेप है, पूर्णत सार्थक सिद्ध हुआ पाया जाता है।

हमारी अभिलाषा और प्रार्थना है कि श्रुतदेवीका यह परम पुजारी चिरायु हो।

विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म०प्र०)
१६-२-१९६३

(डा०) हीरालाल जैन
(एम०ए०, डी० लिट)

निबन्ध-सूची

[इस सूचीमें ब्रेकटके भीतर यह सूचित किया गया है कि कौन निबन्ध कब-कहाँ प्रथमतः प्रकाशित हुआ है और जिस निबन्धका ठीक निर्माण-काल मालूम हो सका है, उसका वह समय निबन्ध-नामके अनन्तर तथा ब्रेकटके पूर्व दिया गया है।]

—०—

सुधारका मूलमन्त्र

पाठक जन ! क्या आपने कभी विचार किया है कि, एक मनुष्य जो अभी दूसरेके प्राण लेनेके लिये तय्यार था, शान्त क्यो होगया ? एक बालक रोते रोते हँसने क्यो लगा ? एक आदमी जो अभी हँसी-खुशीकी बाते कर रहा था, शोकमे मग्न क्यो हो गया ? सभाके सब मनुष्य बैठे बिठाए एकदम खिल-खिलाकर क्यो हँस पडे ? कल जो कायर और डरपोक बने हुए थे, वे आज वीर क्योकर बन गये ? मूर्खता और असभ्यताकी मूर्तियाँ विज्ञान और सभ्यताकी मूर्तियोमे कैसे परिणत हो गईं ? जिस कार्यसे कल हमे घृणा थी, आज उसीको हम प्रेमके साथ क्यो कर रहे है ? आनन्द और सुखके देनेवाले पदार्थ भी कैसे किसीको दु खदायक और अरुचिकर हो जाते है ? आपसमे वैर-विरोध क्योंकर पैदा होता और बढ जाता है ? एक अच्छे कुलका भला आदमी चोर और डकैत कैसे बन जाता है ? किस प्रकार एक असदाचारी सदाचारी और सदाचारी असदाचारी हो जाता है ? कल जो भंगी या चमार था वह आज ईसाई बनकर या फौजमे भर्ती होकर ब्राह्मण और क्षत्रियो-जैसी बाते क्यो करने लगता है ? एक मनुष्य जिसे अपने प्राणोका बहुत मोह था, सहर्ष प्राण देनेके लिये क्योकर तैयार हो जाता है ? कौन हमारी शान्तिको भग कर देता है ? कौन हमारे हृदयोमे प्रेम तथा भयका सचार

कर देता है ? और कौन किसी शांतिमय राष्ट्रमे विप्लव खडा कर देता है ?

उत्तर इन सबका एक है और वह है—साहित्य-शक्तिका प्रभाव। जिस समय जैसे रूपमे साहित्यका प्राबल्य हमारे सामने होता है उस समय हमारा परिणमन भी उसी प्रकारका हो जाता है। साहित्यसे अभिप्राय यहा किसी भाषा-विशेषसे नही है और न केवल भाषाका नाम ही साहित्य हो सकता है, बल्कि भाषा भी एक प्रकारका साहित्य है अथवा साहित्यके प्रचारका साधन है। साहित्य कहते है भावोंके वातावरणको और वह वातावरण शब्दो, भाषाओ, वार्तालापो, व्याख्यानो, चेष्टाओ, व्यवहारो, विचारो, लेखो, पुस्तको चित्रो आकृतियो, मूर्तियो और इतर पदार्थोंके द्वारा उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न किया जाता है। इसलिये साहित्यके इन सब साधनोको भी साहित्य कहते है। अथवा ये सब साहित्य प्रचारके मार्ग है। साहित्यके सामान्यत क्षणिक-स्थायी, चर-स्थिर, उन्नत-अवनत, सबल-निर्बल और प्रौढ-अप्रौढ़ ऐसे भेद किए जासकते है। परन्तु विशेषकी दृष्टिसे उसके शान्ति-साहित्य, शोक-सा० प्रेम-सा०, हास्य-सा०, भय-सा०, काम-सा०, द्वेष-सा०, राग-सा० वैराग्य-सा०, सुख-सा०, दुःख-सा०, धर्म-सा०, अधर्म-सा०, आत्म-सा०,अनात्म-सा०, उदार-सा०,अनुदार-सा०, देश-सा०, समाज-सा०, युद्ध-सा०, कलह-सा०, ईर्ष्या-सा०, घृणा-सा०, हिंसा-सा०, दया-सा०, क्षमा-सा०, तुष्टि-सा०, पुष्टि-सा०, विद्या-सा०, विज्ञान-सा०, कर्म-सा०, क्रोध-सा०, मान-सा०, माया-सा०, लोभ-साहित्य, इत्यादि, असख्यात भेद है। बल्कि दूसरे शब्दोमे यो कहना भी अनुचित न होगा कि स्थूलरूपमे भावोके जितने भेद किये जा सकते है साहित्यके भी प्राय उतने ही भेद हैं।

शान्ति-साहित्यके सामने आनेसे, चाहे वह किसी भी द्वारसे आया हो, यदि वह प्रबल है तो हम शान्त हो जाते है—हमारा क्रोध जाता रहता है। शोक-साहित्यके प्रभावसे हम रोने लगते है—हमारा धैर्य

छूट जाता है। प्रेम-साहित्यके प्रसादसे हम प्रेम करनेके लिये तैयार हो जाते हैं—दूसरोंके प्रति हमारा अनुराग और वात्सल्य वढ जाता है। हँसीका साहित्य हमे हँसने या मुस्करानेके लिये वाध्य कर देता है। भयका साहित्य हमे भीरु और डरपोक वना देता है—हम वात-वातमे डरने, घवराने और कांपने लग जाते हैं। काम-साहित्यके प्राबल्यमे अनेक प्रकारकी काम-चेष्टाएँ होने लगती हैं और द्वेष-साहित्यके प्रभावसे हम लडने-लडानें, घृणा करने तथा एक दूसरेको हानि पहुँचानेके लिये आमादा और तत्पर हो जाते है। युद्धमे क्या होता है ? युद्ध-साहित्यका प्रचार। अर्थात् युद्ध-सामग्रीको एकत्रित, सचित और सुरक्षित करनेके सिवाय युद्धकी महिमा गाई जाती है—युद्ध करना कर्तव्य और धर्म ठहराया जाता है। अपने देश, धम और समाजकी मान-रक्षाके लिये प्राणोकी वलि देना सिखलाया जाता है। अपमानित जीवनमे मरना श्रेष्ठ है, युद्धमे मरने वालोकी कीर्ति अमर हो जाती है और उनके लिये हरदम स्वर्ग या वैकुठका द्वार खुला रहता है, इस प्रकारकी शिक्षाएँ दी जाती हैं। शत्रुओके असत् व्यवहारोको दिखलाते हुए उनसे घृणा पैदा कराई जाती है और उन्हे दड देनेके लिये लोगोको उत्तेजित किया जाता है। साथ ही, सैनिकोको और भी अनेक प्रकारके प्रोत्साहन दिए जाते हैं, वीरोका खूव कीर्तिगान होता है और कायरोकी भरपेट निन्दा भी की जाती है। नतीजा इस सम्पूर्ण साहित्य-प्रचारका यह होता है कि मुर्दोमे भी एक वार जान पड जाती है उनकी मुर्झाई हुई आशा-लताएँ फिरसे हरी-भरी होकर लहलहाने लगती है और वे कायर भी, जो अभी तक युद्धसे भाग रहे थे अथवा जिन्होने हथियार डाल दिए थे, युद्धमे शत्रुओ पर विजय प्राप्त करनेके लिए जी-जानसे लडने—खुशीसे अपने प्राणो तककी आहुति देनेके लिए तैयार हो जाते है, पूर्ण उत्साहके साथ शत्रु पर धावा करते हैं, खूव जम कर लडते है और अन्तमे शत्रुको परास्त भी कर देते हैं।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि साहित्य-प्रचारमे कितनी शक्ति है। जिन पाठकोको इस विषयका अधिक अनुभव प्राप्त करना हो उन्हे भूमडलके इतिहासोका अध्ययन करना चाहिये। इतिहासोंका अध्ययन उन्हे बतलाएगा कि साहित्य-प्रचारमे कितनी बडी शक्ति है और उसके द्वारा समय समयपर कैसे कैसे महान उलटफेर होगए हैं। सिक्खसमाज तथा उसके धर्मकी प्रारम्भमे क्या दशा थी और फिर कैसे कैसे साहित्यके प्रभावसे उसकी कायापलट होकर वह क्षत्रियत्वमे ढलगया, ये सब बाते भी इतिहासवेत्ताओसे छिपी नही है। वास्तवमे समस्त देशो, धर्मों तथा समाजोका उत्थान और पतन साहित्य-प्रचारके आधार पर ही अवलम्बित है। जिस देश, धर्म या समाजमे जिस समय जिस विषयके साहित्यका अधिक प्रचार होता है उस देश, धर्म या समाजमे उस समय उसी विषयकी तूती बोलने लगती है। विषयके उत्थानात्मक होनेसे उत्थान और पतनात्मक होनेसे पतन हो जाता है।

जापान देशकी आजसे प्राय १०० वर्ष पहले कैसी जघन्य स्थिति थी और आज उसका कितना चकित करनेवाला उत्थान होगया है, यह सब उसके उत्थानात्मक साहित्यके प्रसारका ही फल है। भारत-वर्षका पतन क्यो हुआ ? और वह क्यो अपनी सारी गुण-गरिमा खो बैठा ? इसीलिये कि उसके साहित्यकी अवस्था अच्छी नही रही, वह अपने सत्साहित्यको स्थिर नही रख सका, अथवा समयके अनुकूल नया साहित्य उत्पन्न नही कर सका। उसका साहित्य प्रेमशून्य होकर पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और निन्दासे तथा निष्फल क्रियाकाड-मे भर गया। उसमे अज्ञानता, अकर्मण्यता, स्वार्थान्धता, कायरता, अन्धश्रद्धा, अनैतिकता और विलास-प्रियता छागई और साथही उसने लोकोपकार, लोकसंग्रह, विचार-स्वातंत्र्य और सहोद्योगिता जैसे महत्त्वके तत्त्वोको भुला दिया। देशके साहित्यकी ऐसी अवस्था हो जानेसे ही भारतवर्षका पतन हुआ। भिन्न-भिन्न धर्मों तथा समाजोंके उत्थान

और पतनका भी प्राय. ऐसा ही रहस्य है । उनका उत्थान और पतन भी उनके साहित्य-प्रचारकी हालत पर अवलम्बित है ।

आप किसी देश या समाजको जैसा बनाना चाहें उसमे वैसे ही साहित्यका पूर्ण-रीतिसे प्रचार कर दीजिये, वह उसी प्रकारका हो जायगा । उदाहरणके लिये, यदि आप यह चाहते है कि हिन्दी भाषा-का भारतवर्षमे सर्वत्र प्रचार होजाय और आप उसे राष्ट्रभाषा बनाने-की इच्छा रखते हैं तो आप हिन्दी साहित्यका जीजानसे प्रचार कीजिये, स्वय हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिए, हिन्दीमे पत्रव्यवहार, हिन्दीमे कारोवार और हिन्दीमे वार्तालाप कीजिये, हिन्दी पत्रो और पुस्तको-को पढिये, उन्हें दूसरोको पढनेके लिये दीजिये अथवा पढ़नेकी प्रेरणा कीजिये. हिन्दीमे लेख लिखिये, हिन्दीसे पुस्तके निर्माण कीजिये, हिन्दीमें भाषण दीजिये और यह सब कुछ दूसरोसे भी कराइये । दृढताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमे सब विषयोपर उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे जॉय । हिन्दी-लेखकोका उत्साह बढाइये, उन्हे लेखो तथा पुस्तकोके तय्यार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये और तरह-तरहके लेखो, चित्रो, व्याख्यानो वार्तालापो और व्यवहारोंके द्वारा हिन्दीका महत्व प्रगट करते हुए सर्व-साधारणमे हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी-ग्रन्थो तथा हिन्दी पत्रोकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पडे । यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेगे कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बन गई ।

इसी तरह यदि आप अपने देश या समाजका उत्थान चाहते हैं और उसके सुधारकी इच्छा रखते है तो आप उसमे उत्थानात्मक और सुधार-विषयक साहित्यको सर्वत्र फैलाइये अर्थात् अपने देश व समाज-के व्यक्तियोको स्वावलम्बनकी शिक्षा दीजिये, उन्हे अपने पैरो पर खडा होना सिखलाइये, भाग्यके भरोसे रहनेकी उनकी आदत छुड़ा-इये, भीख माँगने तथा ईश्वरसे वस्तुत याचना और प्रार्थना करनेकी

पद्धतिको उठाइये, 'कोई गुप्त दैवी शक्ति हमें सहायता देगी' इस खयालको दिलसे भुलाइये, अकर्मण्य और आलसी मनुष्योंको कर्मनिष्ठ और पुरुषार्थी बनाइये, पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष, घृणा निन्दा और अदेखसका भावको हटाकर आपसमें प्रेमका संचार कीजिये, निष्फल क्रियाकांडों और नुमायशी (दिखावेके) कामोंमे होनेवाले शक्तिके ह्रासको रोकिये द्रव्य और समयका सदुपयोग करना बतलाइये, विलासप्रियताकी दलदलमे फँसने और अन्धश्रद्धाके गड्ढेमे गिरनेसे बचाइये, अनेक प्रकारके कल-कारखाने खोलिए, उद्योगशालाएँ और प्रयोगशालाएँ जारी कीजिये, शिल्प व्यापार और विज्ञान-उन्नतिकी ओर लोगोंको पूरे तौरसे लगाइये, मिलकर काम करना, एक दूसरेको सहायता देना तथा देश और समाजके हितको अपना हित समझना सिखलाइये, बाल, वृद्ध तथा अनमेल विवाहोंका मूलोच्छेद होसके ऐसा यत्न कीजिए, सच्चरित्रता और सत्यका व्यवहार फैलाइये, विचार-स्वातन्त्र्यको खूब उत्तेजन दीजिए, योग्य आहार-विहार द्वारा बलाढ्य बनना सिखलाइये, वीरता धीरता निर्भीकता, समुदारता, गुणग्राहकता, सहनशीलता और दृढप्रतिज्ञता आदि गुणोंका संचार कीजिये, एकता और विद्यामें कितनी शक्ति है इसका अनुभव कराइये, धर्मनीति, राजनीति और समाजनीतिका रहस्य तथा भेद समझाइये, समुद्र-यात्राका भय हटाइये विदेशोंमे जानेका संकोच और हिचकिचाहट दूर कीजिये, अनेक भाषाओंका ज्ञान कराइये, तरह तरहकी विद्याएँ सिखाइये और शिक्षाका इतना प्रचार कर दीजिये कि देश या समाजमे कोई भी स्त्री, पुरुष बालक और बालिका अशिक्षित न रहने पावे। इन सब बातोंके सिवाय जो जो रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार अथवा सिद्धान्त उन्नति और उत्थानमे बाधक हों, जिनमे कोई वास्तविक तत्त्व न हो और जो समय समय पर किसी कारणविशेषसे देश या समाजमे प्रचलित हो गए हो उन सबकी खुले शब्दोंमे आलोचना कीजिए और उनके गुण-दोष सर्वसाधारण पर

प्रगट कीजिये। सच्ची आलोचनामे कभी संकोच न करना चाहिए। बिना समालोचनाके दोषोका पृथक्करण नही होता। साथ ही, इस बातका भी खयाल रखिये कि इन सब कार्योंके सम्पादन करने और कराने मे अथवा यह सब साहित्य फैलानेमे आपको अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आवेंगी, रुकावटें पैदा होंगी, बाधाएँ उपस्थित होगी, और आश्चर्य नही कि उनके कारण कुछ हानि या कष्ट भी उठाना पडे, परन्तु उन सबका मुकाबला बडी शान्ति और धैर्यके साथ होना चाहिए, चित्तमे कभी क्षोभ न लाना चाहिए—क्षोभसे योग्य-अयोग्य-का विचार नष्ट हो जाता है—और न कभी इस बातकी पर्वाह ही करनी चाहिए कि हमारे कार्योका विरोध होता है, विरोध होना अच्छा है,वह शीघ्र सफलताका मूल है। कैसा ही अच्छेसे अच्छा काम क्यो न हो, यदि वह पूर्व-संस्कारोके प्रतिकूल होता है तो उसका विरोध जरूर हुआ करता है। अमेरिका आदि देशोमे जब गुलामोको गुलामीसे छुड़ानेका आन्दोलन उठा तब खुद गुलामोने विरोध किया था। पागल मनुष्य अपना हित करनेवाले डाक्टर पर भी हमला किया करता है। इसलिए महत्पुरुषोको इन सब बातोका कुछ भी खयाल न होना चाहिए। अन्यथा वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जावेंगे और सफल-मनोरथ न हो सकेंगे। उन्हें अपना कार्य और आन्दोलन बरा-बर जारी रखना चाहिए। आन्दोलनके सफल होने पर विरोधी शान्त हो जायँगे, उन्हे स्वय अपनी भूल मालूम पडेगी और आगे चलकर वे तुम्हारे कार्योके अनुमोदक और सहायक ही नही बल्कि अच्छे प्रचारक और तुम्हारे पूर्ण अनुयायी बन जायँगे।

जैन ग्रन्थोके छपानेका समाजमें कितना विरोध रहा! परन्तु अब वही लोग, जो उस विरोधमे शामिल थे और जिन्होने छपे हुए शास्त्रोको न पढ़नेकी प्रतिज्ञाओ पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये थे, खुशीसे छपे हुए ग्रन्थोको पढते-पढ़ाते और उनका प्रचार करते हुए देखे जाते हैं। जिधर देखो, उधर छपे हुए ग्रन्थोकी महिमा और

प्रगमाके गीत गाए जाते हैं। यदि उस समय छपे ग्रन्थोका प्रचार करने-वालोंके हृदयोमे इस विरोधसे निर्बलता आ जाती और वे अपने कर्तव्यको छोड बैठते तो आज छपे ग्रन्थोकी कृपासे जैन समाजको जो असीम लाभ पहुँच रहा है उससे वह वचित रह जाता और उसका भविष्य वहुत कुछ अधकारमय हो जाता। इसलिये विरोधके कारण घबराकर कभी अपने हृदयमे कमजोरी न लाना चाहिये और न फल-प्राप्तिके लिये जल्दी करके हताश ही होजाना चाहिये। वल्कि वडे धैर्य और गाम्भीर्यके साथ वरावर उद्योग करते रहना चाहिये और नये-पुराने सभी मार्गोसे, जिस-जिस प्रकार बने, अपने सुधार विपयक साहित्यका सर्वत्र प्रचार करना चाहिये।

सच्चे हृदयसे काम करनेवालो और सच्चे आन्दोलनकारियोको सफलता होगी और फिर होगी। उन्हे अनेक काम करनेवाले, सहायता देनेवाले और उनके कार्योको फैलानेवाले मिलेंगे। इसलिए घवरानेकी कोई वात नही है। जो लोग देश या समाजके सच्चे हितैपी होते है वे सव कुछ कप्ट उठाकर भी उसका हित-साधन किया करते है। इस तरहपर सव कुछ सहन करते हुए यदि आप सुधारविपयक साहित्यका प्रचार करके अपने देश या समाजके साहित्यको सुधारनेमे समर्थ हो जायँगे तो फिर देश या समाजके सुधरनेमे कुछ भी देर नही लगेगी। उसका सुधार अनिवार्य हो जायगा। यही सुधारका मूल मंत्र है। परन्तु इतना खयाल रहे कि साहित्य जितना ही उन्नत, सवल और प्रौढ होगा उतना ही उसका प्रभाव भी अधिक पडेगा और वह अधिक काल तक ठहर भी सकेगा। इसलिए, जहाँ तक वने, खूब प्रवल और पुप्ट साहित्य फैलाना चाहिए।

२

पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र

इस संसारमे इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग और रोगादि-जनित जितने भी दु ख और कष्ट है उन सबका मूल कारण पाप-कर्म है। क्या बालक, क्या वृद्ध और क्या जवान सभी दु खोसे भयभीत और इस बातके उत्कट अभिलाषी हैं कि उन्हे किसी प्रकार भी दु खके दर्शन न होवें, परन्तु दु खोके मूल कारण 'पाप' को दूर करनेके लिये प्राय कोई भी यथेष्ट प्रयत्न नही करता, उलटा दु ख मिटानेके लिये मनुष्य बहुधा पापकर्मका आचरण करते है जिससे दु ख दूर न हो-कर दु खकी परम्परा उत्तरोत्तर बढती रहती है। आजकलके मनुष्यो-की दशा ठीक इस श्लोकमे वर्णित-जैसी जान पडती है —

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्य नेच्छन्ति मानवा' ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नत' ॥

अर्थात्—मानव पुण्यका फल जो सुख उसको तो चाहते हैं,परन्तु पुण्य तथा धर्मकार्यको करना नही चाहते—उसके लिये सौ बहाने बना देते हैं। और पापका फल जो दु ख उसे तो नही चाहते—दु ख के नामसे भी डरते है, परतु दु खका कारण जो पापकर्म है उसे बड़े यत्नसे करते हैं—अनेक जन मिल-मिलाकर तथा सलाह-मशवरा करके उसे बडे चावसे सम्पन्न करते हैं।

ऐसी स्थितिमे कैसे दु खकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? जिस प्रकार शीत दूर करनेके लिए शीतलोपचार उपयोगी नही होता उसी प्रकार दु खोको दूर करनेके लिए पापा-

चरण कार्यकारी नहीं है। दुःखोसे भयभीत मानवोंको चाहिए कि वे पापोंका दूरसे ही परित्याग करें। अतः आज अपने पाठकोंको एक ऐसा 'गुरुमंत्र' बतलाया जाता है जिसको हृदयमे धारण करने, नित्य स्मरण रखने और सदा व्यवहारमे लानेसे सहज ही समस्त पापोंसे बचा जा सकता है। गुरुमंत्रमे पापोंसे बचनेका ऐसा सुगम तथा सरल मार्ग निर्दिष्ट किया गया है जिससे किसीको भी किसीसे कुछ पूछने-की जरूरत नहीं रहती। प्रत्येक मनुष्य पापोंसे बचनेका अपना मार्ग स्वयं निर्धारित कर सकता है और उसपर चलता हुआ स्वतः पापो-से बचकर दुःखोंसे मुक्त हो सकता है। वह गुरुमंत्र इस प्रकार है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

'जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—दूसरोंके द्वारा किए हुए जिस व्यवहारको तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते, अहितकर और दुःखदायी समझते हो—उनका आचरण-व्यवहार तुम दूसरोंके प्रति किसी प्रकार भी मनसे, वचनसे, कायसे तथा करने, कराने, अनुमोदनाके रूपमें मत करो।'

इस गुरुमंत्रके अनुकूल आचरण करनेवाला मनुष्य सच्चा धर्मात्मा एवं न्यायनिष्ठ होता है, वह पापोंसे अलिप्त रहकर दुःखोंसे सहज ही छुटकारा पा जाता है। अतः सुखार्थी और सुखान्वेषी मनुष्योंको चाहिए कि वे जब कोई भी काम करना चाहें या किसी काम करनेका विचार अपने मनमे लाएँ तब वे झटसे इस मंत्रका स्मरण कर लिया करें और इस बातपर गहरा विचार करें कि यदि वह कार्य, जिसको हम दूसरोंके प्रति करना चाहते हैं, दूसरे मनुष्य वैसी ही दशामे हमारे प्रति करें तो वह हमको इष्ट होगा या अनिष्ट—अच्छा लगेगा या बुरा। यदि वह कार्य अपनेको अनिष्ट (बुरा) प्रतीत होता हो तो हमको कदापि दूसरोंके साथ उसका आचरण अथवा व्यवहार नहीं करना चाहिए। जब दूसरोंकी बेईमानी, गाली आदि कुवचन और असद्व्यवहारसे हमारे चित्तको, दुःख

पहुँचता है तो हमको कब उचित है कि हम दूसरोंके साथ बेईमानी करें, उनको गाली आदि कुवचन कहें अथवा उनके साथ असद्व्यवहार करें ? यह मंत्र वैसा करनेको अनुचित बतलाता हुआ उसका निषेध करता है।

संसारमें कोई भी मनुष्य यह नहीं चाहता और न किसीको यह इष्ट है कि कोई दूसरा प्राणी उसको सतावे,दुःख देवे मारे या उसका वध करे,यह भी कोई नहीं चाहता कि दूसरा मानव उसके साथ झूठ बोले. मायाचार करे, छल-कपट रचे,उसको धोखा देवे, उसका माल चुरावे या अन्य किसी प्रकारसे उसको हानि पहुँचावे अथवा कोई नराधम उसकी बहू बेटी आदिको बहकावे, उनसे व्यभिचार करे या उनको कुदृष्टिसे देखे; न किसीको यह प्रिय तथा सुखकर मालूम होता है कि कोई उस पर क्रोध करे, उसका तिरस्कार या अपमान करे, उसकी निन्दा बुराई या चुगली करे, उसके साथ अभिमान करे, शत्रुता रक्खे, उससे अपना लोभ साधे, उसकी हँसी उडावे, उसको किसी प्रकारका भय दिखावे उसकी आजीविका बिगाडे अथवा कर्कश कठोर और मर्मविदारक निंद्य शब्द कहे, और न कोई मनुष्य इस बातको पसन्द करता अथवा अपने अप्रतिकूल समझता है कि दूसरा मनुष्य उसके साथ विश्वासघात या द्रोह करे, उसकी धरोहर या उधार (कर्ज) को न देवे,उसके चोरी गए हुए मालको खरीदे, उससे बढ़ती ले लेवे और उसको घटतो तोल देवे उसको अच्छा माल दिखा कर खोटा तथा मिलावटी माल देवे, उसके चलते तथा होते हुए काममें विघ्न कर देवे, उसकी धन-सम्पत्ति तथा पुत्र-कलत्रादिको देखकर जले अथवा उसके कुटुम्बादिका विघटन और विनाश चाहे।

यदि किसी मनुष्यको यह मालूम हो जाता है कि कोई दूसरा व्यक्ति उसके प्रतिकूल ऐसा कोई कार्य कर रहा है,उसके किसी कार्यमें बाधक है या किसी दूसरे मनुष्यसे उपर्युक्त कार्योंमें से कोई कार्य उसके प्रतिकूल करा रहा है या करनेकी प्रेरणा कर रहा है अथवा उसके

प्रतिकूल कोई कार्य होता हुआ देखकर खुश हो रहा है—आनन्द मना रहा है—तो उस मनुष्यको घोर मानसिक कष्ट एव दु.ख उत्पन्न होता है। और वह उस व्यक्तिको अपना हितशत्रु समझने लगता है, फलत परस्पर वैर-विरोध बढकर अनेकानेक अनर्थ पैदा हो जाते है। अतएव मनुष्योको चाहिए कि वे किसीभी प्राणीके साथ उपर्युक्त कार्यों-मेसे, जिन्हे वे अपने प्रतिकूल समझते है, किसी भी कार्यका आचरण, अनुष्ठान व्यवहार अथवा वर्ताव न करे।

ससारमे उपर्युक्त सब कार्य पाप-कार्य कहे जाते है और प्राय यही पाप-कार्य है भी। इन्ही पाप-कर्मोंकी वजहसे ससारमे अनेक प्रकारके दु ख और कष्ट उठाने पडते है। पाठकजन! जरा सोचिए, और समझिए यह कितना बडा अन्याय और अन्धेर है कि जिस कामको हम स्वय अपने लिए बुरा समझे उसका आचरण तथा व्यवहार दूसरेके लिए करे और हमारा हृदय कुछ भी कम्पायमान न हो! हम किस मुँहसे तब यह कह सकते है और कौनसे हृदयसे इस बातकी इच्छा कर सकते है कि अन्य प्राणी हमारे साथ नेकी करे, अच्छा व्यवहार करे और उपर्युक्त प्रकार बुराईसे न प्रवर्ते? क्या यह न्यायसगत हो सकता है कि हम दूसरोको दु ख देवे सतावे और फिर उनसे सुख मिलनेकी आशा रक्खे? कदापि नही। इसलिए हमको चाहिए कि हम इस गुरुमत्रका शरण ग्रहण करे और अपनी पूर्ण-शक्तिके अनुसार इस पर आचरण तथा अमल करे जिससे शीघ्र ही पापोसे बचकर उत्तम सुखोका अनुभव कर सके। जितने जितने अशोमे हम इस गुरुमत्र पर आचरण करेगे उतने उतने अशोमें हम पापोसे बच जाएँगे। हमारे आचार्योंने इस गुरुमत्रमे ऐसी खूबी रक्खी है कि इसपर आचरण करनेवालोको पापोके भेद-प्रभेदो और उनके लक्षणोको जानने तथा याद रखनेकी कोई विशेष आवश्यकता नही रहती, और इस गुरुमत्रके प्रचारसे सहज ही ससारभरमे सुख-शान्तिका प्रवाह फैल सकता है।

३

मिथ्या धारणा

आजकल भारतवर्षमे बहुतसे हिंसक तीव्र-कषायी और रौद्रपरिणामी मनुष्य भिरड, ततैये, बिच्छू, कानखजूरे तथा खटमल, पिस्सू, मच्छर आदि छोटे छोटे दीन जन्तुओको मारकर अपनी बहादुरी जतलाया करते है और भिरड-ततैयोके छत्तोमे आग लगाकर तीसमारखाँ बना करते है। जब उनसे कोई करुणहृदय व्यक्ति पूछता है कि आप ऐसा निर्दयताको लिये हुए हिंसक कार्य क्यो करते है ? तो वे बड़े दर्पके साथ, मुसलमान न होते हुए भी, उत्तरमे यह मुसलमानी सिद्धान्त सुना देते है —

"कतलुल मूजी कब्लुल ईजा"

अर्थात्—ईजा (दु ख) पहुँचानेसे पहले ही मूज़ी (दु ख देनेवाले)-को मार डालना चाहिये। परन्तु वे कभी इस बातका विचार भी नही करते कि जब भिरड, ततैये आदिक थोडीसी पीड़ा पहुँचाने ही के कारण मूजी और बधयोग्य है तो फिर हम जो कि उनको जानसे ही मार डालते है और उन जन्तुओंका गाँवका गाँव (छत्ता) भस्म कर देते है उनसे कितने दर्जे अधिक मूज़ी और बधयोग्य ठहरते है ॥

वास्तवमे विचार किया जाय तो यह सब उनकी मिथ्या धारणा है
वे उक्त सिद्धान्तका बिल्कुल दुरुपयोग कर रहे है और उन्होने उ
आशयको कुछ भी नही समझा है। उन्हे न तो मूज़ीकी खबर है

न ईजाकी। यदि इस सिद्धान्तका वही आशय लिया जाय जैसा कि वे समझ रहे है और तदनुकूल प्रवर्त रहे है—अर्थात् यह कि जो कोई प्राणी किसी दूसरे प्राणीको थोडासा भी दु ख देनेवाला हो तो वह मूजी है, उसको मार डालना चाहिये—तो ऐसी हालतमे मनुष्य सबसे पहले मूजी और वधयोग्य ठहरते है, क्योंकि ये बहुतसे निरपराधी जीवोको सताते और प्राण-दड देते है। परन्तु यह किसी को इष्ट नही। अत. इस सिद्धान्तका साफ आशय और असल प्रयोजन यह है कि मनुष्योको अपने नफ्सको मारना चाहिए—अपनी पांचो इंद्रियो(हवासेखमसा.-को वशमे करना चाहिए। ये ही मूजी है, इन्हीके कारण इस आत्मा-को नाना प्रकारके जन्म-जरा-मरण रोग-वियोग तथा नरक निगोदा-दिकके दु ख और कष्ट उठाने पडते है, इन्हींके प्रसादसे आत्माके साथ कर्म-बन्धन होकर उसके गुणोका घात होता है, जिससे अधिक आत्माके लिए और कोई ईजा (दु ख-परम्परा) नही हो सकती है और न इनसे अधिक आत्माके लिए और कोई मूजी हो सकता है। इन इंद्रियोका निग्रह करने और इनकी विषय-वासनाको रोकने तथा राग-द्वेषरूप परिणतिको हटानेसे ही इस आत्माके दु.खकी निवृत्ति होकर उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। नीति-कारोने बहुत ठीक कहा है :—

> आपदां कथित' पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
> तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

अर्थात्—मुसीबत और दुःखोके आनेका एकमात्र मार्ग इन्द्रियो-का असंयम—इनका वशमे न करना—है और उनको जीतकर अपने वशमे करना ही सुखोका एक मात्र मार्ग है। अत जो मार्ग इष्ट हो-उसपर चलना चाहिये। सुख चाहते हो तो इन्द्रियोको अपने आधीन करो। दु ख चाहते हो तो खुद इन्द्रियोंके आधीन हो जाओ।

कवि 'जौक' ने भी नफ्स को बडा मूजी करार देते हुए उसीको मारनेकी प्रेरणाकी है –

किसी बेकसको ऐ बेदादगर! मारा तो क्या मारा?
जो खुद ही मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा?
न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर! मारा तो क्या मारा?
बड़े मूजीको मारा नफ्से अम्माराको गर मारा।
नहगो अजदहाओं शेरेनर मारा तो क्या मारा?

दूसरा आशय इस सिद्धान्तका यह भी निकाला जासकता है कि जब तक ज्ञानावरणीय आदिक कर्म, जो आत्माके परम शत्रु हैं और इस आत्माको ससारमे परिभ्रमण कराकर नाना प्रकारके कष्ट देते हैं, उदयमे आकर इस आत्माको दु ख और कष्ट देवे अथवा ईज़ा पहुँचावे उससे पहले ही हमको तप-सयमादिरूप धर्माचरणके द्वारा उनको मार डालना चाहिए–उनकी निर्जरा कर देनी चाहिए–जिससे वे हमको ईजा (दु ख) न पहुँचा सके। इन दोनो आशयोंके अतिरिक्त उपर्युक्त सिद्धान्तका यह आशय कदापि नही हो सकता है कि किसी प्राणधारीका वध किया जावे। ऐसा आशय करनेसे दयाधर्मके सिद्धान्तमे विरोध आता है। वह सिद्धान्त तब अधर्ममयी हो जानेसे सर्वथा हेय ठहरता है और किसी भी दयाधर्मके माननेवालेको उस पर आचरण नही करना चाहिए। यह कैसी खुदगर्जी और अन्याय है कि जिस बातको हम अपने प्रतिकूल समझें या जिसे हम अपने लिए पसन्द न करे उसका आचरण दूसरोके प्रति करे।

इसीसे एक फार्सी कविने भी कहा है—"आंचे बर खुद न पसन्दी बर दीगरां मपसन्द"। अर्थात् जिस (व्यवहार) को तू अपने ऊपर पसन्द नही करता उसे दूसरो के ऊपर पसन्द मत कर।

४

महाजनी मंत्र

महाजनी हिन्दीमें सबसे प्रथम जो अक्षर पढाए जाते हैं उनका उच्चारण क्रमशः इस प्रकार कराया जाता है —

"रा, मे, मे, तै, मृ, रे, सै, ती ओ, ना, मा, सी, ध।"

प्रायः सब लोग इसको वर्णमाला समझते हैं और इसीसे इसका इस प्रकार पृथक्-पृथक् उच्चारण करते है,परन्तु वस्तुतः विचार करनेसे मालूम होता है कि यह वर्णमाला नही है, क्योंकि वर्णमाला इसके पश्चात् जब पृथक रूपसे पढाई जाती है और उपर्युक्त सब अक्षर उसमें आते है तब इसको वर्णमाला कैसे माना जा सकता है ? दूसरे इसी वर्ण-समूहमे कई अक्षर—जैसे रकार, मकार, सकार और तकार—कई कई वार आए है यदि यह वर्णमाला होती तो एक अक्षरके कई-कई वार आनेकी क्या आवश्यकता थी ? इससे साफ तौर पर सिद्ध होता है कि यह अक्षर-समूह वर्णमाला नही है, बल्कि कुछ और ही वस्तु है और वह है देव-गुरु-शास्त्रके स्मरणस्वरूप और सिद्धोंको नमस्कार रूप एक मंत्र या मंगलाचरण, जो सबसे पहले मंगलके लिए बालकोंको पढाया जाता था और उसका उच्चारण इस प्रकार होना था तथा होना चाहिए —

"राम मन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं।"

परन्तु अफसोस है कि आजकल उसके उच्चारणको ऐसा बिगा-

दिया गया है और इस उच्चारणकी ऐसी प्रवल रूढि पड गई है कि किसीको इसके मत्र या मगलाचरण होनेका स्वप्नमे भी ध्यान नही आता और विचारे वालक इस कल्याणकारी मत्र तथा मगलपाठसे वचित रक्खे जाते है।

इस अशुद्ध उच्चारणके कारणो पर जहाँ तक विचार किया जाता है तो मुख्यत दो कारण सामने आते है। एक तो यह कि इस महाजनी हिन्दीमे मात्राएँ नही होती, जिससे एक अक्षरका उच्चारण अनेक प्रकार हो जाता है। जैसे कि उक्त अक्षर-समूहमे रकारका उच्चारण एक स्थान पर 'रा' और दूसरे स्थान पर 'रे' किया जाता है, इसी तरह सकारका उच्चारण 'से' 'सू' 'सी' के रूपमे तीन प्रकार और मकारका उच्चारण 'मै' तथा 'मा' के रूपमे दो प्रकार किया जाता है। सारांश यह कि इस लिपिमे चाहे किसी अक्षरको किसी मात्राके साथ पढलो, चाहे बिना मात्राके। इसी लिये इस महाजनी हिन्दीको 'गन्दी' कहते हैं, जिसकी अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित है ❀।

दूसरा कारण यह जान पडता है कि इस महाजनीको पढ़ाने वाले प्राय अविद्वान् पाधा लोग होते है। वे विचारे इस बातको कहाँ पहुँच सकते है कि यह कोई मत्र अथवा मंगलाचरण है। वे तो प्राय. यह भी नही जानते कि राम, सन्त और सरस्वती किसको कहते हैं और सिद्ध किसका नाम है। फिर वे बालकोंसे किस प्रकार ऐसा शुद्ध उच्चारण करा सकते है ? इसीसे यह उपर्युक्त प्रकार से पृथक् पृथक् अक्षरोके उच्चारणकी रुढि पड गई है।

❀ एक लोकोक्ति यह भी प्रसिद्ध है कि किसी मुनीमने लालाजीके अजमेर जानेकी सूचना और वडी वहीकी आवश्यकता होने पर उसके भेजनेकी प्रेरणा करते हुए जा लिखा था कि "लालाजी अजमेर गये वडी वहीको भेज दो" वह "लालाजी आज मर गये वडी वहूको भेज दो" के रूपमे पढा गया, और ऐसा पढते ही वहाँ हाहाकार मच गया।

अत हमारे भाईयोको चाहिये कि वे इस खराब रूढिको दूर करनेका शीघ्र प्रयत्न करे, जिससे प्रारभमे ही बालकोको मंगलमय मागलिक शब्दोके उच्चारणका अवसर मिले और उनमे अच्छे सस्कार पडे। इसके लिये पाठशालाओमे जो पाधा लोग पढाते हो उन्हे समझाकर हिदायत कर देनी चाहिये कि वे आगामी बालकोको प्रारम्भमे 'राम सन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं' ऐसा मगलमय शुद्ध पाठ पढाया करे।

५

उपवास

उपवास एक प्रकारका तप और व्रत होनेसे धर्मका अग है। विधि-पूर्वक उपवास करनेसे पाचो इन्द्रियाँ और वन्दरके समान चंचल मन ये सब वशमे हो जाते है, साथ ही पूर्व कर्मोकी निर्जरा होती है। ससारमे जो कुछ दु ख और कष्ट उठाने पडते है वे प्राय. इन्द्रियोकी गुलामी और मनको वशमे न करनेके कारणसे ही उठाने पडते है। जिस मनुष्यने अपनी इन्द्रियो और मनको जीत लिया उसने जगत जीत लिया, वह धर्मात्मा है और सच्चा सुख उसीको मिलता है। इसलिये सुखार्थी मनुष्योका उपवास करना प्रमुख कर्त्तव्य है। इतिहासो और पुराणोके देखनेसे मालूम होता है कि पूर्व कालमे इस भारत-भूमि पर उपवासका बड़ा प्रचार था। कितने ही मनुष्य कई-कई दिनका ही नही, कई-कई सप्ताह, पक्ष तथा मास तकका भी उपवास किया करते थे। वे इस बातको भली प्रकार समझे हुए थे और उन्हे यह दृढ विश्वास था कि –

"कर्मेन्धनं यदज्ञानात् संचितं जन्म-कानने।
उपवास-शिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात्॥"

"उपवास-फलेन भजन्ति नरा भुवनत्रय-जात-महाविभवान्।
खलु कर्म-मल-प्रलयादचिरादजराऽमर-केवल-सिद्ध-सुखम्॥"

'संसाररूपी वनमे अज्ञानभावसे जो कुछ कर्मरूपी-ईंधन संचित होता है उसको उपवासरूपी अग्नि क्षणमात्रमे भस्म कर देती है।'

'उपवासके फलसे मनुष्य तीन लोककी महा विभवको प्राप्त होते है और कर्ममलका नाश हो जानेसे शीघ्र ही अजर अमर केवल सिद्ध-सुखका अनुभव करते है।'

इसीसे वे (पूर्वकालीन मनुष्य) प्राय धीरवीर, सहनशील, मनस्वी, तेजस्वी उद्योगी, साहसी, नीरोगी, दृढसंकल्पी, बलवान्, विद्यावान्. और सुखी होते थे, जिस कार्यको करना विचारते थे उसको करके छोडते थे। परन्तु आज वह स्थिति नही है। आजकल उपवासकी बिलकुल मिट्टी पलीद है—प्रथम तो उपवास करते ही बहुत कम लोग है और जो करते है उन्होने प्राय. भूखे मरनेका नाम उपवास समझ रक्खा है। इसीसे वे कुछ भी धर्म-कर्म न कर उपवासका दिन योही आकुलता और कष्टसे व्यतीत करते है—गर्मीके मारे कोई कोई बार नहाते है, मुख धोते है. मुख पर पानीके छींटे देते है, ठंडे पानीमे कपडा भिगो कर छाती आदि पर रखते है; कोई कोई प्यास कम करनेके लिये कुल्ला तक भी कर लेते है और किसी प्रकारसे यह दिन पूरा होजावे तथा विशेष भूख-प्यासकी बाधा मालूम न होवे इस अभिप्रायसे खूब सोते है, चौसर-गंजिफा आदि खेल खेलते है अथवा कभी कभी का पडा गिरा कोई ऐसा गृहस्थीका धंधा या आरम्भका काम ले बैठते है जिसमे लगकर दिन जाता हुआ मालूम न पडे। गरज ज्यो त्यो करके अनादरके साथ उपवासके दिनको पूरा कर देते है, न विषय-कषाय छोडते है और न कोई खास धर्माचरण ही करते है। पर इतना जरूर है कि भोजन बिलकुल नही करते. भोजन न करनेको ही उपवास या व्रत समझते है और इसीसे धर्मलाभ होना मानते है। सोचनेकी बात है कि यदि भूखे मरनेका ही नाम उपवास या व्रत हो तो भारतवर्षमें हजारो मनुष्य ऐसे है जिनको कई कई दिनतक भोजन नही मिलता है, वे सब ही व्रती और धर्मात्मा ठहर.

परन्तु ऐसा नही है। हमारे आचार्योंने उपवासका लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है :—

कषाय-विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥

अर्थात्—जिसमे कषाय, विषय और आहार इन तीनोका त्याग किया जाता है उसको उपवास समझना चाहिये, शेष जिसमे कषाय और विषयका त्याग न होकर केवल आहारका ही त्याग किया जावे उसको लघन (भूखा मरना) कहते है।

श्री अमितगति आचार्य इस विषयमे ऐसा लिखते है—

त्यक्त-भोगोपभोगस्य, सर्वारम्भ-विमोचिनः ।
चतुर्विधाऽशनत्याग उपवासो मतो जिनै ॥

अर्थात्—जिसने इन्द्रियोके विषयभोग और उपभोगको त्याग दिया है और जो समस्त प्रकारके आरम्भसे रहित है उसीके जिनेन्द्रदेवने चार प्रकारके आहार-त्यागको उपवास कहा है। अत इन्द्रियोके विषयभोग और आरम्भके त्याग किये बिना चार प्रकारके आहारका त्यागना उपवास नही कहलाता।

स्वामी समन्तभद्राचार्यकी उपवासके विषयमे ऐसी आज्ञा है—

पचानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गध-पुष्पाणाम् ।
स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१॥
धर्मामृत सतृष्ण श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञान ध्यान-परो वा भवतूपवसन्न तन्द्रालु ॥२॥

'उपवासके दिन पाँचो पापो हिसा,झूठ,चोरी,मैथुन और परिग्रह-का, शृ गारादिक रूपमे शरीरकी सजावटका, आरम्भोका, चन्दन इत्र फुलेल आदि गध द्रव्योके लेपन का, पुष्पोके सू घने तथा माला आदि धारण करनेका, स्नानका, आँखोमे अजन (सुरमा) लगानेका और नाकमे दवाई डालकर नस्य लेने [तथा तमाखू आदि सूँघनेका, त्याग करना चाहिये।'

'उपवास करने वालेको उस दिन निद्रा तथा आलस्यको छोड कर अति अनुरागके साथ कानो द्वारा धर्मामृतको स्वय पीना तथा दूसरोको पिलाना चाहिये और साथ ही ज्ञान तथा ध्यानके आराधनमे तत्पर रहना चाहिए।'

इस प्रकार उपवासके लक्षण और स्वरूप-कथनसे यह साफतौर पर प्रकट है कि केवल भूखे मरनेका नाम उपवास नही है, किन्तु विषय-कषायका त्याग करके इन्द्रियोको वशमे करने, पच पापो तथा आरम्भको छोडने और शरीरादिकसे ममत्व परिणामको हटाकर प्राय एकान्त स्थानमे धर्मध्यानके साथ कालको व्यतीत करनेका नाम उपवास है और इसीसे उपवास धर्मका एक अग तथा सुखका प्रधान कारण है।

जो लोग (पुरुष हो या स्त्री) उपवासके दिन झूठ बोलते है, चोरी करते है, मैथुन सेवन करते हैं या अपने घर-गृहस्थीके धधोंमे लगे रहकर अनेक प्रकारके सावद्यकर्म (हिंसाके काम) एव छल-कपट करते है, मुकदमे लडाते और परस्पर लडकर खून बहाते हैं तथा अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर शरीरका शृंगार करते हैं, सोते हैं, ताश, चौपड तथा गंजिफा आदि खेल खेलते हैं, हुक्का पीते या तमाखू आदि सूघते है और स्वाध्याय, सामायिक, पूजन, भजन आदि कुछ भी धर्म कर्म न करके अनादर तथा आकुलताके साथ उस दिनको पूरा करते है वे कैसे उपवासके धारक कहे जा सकते हैं और उनको कैसे उपवासका फल प्राप्त हो सकता है ? सच पूछिये तो ऐसे मनुष्योका उपवास उपवास नहीं है किन्तु उपहास है। ऐसे मनुष्य अपनी तथा धर्म दोनोकी हँसी और निन्दा कराते हैं, उन्हें उपवाससे प्राय कुछ भी धर्म-लाभ नही होता। उपवासके दिन पापाचरण करने तथा सक्लेशरूप परिणाम रखनेसे तीव्र पाप बधकी स भावना अवश्य है।

हमारे लिये यह कितनी लज्जा और शरम की बात है कि हमे

पदको धारण करके नीची क्रिया करे अथवा उपवासका कुछ भी कार्य न करके अपने आपको उपवासी और व्रती मान बैठें !

इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाँचो इन्द्रियाँ और मन शीघ्र ही वशमें हो जाते हैं और इनके वशमे होते ही उन्मार्ग-गमन रुककर धर्म-साधनका अवसर मिलता है। साथ ही उद्यम, साहस, पौरुष, धैर्य आदि सद्गुण इस मनुष्यमे जाग्रत हो उठते है और यह मनुष्य पापोसे बचकर सुखके मार्गमे लग जाता है। परन्तु जो लोग विधिपूर्वक उपवास नही करते उनको कदापि उपवासके फलकी यथेष्ट प्राप्ति नही हो सकती। उनका उपवास केवल एक प्रकारका कायक्लेश है,जो भावशून्य होनेसे कुछ फलदायक नही, क्योकि कोई भी क्रिया विना भावोंके फलदायक नही होती ('यस्मात् क्रिया. प्रतिफलन्ति न भाव शून्या:')। अतएव उपवासके इच्छुकोको चाहिए कि वे उपवासके आशय और महत्वको अच्छी तरहसे समझलें, वर्तमान विरुद्धाचरणोंको त्याग करके श्रीआचार्योकी आज्ञानुकूल प्रवर्ते और कमसे कम प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशीको (जो पर्वके दिन है) अवश्य ही विधिपूर्वक तथा भावसहित उपवास किया करे। साथ ही इस वातचो अपने हृदयमे जमा लेवें कि उपवासके दिन अथवा उपवासकी अवधि तक व्रतीको कोई भी गृहस्थीका धधा वा शरीरका शृ गारादि नही करना चाहिए। उस दिन समस्त गृहस्थारभको त्याग करके पच पापोंसे विरक्त होकर अपने शरीरादिकसे ममत्व-परिणाम तथा रागभावको घटाकर और अपने पाचो इन्द्रियोंके विपयो तथा क्रोध, मान, मायादि कषायोको वशमे करके एकान्त स्थान अथवा श्रीजिनमन्दिर आदिमे वैठकर शास्त्रस्वाध्याय, शास्त्रश्रवण, सामायिक, पूजन-भजन आदि धर्मकार्योमे कालको व्यतीत करना चाहिए। निद्रा कम लेनी चाहिए, आर्त-रौद्रपरिणामोको अपने पास नही आने देना चाहिए, हर समय प्रसन्न-वदन रहना चाहिए और इस वातको याद रखना चाहिए कि शास्त्र-स्वाध्यायादि जो कुछ भी धर्मके कार्य

किये जावें वे सब रुचिपूर्वक और भावसहित होने चाहिये। कोई भी धर्मकार्य बेदिली, जाब्तापूरी या अनादरके साथ नही करना चाहिये और न इस बातका खयाल तक ही आना चाहिए कि किसी प्रकारसे यह दिन शीघ्र ही पूरा हो जावे, क्योंकि बिना भावोंके सर्व धर्म-कार्य निरर्थक है। जैसा कि आचार्योंने कहा है :—

भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ॥

'जो मनुष्य बिना भावके पूजादिक, तप, दान और जपादिक करता है अथवा दीक्षादि ग्रहण करता है उसके वे सब कार्य बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंके समान निरर्थक है।'

अर्थात्—जिस प्रकार बकरीके गलेके स्तन निरर्थक है, उनसे दूध नही निकलता, वे केवल देखने मात्रके स्तन है, उस ही प्रकार बिना तदनुकूल भाव और परिणामके पूजन, तप, दान उपवासादि समस्त धार्मिक कार्य केवल क्रियाबाह्यमात्र है—उनसे कुछ भी धर्म-फलकी सिद्धि अथवा प्राप्ति नही होती।

६

हमारी यह दुर्दशा क्यों ?

एक समय था जव यह भारतवर्ष अपने उत्कर्ष पर था, अन्य देशोका गुरु वना हुआ था, सव प्रकारसे समृद्ध था और स्वर्गके समान समझा जाता था । यहाँ पर हजारो वर्ष पहलेसे आकाशगामिनी विद्याके जानकार, दिव्य विमानो-द्वारा आकाशमार्गको अवगाहन करनेवाले, वैक्रियक आदि ऋद्धियोंके धारक और अपने आत्मवलसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालोंका हाल प्रत्यक्ष जाननेवाले विद्यमान थे । भारतकी कीर्ति-लता दशो दिशाओमे व्याप्त थी । उसका विज्ञान, कला-कौशल और आत्मज्ञान अन्य समस्त देशोंके लिये अनुकरणीय था। उसमे जिधर देखो उधर प्राय. ऐसे ही मनुष्योका सद्भाव पाया जाता था जो जन्मसे ही दृढाङ्ग, निरोगी और बलाढ्य थे, स्वभावसे ही जो तेजस्वी, मनस्वी और पराक्रमी थे, रूप और लावण्यमे जो स्वर्गों-के देव-देवाङ्गनाओंसे स्पर्धा करते थे, सर्वाङ्ग सुन्दर और सुकुमार शरीर होनेपर भी वीररससे जिनका अङ्ग-अङ्ग फडकता था, जिनकी वीरता धीरता और दृढ प्रतिज्ञताकी देव भी प्रशसा किया करते थे, जो कायरता, भीरुता और आलस्यको घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे, आत्मवलसे जिनका चेहरा दमकता था, उत्साह जिनके रोम-रोमसे स्फुरायमान था, चिन्ताओमे जो अपना आत्म-समर्पण करना नही जानते थे, जन्मभरमे शायद कभी जिनको रोगका दर्शन होता हो,

जो सदैव अपने धर्म-कर्ममे तत्पर और पापोसे भयभीत थे, जिनको पद-पद पर सच्चे साधुओका सत्सङ्ग और सदुपदेश प्राप्त था; जो तनिकसा निमित्त पाकर एकदम समस्त सासारिक प्रपंचोको त्यागकर वनोवासको अपना लेते थे और आत्मध्यानमे ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि अनेक उपसर्ग तथा परीषहोके आने पर भी चलायमान नही होते थे, जो अपने हित-अहितका विचार करनेमे चतुर तथा कला-विज्ञानमे प्रवीण थे और जो एक दूसरेका उपकार करते हुए परस्पर प्रीति-पूर्वक रहा करते थे।

परन्तु खेद ! आज भारत वह भारत नही है । आज भारतवर्ष-का मुख समुज्ज्वल होनेके स्थानमे मलिन तथा नीचा है ! आज वही भारत परतन्त्रताकी बेडियोंमे जकडा हुआ है और दूसरोका मुह ताकता है ! आज भारतका वह समस्त विज्ञान और वैभव स्वप्नका साम्राज्य दिखाई पडता है ! और आज उसी भारतवर्षमे हमारे चारो तरफ प्राय. ऐसे ही मनुष्योकी सृष्टि नजर आती है जिनके चेहरे पीले पड गये है, १२-१३ वर्षकी अवस्थासे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये हैं, जिनकी आंखें और गाल बैठ गये हैं, मुहपर जिनके हवाई उडती हैं, होठोपर हरदम जिनके खुश्की रहती है, थोडासा बोलनेपर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है हाथ और पैरोके तलुओसे जिनके अग्नि निकलती है, जिनके पैरोंमें जान नही और घुटनोमे दम नही, जो लाठीके सहारेसे चलते है और ऐनकके सहारेसे देखते हैं, जिनके कभी पेटमें दर्द है तो कभी सिरमें चक्कर, कभी जिनका कान भारी है तो कभी नाक, आलस्य जिनको दबाये रहता है, साहस जिनके पास नही फटकता, वीरता जिनको स्वप्नमें भी दर्शन नही देती, जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते है, जिनका तेज नष्ट हो गया है, जो इन्द्रियोकी विजय नही जानते, विषय-सेवनके लिये जो अत्यंत आतुर रहते है परन्तु बहुत कुछ रति-प्रसंग करने पर भी संयोग-सुखका वास्तविक आनन्द जिनको प्राप्त

नही होता, प्रमेहसे जिनका शरीर जर्जर है; इश्तहारी दवाओंकी परीक्षा करते करते जिनका चित्त घबरा उठा है, हकीमों, वैद्यो और डाक्टरोकी दवाई खाते खाते जिनका पेट अस्पताल और औषधालय बन गया है, परन्तु फिरभी जिनको चैन नही पडता; जिनके विचार शिथिल है, जो अपने आत्माको नही पहचानते और अपना हित नही जानते, स्वार्थने जिनको अन्धा बना रक्खा है, परस्परके ईर्षा और द्वेषने जिनको पागल बना दिया है, विज्ञानसे जिनको डर लगता है, पापमयी जिनकी प्रवृत्ति है और चिन्तारूपी ज्वालाओंसे जिनका अन्त करण दग्ध रहता है !!!

इसीसे आजकल हमारे अधिकाश भारतवासियोके हृदयोमे प्राय. इस प्रकारके प्रश्न उठा करते है और कभी कभी अपने इष्ट मित्रादिकोंसे वे इस प्रकारका रोना भी रोया करते है कि—हमारी शारीरिक अवस्था ठीक क्यो नही ? हमारा दिल, दिमाग तथा जिगर (यकृत-Liver) ठीक काम क्यो नही करता ? हमारे नेत्रोकी ज्योति कैसे मन्द है ? कानोंसे हमको कम क्यो सुनाई देता है ? तनिकसा परिश्रम करनेपर हमारे सिरमे चक्कर क्यो आने लगता है ? हम क्यो घुटनो पर हाथ धरकर उठते और बैठते है ? थोडीसी दूर चलने या जरासी मेहनतका काम करनेपर हम क्यों हाँपने लगते है ? हमारा उदर भोजनका पाक ठीक तौरसे क्यो नही करता ? क्यो हमेशा कब्ज (Constipation) और बदहजमी (अजीर्णता-Dyspepsia) हमको सताती रहती है ? क्यो चूरन व गोली वगैरहका फिकर हरदम हमारे सिर पर सवार रहता है ? हमारा हृदयस्थल व्यर्थकी चिन्ताओ और झूठे सकल्प-विकल्पोकी रङ्गभूमि क्यो बना रहता है ? क्यो अनेक प्रकारके रोगोने हमारे शरीरमे अड्डा जमा रक्खा है ? हमारा स्वास्थ्य ठीक क्यो नही हो पाता ? किसी कार्यका आरम्भ करते हुए हमे डर क्यो लगता है ? कार्यका आरम्भ कर देने पर भी हम क्यो निष्कारण उसे चटसे छोड बैठते है ? हममे हिम्मत, उत्साह और

कार्य-पटुताका सचार क्यो नही होता ? क्यो हमारे हृदयमे धार्मिक विचारोकी सृष्टि उठती जाती है ? हम विषयोके दास क्यों बनते जाते है? क्यो हम अपने पूर्वज-ऋषि मुनियोकी तरह आत्मध्यान करनेमे समर्थ नही होते ? क्यो अपने प्राचीन गौरवको भुलाये जाते है ? और क्यो हम स्वार्थत्यागी बनकर परोपकारकी ओर दत्त-चित्त नही होते ? इत्यादि।

परन्तु इन सब प्रश्नो अथवा 'हमारी यह दुर्दशा क्यो?' इस केवल एक ही प्रश्नका वास्तविक और सतोषजनक उत्तर जब उनको प्राप्त नही होता अथवा यो कहिये कि जब इन दुर्दशाओसे छुटकारा पानेका सम्यक् उपाय उन्हे सूझ नही पडता तो वे बहुत ही खेदखिन्न होते है—कभी कभी वे निराश होकर अपने नि सार जीवनको धिक्कारते है, अपने आपको दोष देने लगते है और कोई कोई हत-भाग्य तो यहाँ तक हताश हो बैठते हैं कि उनको मरणके सिवाय और कोई शरण ही नजर नही आता, और इसलिए वे अपना अपघात तक कर डालते है। बहुतसे मनुष्य विपरीत श्रद्धामे पडकर बारहो महीने दवा खाते खाते अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देते है। उनके मनोरथका पूरा होना तो दूर रहा, उनको प्रकट होने तकका अवसर नही मिलता। वे उठ उठकर हृदयके हृदयमे ही विलीन हो जाते है। मरते समय उन असिद्ध मनोरथोकी याद (स्मृति) उन्हे कैसा बेचैन करती होगी और अपने मनुष्य-जन्मके व्यर्थ खोजानेका उनको उस वक्त कितना अफसोस तथा पश्चात्ताप होता होगा इसका अन्दाजा सहृदय पाठक स्वय कर सकते है।

ऊपरके इस वर्णन एव चित्रणपरसे पाठक इतना तो सहजमे ही जान सकते है कि हमारे भारतवासी आजकल कैसी कैसी दुरवस्थाओमे गिरे हुए है—प्रमाद और अज्ञानने उनको कैसा नष्ट किया है। वास्तवमे यदि विचार किया जाय तो इन समस्त दुखो और दुर-वस्थाओका कारण शारीरिक निर्बलता है। निर्बल शरीरपर सहजमे ही

रोगोका आक्रमण हो जाता है, निर्बलता समस्त रोगोकी जड मानी गई है—'एक कमजोरी हजार बीमारी' की कहावत प्रसिद्ध है। जब हमारा शरीर कमजोर है तो हमारे विचार कदापि दृढ नही हो सकते, जब हमारे विचार दृढ नही होगे तो हम कोई भी काम पूर्ण सफलता के साथ सम्पादन नही करसकेगे,हमारा चित्त हरवक्त डावाँडोल रहेगा तथा व्यर्थकी चिन्ताओका नाम्यघर बना रहेगा और इन व्यर्थकी चिन्ताओका नतीजा यह होगा कि हमारा कमजोर दिमाग और भी कमजोर होकर हमारी विचारशक्ति नष्ट हो जावेगी और तब हम हित-अहितका सम्यग्विचार करनेकी योग्यताके न रहनेसे यद्वा तद्वा प्रवृत्ति कर अपना सर्वनाश कर डालेगे।

यही कारण है कि प्राचीन ऋषियोने शारीरिक बलको बहुत मुख्य माना है। उन्होंने लिखा है कि जिस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है वह उत्तम ध्यान उसी मनुष्यके हो सकता है जिसका संहनन उत्तम हो—अर्थात् जिसका शरीर खास तौरसे (निर्दिष्ट प्रकारसे) मजबूत और वज्रका बना हुआ हो। इसी लिये उन्होने इस शारीरिक बलकी रक्षाके लिये मुख्यतासे ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया है और सबसे पहला—अर्थात् गृहस्थाश्रमसे भी पूर्वका—आश्रम 'ब्रह्मचर्याश्रम' कायम किया है। साथ ही वैद्यक शास्त्रके नियमोको पालन करनेका आदेश भी दिया है, और इन नियमोको इतना उपयोगी तथा जरूरी समझा है कि उनको धार्मिक नियमोमे गर्भित कर दिया है, जिससे मनुष्य-उन्हे धर्म और पुण्यका काम समझकर ही पालन करे। वास्तवमे महर्षियोका यह काम बडी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्तासे सम्बन्ध रखता है। वे अच्छी तरहसे जानते थे कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' 'धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीर साधन परम्'—अर्थात् धर्म-साधनका ही नही किन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे चारो ही पुरुषार्थोके साधनका सबसे प्रथम और मुख्य कारण शरीर है। शरीरके स्वस्थ और बलाढ्य हुए बिना किसी भी पुरुषार्थका साधन

नही बन सकता और पुरुषार्थका साधन किये बिना मनुष्यका जन्म बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तनो (थनो)के समान निरर्थक है। ऐसी स्थितिमे जो मनुष्य अपने शरीरकी रक्षाके लिये उक्त नियमोका पालन करता है वह वास्तवमे धर्मका कार्य करता है और उससे अवश्य उसको पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है। हम लोगोने ऋषियोके वाक्योका महत्व नही समझा और न यह जाना कि शरीरका बली-निर्बली तथा स्वस्थ-अस्वस्थ होना प्राय सब आहार-विहार पर निर्भर है और आहार-विहार-सम्बन्धी जितनी चर्या है वह सब प्रायः वैद्यकशास्त्रके आधीन है। इसीलिये हम अपने आपको सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रममे नही रखते है—एक खास अवस्था तक ब्रह्मचर्यका पालन नही करते है—बल्कि उसका निर्मूल करनेके लिये यहाँ तक उद्यत रहते है कि छोटीसी अवस्थामे ही बच्चोका विवाह कर देते है! यही कारण है कि हम योग्य आहार-विहार करना नही जानते, और यदि जानते भी हैं तो प्रमाद या लापर्वाहीसे उसके अनुसार प्रवर्तन नही करते।

उदाहरणके तौर पर, बहुतसे मनुष्य इस बातको तो जानते है कि यदि हम कोई हाडी चूल्हे पर चढावे और उसमे थोडेसे चावल पकानेके लिये डाल देवे, और फिर थोडीसी देरके बाद उसमें और कच्चे चावल डाल देवे, उससे पीछे गेहूँ डाल देवे, उससे कुछ काल पश्चात् कच्चे चने डाल देवें, और उस सेभी कुछ समय बाद फिर कच्चे चावल या और कोई वस्तु डाल देवे और उनमेसे किसीका भी पाक पूरा होनेका अवसर न आने देकर दूसरी दूसरी वस्तु उसमे डालते रहें तो कदापि उस हाडीका पाक ठीक तथा कार्यकारी न होगा। परन्तु यह जानते हुए भी खाने-पीनेके अवसरो पर कुछ ध्यान नही रखते—जो वस्तु जिस समय मिल जाती है उसको उसी समय चट कर जाते हैं—इस बातका कुछ विचार नही करते कि पहलेका खाया हुआ भोजन हजम हो चुका है या कि नही? परिणाम जिसका

यह होता है कि खाया-पीया कुछ भी शरीरको नही लगता और अनेक प्रकारके अजीर्णादि रोग उत्पन्न हो जाते है, जो कभी कभी बड़ी भयंकरता धारण कर लेते हैं और प्राण ही लेकर छोडते हैं। अंग्रेज लोग प्राय नियमपूर्वक ठीक और नियत समयपर भोजन करते है, अपने डाक्टरोकी आज्ञाको वडे आदरके साथ शिरोधार्य करते है और वडे यत्नके साथ स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोका पालन करते है, यही वजह है कि उनको रोग वहुत कम सताते हैं और वे प्राय हृष्ट पुष्ट तथा वलिष्ठ बने रहते है। हम लोगोने वैद्यकशास्त्रमे निष्णात वाग्भट्ट जैसे वैद्यराजोंके वाक्योकी अवज्ञा की—न उनको पढा और न तदनुसार आचरण किया—और स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण की। उसीका यह फल हुआ कि भारतवर्षमे निर्वलताने अपना अड्डा जमा लिया और हम दिन पर दिन निर्वल तथा निस्तेज होकर प्राय किसी भी कार्य करनेके योग्य न रहे।

हमारी इस निर्बलताके सक्षेपसे चार कारण कहे जा सकते है .— पहला पैतृक निर्वलता अर्थात् माता और पिताके शरीरका निर्वल होना, दूसरा स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण करना, तीसरा वाल्यावस्थामे अनेक खोटे मार्गोंसे कच्चे वीर्यका स्खलित होना,और चौथा अच्छी खुराक (Food भोज्य) का न मिलना। इन कारणोंमे यद्यपि पहला कारण, जिसकी उत्पत्ति भी अन्य तीन कारणोंसे ही है, हमारे आधीन नही है—अर्थात् माता-पिताकी शारीरिक निर्वलतामे उनकी भावी सन्तान कुछ भी फेर-फार नही कर सकती, उनके शरीर मे उसका असर अवश्य आता है, परन्तु इससे हमारी प्राय कुछ हानि नही हो सकती यदि हम अन्य तीन कारणोको अपने पास फटकने न देवे और विधिपूर्वक अच्छे पौष्टिक पदार्थोंका वरावर सेवन करते रहें। ऐसा करनेसे हमारी जन्मसे प्राप्त हुई सव निर्वलता नष्ट हो जावेगी, और हम आगामीके लिये अपनी सन्तानको इस प्रथम कारण-जनित व्यर्थकी पीड़ासे सुरक्षित रखनेमे समर्थ हो सकेगे।

दूसरे कारणकी बाबत ऊपर संकेत रूपमें बहुत कुछ कहा जा चुका है और यह विषय ऐसा है कि जिस पर बहुत कुछ लिखा जासकता है। परन्तु यहांपर संक्षेपमे मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि स्वास्थ्य-रक्षाके नियम हम लोगोंको दृढताके साथ पालन करने चाहियें और सर्व-साधारणको उन नियमोंका ज्ञान कराने तथा उन नियमोंका पालन करनेकी प्रेरणा करनेके लिये वैद्यकशास्त्रोंको मथनकर आहार-विहार-सम्बन्धी अत्यंत सरल पुस्तकें तय्यार कराकर सर्वसाधारणमे निःस्वार्थ भावसे उनका प्रचार करना चाहिए। यदि वाग्भट्टजीके निम्न श्लोक-की छोटी बडी टीकाएँ कराकर अथवा अन्य आहार-विहार तथा पूर्ण दिनचर्या-सम्बन्धी पुस्तकें तय्यार कराकर स्कूलोंमे भरती कराई जावें तो उनसे बहुत बडा उपकार हो सकता है। वह श्लोक यह है-

> कालाऽर्थ-कर्मणा योगा हीन-मिथ्या-ऽतिमात्रिकाः ।
> सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोग्याऽऽरोग्यैक कारणम् ॥

इसका सामान्य अर्थ इतना ही है कि—'कालका हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग; अर्थ (पदार्थ) का हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, कर्म (क्रियादि) का हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, ये सब रोगोंके प्रधान कारण हैं, और इन काल, अर्थ तथा कर्मका सम्यक्योग आरोग्यका प्रधान कारण है।' परन्तु काल, अर्थ और कर्मका वह हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग और सम्यग्योग क्या है, उसे टीकाओं द्वारा सप्रमाण स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत है, जिससे तद्विषयक ज्ञान विकासको प्राप्त होवे और जनताको सयोग-विरुद्धादिके रूपमे अपनी मिथ्याचर्याका भान हो जाय।

तीसरा कारण यद्यपि दूसरे कारणमें ही गर्भित होता है और उसीकी व्याख्यामें आता है, फिर भी उसपर खासतौरसे दृष्टि डालनेकी जरूरत है। कितने बालक अपनी अज्ञानतासे बचपनमें ही कुछ निकृष्ट खोटी प्रवृत्तियों (Self destroying habits) में पड़कर तमाशेके लिये अपना सर्वनाश कर डालते हैं और फिर बहुत

उम्र हाथ मल मलकर पछताते है,इसलिये माता-पिताकी इस विषयमे बालको पर कडी दृष्टि रहनी चाहिये और उनको किसी न किसी प्रकारसे ऐसी शिक्षा देनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे बालक इस प्रकारकी खोटी प्रवृत्तियोमे पडने न पावे। अधिकांश माता-पिता इस ओर बिल्कुल भी ध्यान नही देते और उनकी यह उपेक्षा विचारे हिताऽहित-ज्ञान-शून्य बालकोके लिये विषका काम देती है, जिसका पाप-भार माता पिताओकी गर्दन पर होता है। अतः माता-पिताओको इस विषयमे वहुत सावधान रहना चाहिये और छोटी अवस्थामे तो बच्चोका विवाह भूल कर भी नही करना चाहिये, बल्कि उनको कमसे कम २० वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रममे रखना चाहिये, और यही काल उनके विद्याध्ययनका होना चाहिये। इसके पश्चात् यह उनकी इच्छा रही कि वे चाहे और विद्याध्ययन करे या विवाह कराकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करे।

चौथा कारण सबमे प्रधान है, अच्छी खुराकका न मिलना निर्बलताको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेवाला है। जब अच्छी खुराक अथवा उत्तम भोज्य पदार्थोकी प्राप्ति ही नही होगी तो केवल स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोके जाननेसे ही क्या लाभ हो सकता है ? वैद्यक-शास्त्र हमे किसी वस्तुकी उपयोगिता-अनुपयोगिताको बतलाता है, परतु किसी उपयोगी पदार्थकी प्राप्ति करा देना उसका काम नही। यह हमारा काम है कि हम उसका प्रबन्ध करे। इसलिये स्वास्थ्यरक्षाके नियम भी उस वक्त तक पूरी तौरसे नही पल सकते जब तक कि हमारे लिए अच्छी खुराक मिलने का प्रबन्ध न होवे। वास्तवमे यदि विचार किया जाय तो मनुष्यके शरीरका सारा खेल उसके भोजन पर निर्भर है। अच्छे और श्रेष्ठ भोजनसे मनुष्यका शरीर सुन्दर, निरोगी एव बलाढ्य बनता है और मनुष्यके हृदयमें उत्तम विचारोकी सृष्टि होती है। विपरीत इसके, बुरे अथवा निकृष्ट भोजनसे मनुष्यका शरीर

रोगाक्रान्त एवं निर्बल तैयार होता है और उसमें प्रायः छोटे तथा हीन विचार ही उत्पन्न होते हैं। अच्छी खुराक वह वस्तु है कि जिसके प्रभावसे अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुई निर्बलताका भी सहज ही में संशोधन हो जाता है। इसीके प्रभावसे रोगोंके आराम होनेमें भी बहुत कुछ सहायता मिलती है।

हम लोग कुछ तो जन्मसे ही निर्बल पैदा हुए, कुछ बचपनकी गलत आदतों—अयोग्य प्रवृत्तियों—एवं स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंका न पालन करनेसे हमको निर्बल बनाया, और जो, कुछ रहा सहा बल था भी, वह अच्छी खुराकके न मिलनेसे समाप्तिको पहुँच गया। हम लोगोंकी सबसे अच्छी खुराक थी घी और दूध, वही हमको प्राप्त नहीं होती। उधर हम लोगोंने गोरस-प्राप्ति और उसके सेवनके विचारको भुला दिया, उधर धर्म-कर्म-विहीन अथवा मानवतासे गिरे निठुर मनुष्योंने घी-दूधकी मैशीन-स्वरूप प्यारी गौओंका वध करना आरम्भ कर दिया और प्रतिदिन अधिकसे अधिक संख्यामें गोवंशका विनाश होता रहनेसे घी-दूध इतना अकरा (महँगा) हो गया कि सर्व-साधारणके लिये उसकी प्राप्ति दुर्लभ हो गई। जो घी आजसे कोई १०० वर्ष पहले रुपयेका धड़ी (५ सेर पक्का) और ७४ वर्ष पहले तीन सेरसे अधिक आता था वही घी आज रुपयेका ३ या ४ छटांक आता है और फिर भी अच्छा शुद्ध नहीं मिलता। इसी प्रकार जो दूध पहले पैसे का डेढ़ पैसे सेर आया करता था वही दूध

आज आठ आने, बारह आने अथवा रुपये सेर तक मिलता है और फिर भी उसके खालिस होनेकी कोई गारण्टी नही ! ऐसी हालतमे, पाठकजन स्वय विचार सकते है कि कैसे कोई घी-दूध खा सकता है और कैसे हम लोग पनप सकते है ? भारतवर्षमे आजकल शायद सैकडे पीछे दो या तीन मनुष्य ही ऐसे निकलेगे जिनको घीसे चुपडी रोटी नसीब होती है, शेष मनुष्योको घी-दूधका दर्शन भी नही मिलता और अच्छी तरहसे घी दूधका खाना तो अच्छे अच्छोको भी नसीब नही होता ! फिर कहिये यदि भारतमे निर्बलता अपना डेरा अथवा अड्डा न जमावे तो और क्या करे ?

यहाँपर एक बात और भी उल्लेखनीय है और वह यह कि इस महँगीके कारण बहुतसे स्वार्थी-अविवेकी मनुष्य घीमे चर्बी तथा कोकोजम आदि दूसरी वस्तुएँ मिलाने लगे है और दूधमें पानी मिला कर अथवा दूधसे मक्खन निकालकर और कोई प्रकारकी पाउडर उसमे शामिल करके उसे असली दूधके रूपमे बेचने लगे है, जिससे हमारा धर्म-कर्म और आचार-विचार नष्ट होनेके साथ साथ हमारे शरीरमे अनेक प्रकारके नये रोगोने अपना घर बना लिया है। ऐसे घृणित घी-दूधको खानेवाले शायद यह समझते होगे कि हम घी-दूध खाते है और शायद उनको कभी कभी यह चिता भी होती हो कि घी-दूध खानेपर भी हम हृष्ट-पुष्ट तथा निरोगी क्यो नही रहते ? परन्तु यह सब उनकी बडी भूल है। उनको समझना चाहिये कि वे वास्तव मे घी-दूध नही खाते बल्कि एक प्रकारकी विषैली वस्तु खाते हैं जो उनके स्वास्थ्यको बिगाडकर शरीरमे अनेक प्रकारके रोगोको उत्पन्न करनेवाली है। एक बार कलकत्तेके किसी व्यापारीका वहीखाता पकडा गया था और उससे मालूम हुआ था कि उसने ५००) रु० के साँप चर्बीके लिये खरीद किये थे और उनकी चर्बी घीमे मिलाई गई थी !!

हा ! हम लोगोंके यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस चर्बीके नामसे ही हमको घृणा आती थी, जिस चर्बीके दर्शनमात्रसे कै (वमन) हो जाती थी और जिस चर्बीके स्पर्शनमात्रसे स्नान करनेकी जरूरत होती थी वही चर्बी घीमें मिलकर हमारे पेटमें पहुँच रही है और पूजन-प्रक्षालनके लिये पवित्र देवालयोंमें जा रही है !! इतने पर भी हम लोग हिन्दू तथा जैनी कहलानेका दम भरते हैं, हमको कुछ भी लज्जा अथवा शरम नहीं आती और न हम इसका कोई मुनासिब प्रतीकार ही करते हैं !! जान पड़ता है हमने कभी इस बात पर गम्भीरताके साथ विचार ही नहीं किया कि पहले इतना सस्ता और अच्छा घी-दूध क्यों मिलता था ? यदि हम विचार करते तो हमें यह मालूम हुए बिना न रहता कि पहले प्रायः सभी गृहस्थी लोग दो-दो चार-चार गौएँ रखते थे, बड़े प्रेमके साथ उनका पालन करते थे, गो-माताओंको अपना जीवनाधार समझते थे और दूध न देने या रोगी होजाने आदि किसी कारणवश उनको कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे, और यदि अलग करनेकी जरूरत ही आ पड़ती थी तो किसी ऐसे सद्गृहस्थको समर्पण करते थे जो अपनेसे भी अधिक प्रेमके साथ उनको रखने और उनकी प्रतिपालना करनेवाला हो। परिणाम इसका यह होता था कि गौएँ कसाइयोंके हाथमें नहीं जाती थी, घर घरमें घी-दूधकी नदियाँ बहती थीं और सब लोग आनन्दके साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा हृष्ट पुष्ट बने रहते थे। परन्तु आजकल हम लोग ऐसे प्रमादी अथवा जैन्टलमैन हो गये हैं कि हमने गौओंका पालन करना बिल्कुल छोड़ दिया, हमें प्राणोंकी आधारभूत गौओंका रखना भी भार मालूम होता है और हम यह कहकर ही अपना जी ठंडा कर लेते हैं कि "गाय न बछड़ी नींद आवे अच्छी !" इसीका यह फल है कि प्रतिदिन हजारों गौओंके गलेपर छुरी फिरती है, घी-दूध इतना ज्यादा महँगा हो गया और हम लोग शरीरसे कमजोर, धर्महीन तथा अनेक प्रकारके रोगोंके

शिकार बने रहते हैं !! ऐसी अवस्थामे हमलोग कैसे अपनी उन्नति या अपने समाज और देशका सुधार कर सकते हैं ? कदापि नही ।

अत. हम भारतवासियोको बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान देकर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि जिससे बहुलताके साथ उत्तम घी-दूधकी प्राप्ति होती रहे. और उसके लिये सबने अच्छा उपाय यही है कि सब लोग पहलेकी तरह अपने घरो पर दो-दो चार-चार गौऐ तथा भैसे रक्खा करे और कदापि उनको किसी ऐसे अविश्वसनीय मनुष्यके हाथ न बेचे जिससे उनके मारे जानेकी सम्भावना होवे । साथ ही, उनके लिये अच्छी चरागाहो का प्रबन्ध करे और गोचर भूमि छोडना हर एक अपना कर्तव्य समझे,जिससे चारे घासका कोई कष्ट न रहे और वे प्राय जगलसे ही अपना पेट भरकर घर आया करे। इसके अलावा स्थान स्थान पर ऐसे सुव्यवस्थित और विश्वस्त डेयरी फार्मोका भी प्रबन्ध होना चाहिये. जिससे साधन-विहीनोको समय पर उचित दामोमे यथेष्टरूपसे शुद्ध घी-दूध मिल जाया करे। यदि हमने शीघ्र ही इस ओर ध्यान न देकर कुछ भी प्रबन्ध न किया और कुछ दिनो और यही हालत चलती रही तो याद रहे कुछ ही वर्षोमे वह समय भी निकट आजायगा जब दवाईके लिये भी खालिस (शुद्ध) घी-दूध का मिलना दुर्लभ होजायगा और हम लोगो की और भी वह दुर्दशा होगी कि जिससे हमारी तरफ कोई आख उठाकर देखना भी पसन्द नही करेगा—हम सब प्रकारसे हीन तथा नगण्य समझे जावेगे। यदि हम भारतवासी सचमुच ही इन (उपर्युक्त) समस्त दु खो और दुर्दशाओसे छुटकारा चाहते है और हममे अपने हित-अहितका कुछ भी विचार अवशेष है तो हमे उक्त चारो प्रकारकी निर्बलताको दूर करनेका शीघ्रसे शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये । ज्योही हम इस निर्बलताको दूर करनेमे सफल होगे त्योही हमे फिरसे इस भारतवर्षमे भीम,अर्जुन,महावीर,बुद्ध,राम, कृष्णादि

जैसे वीर पुरुषोंके दर्शन होने लगेंगे और हम सब प्रकारसे अपने मनोरथोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

७

जैनियोंमें दयाका अभाव

इस निवन्धका शीर्षक देखते ही पाठक चौकेंगे और कहेंगे कि यह क्या मामला है ? परन्तु नही, चौकनेकी वात नही है । यदि आप धैर्य और शान्तिके साथ विचार करेंगे, तो आपको स्वय ही उक्त शीर्षककी स यता सहजमे मालूम हो जायगी ।

इसमे कोई सन्देह नही, और न इसमे किसी को कुछ आपत्ति हो सकती है कि जैनधर्म ही दया धर्मका सर्वोत्तम रीतिसे प्रतिपादन करनेवाला है । इसी धर्ममे जीवोकी जातियाँ, जीवोके भेद-प्रभेद और उनके उत्पत्ति-स्थान आदि वहुत विस्तारके साथ वर्णन किये गये है, जिनके जाने विना वास्तवमे दया धर्मका पालन नही हो सकता । जैनियोके इस सर्वश्रेष्ठ अहिसा धर्मकी वहुतसे भिन्न धर्मावलम्वी निष्पक्ष विद्वानोने मुक्तकठसे प्रशसा की है और इस धर्मका वहुत कुछ आभार और उपकार मानते हुए इस वातको स्वीकार किया है कि, जिस समय इस भारत भूमि पर वैदिक धर्मका अधिक प्रचार था उस समय यहाँ पर घोर रूपसे पशुवध होता था—वेचारे मूक पशु मास-लोलुपी वा अधश्रद्धालु मनुष्योके द्वारा धर्मके व्याजसे यज्ञोमे होमे जाते थे, घर-घरमें रुधिर और माँसकी कीचड मचती थी, लोग इतने निर्दय, स्वार्थपरायण और विवेकशून्य हो गये थे कि मनुष्यो तकको यज्ञमे हवन करते हुए उनका हृदय नही

काँपता था। यह जैनधर्मके प्रचारका ही माहात्म्य है कि अब संसार-का कोई भी धर्म उक्त घोर पापोंके करनेका अनुमोदन नहीं करता है। वैदिक धर्मके शास्त्रोंमें भी अहिंसा वा दया धर्मका उपदेश प्रचलित हो गया है और इस तरह जैनधर्मके प्रभावसे अहिंसा भारतकी सर्व-प्रिय वस्तु बन गई है।

सुप्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् पं० बालगंगाधर तिलकने बड़ौदा जैन कान्फ्रेंसमें ३० नवम्बर सन् १९०४ को एक सारगर्भित व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने कहा था—

जैनियोंके 'अहिंसा परमो धर्मः' इस उदार सिद्धान्तने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप (मुहर) मारी है। यज्ञ यागादिकोंमें पशुओंका वध होकर जो यज्ञार्थ पशुहिंसा आजकल नहीं होती है, यही एक बड़ी भारी छाप जैनधर्मने ब्राह्मण धर्म पर मारी है। पूर्वकालमें यज्ञके लिये असंख्य पशुओंकी हिंसा की जाती थी। इसके प्रमाण कालिदासके मेघदूत काव्यसे तथा और भी अनेक ग्रन्थोंसे मिलते हैं। रन्तिदेव नामक राजाने जो यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर पशुवध हुआ था कि नदीका जल खूनसे रक्तवर्ण हो गया था। उसी समयसे उस नदीका नाम चर्मवती प्रसिद्ध है। पशुवधसे स्वर्ग मिलता है, इस विषयमें उक्त कथा साक्षी है। इस घोर हिंसाका ब्राह्मण धर्मसे बिदाई ले जानेका श्रेय जैनधर्मके हिस्सेमें है। ब्राह्मण और हिन्दू धर्ममें मांसभक्षण और मदिरापान बन्द हो गया [illegible] भी जैनधर्मका ही प्रताप है। ब्राह्मणों और

दयाकी विशेष प्रीतिसे लोगोके हृदय हिंसाके दुष्कर्मोसे दुखने लगे और उन्होने आवेशवश स्पष्ट कह दिया कि, जिस वेदमे हिंसाकी आज्ञा है वह वेद हमको मान्य नही, जो देव हिंसासे प्रसन्न होते है उनकी हमको आवश्यकता नही, और जिन ग्रन्थोमे हिंसाका विधान हो, वे हमसे दूर रहे। दया और अहिसाकी ऐसी ही प्रशसनीय प्रीतिने जैनधर्मको उत्पन्न किया है, स्थिर रक्खा है और इसीसे वह चिर-काल तक स्थिर रहेगा। इस अहिसाधर्मकी छाप जब ब्राह्मणधर्म-पर पडी और हिन्दुओको अहिंसा पालनकी आवश्यकता हुई तव यज्ञमे पिष्टपशुका (आटेके पशुका) विधान किया गया *। ..."

श्रीयुत प० मणीलाल नभू भाई द्विवेदी बी ए ने 'सिद्धान्तसार' नामक पुस्तकमे लिखा है—

"आश्चर्यकी बात है कि आज जो गौ बहुत पवित्र गिनी जाती है, उसका प्राचीन समयमे यज्ञके लिये मारनेका रिवाज था। ब्राह्मणोके धर्मको, वेदमार्गको और यज्ञकी हिंसाको खरा धक्का इसी (जैन) धमने लगाया है, बुद्धके धर्मको अहिंसाका आग्रह नही था। उसने केवल वेदमार्गको ही अस्वीकृत किया था। परन्तु जैन धर्मने महा दयारूप-प्रेमरूप धर्मका प्रचार किया।"

इसी प्रकार विलसन कालेज बम्बईके सस्कृत प्रोफेसर श्रीयुत भडकमकर महोदयने अपने एक व्याख्यानमे जैनधर्मके विषयमे जो कुछ कहा है उसका सार यह है —

"यह स्पष्ट है कि वैदिक कालमे यज्ञ-यागादिक काय बड़ी क्रूरता से होते थे और यज्ञमे पशुओका हवन किया जाता था, और यह भी पता लगता है कि उस समय इन क्रूर कर्मोकी ओरसे लोगोको विरक्त करनेका भी उद्योग होता था। जिसका फल यह हुआ कि जीवोके प्रतिनिधि स्वरूप दूसरे पदार्थ हवन करके यज्ञ-क्रिया सम्पादन

---

* जैनमित्र वर्ष ६ अक ३ से उद्धृत।

करनेकी चर्चा होने लगी और कुछ कालके अनन्तर तो वह जीव-हिंसा एक प्रकारसे बन्द ही हो गई थी। इस श्रेयका अधिकांश जैनधर्मको था। उसके दयामय विचारोंका इतना प्रभाव पड़ा था कि इससे वैदिक धर्मको अपना स्वरूप बदलना पड़ा था और उसे अपनेमें जीवदयाको प्रधान स्थान देना पड़ा था। अतएव 'जिन' शब्दका जो जयशील या विजयवान अर्थ होता है तदनुसार जैनधर्मने लोगोंपर प्राचीन कालमें विजय प्राप्त किया है और वह आगे भी करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।"

बडा दु ख तथा शोक होता है और नि सकोच-भावसे कहना पडता है कि आजकलके जैनियोमे प्राय दयाधर्मका अभाव होगया है। जैनी प्राय इतने हीन, स्वार्थी और सकीर्णहृदय बन गये है कि, स्वप्नमे भी कभी दूसरोंका उपकार करनेकी तरग इनके हृदयमे नही उठती है, जैनियोंके सामने ही कोई किसीको सताओ, किसीका दिल दुखाओ, अन्याय करो, अत्याचार करो और कैसा ही पापका काम क्यो न करो, परन्तु इससे उन्हे क्या ? जैनियोके हृदय पर इससे कुछ भी चोट नही लगती है। लौकिक स्वार्थने इन लोगोको इतना अंधा बना दिया है कि दूसरोके दु खको ये दु'ख ही नही समझते है, दुखियोके दु खमे अपनी सहानुभूति दर्शाना और समवेदना प्रगट करना तो मानो इनकी प्रकृतिके विरुद्ध ही हो गया है। शायद इस प्रकारकी उदासीनताको ही ये लोग वीतरागता मान बैठे हो और इसी सुगम रीतिसे इन्होने वीतराग पदवीका सर्टिफिकेट मिलना समझ रक्खा हो! अफसोस! और शोक!! जो लोग सबसे ऊँचे चढ़े थे,वे आज ऐसे नीचे आ पडे! आज जैनियोने अपना कर्तव्य भुलाकर अपने वश-गौरव को मिटा दिया! जैनियोकी वर्तमान हालतको देख कर कौन कह सकता है कि कभी जैनी भी ऐसे परोपकारी और दयावान् थे कि, जो जीवमात्रका कल्याण करनेके लिये सदैव आकुलित रहते थे और उनके रोम-रोम और नस नसमे प्रतिक्षण परोपकारमय उत्साह की दामिनि दमकती थी! कौन समझ सकता है कि इनके पूर्वज ऐसे स्वार्थत्यागी, उदारचेता, समदृष्टि और निर्निमित्त बन्धु हो गये है कि जिन्होने भील, चाण्डाल, म्लेच्छ और पापीसे पापी मनुष्य ही को नही, वल्कि सिंह, व्याघ्र, शूकर, कूकर गृद्ध आदि पशु पक्षियो तक पर दया करके उनको धर्मकी शिक्षा दी थी और उनको जैनधर्म धारण करा कर कल्याणके मार्ग पर लगाया था।

जैनियोके अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीके समवशरणमें

पशु-पक्षी भी धर्मोपदेश सुननेके लिए आते थे। समवसरणकी बारह सभाओंमें पशु-पक्षियोंकी भी एक सभा थी, जिनको महावीर जिनेन्द्र धर्मका उपदेश देते थे। जैनियोंकी वर्तमान ८४ जातियाँ इस बातको प्रगट कर रही हैं कि जैन महर्षि कैसे दयालु निःसीम परोपकारी और धर्मप्रचारक थे कि, जिन्होंने नीच ऊँच किसीभी वर्णके मनुष्य-को जैनी बनानेसे नहीं छोड़ा और किसी भी [illegible] मुँह नहीं मोड़ा।

जिन [illegible] महात्माओंके [illegible] [illegible] [illegible] नीच [illegible] जैनी बनाया, उनको आज जैनी अपना पूज्य गुरु मानते हैं और अपनेको उनकी सन्तान बतलाते हैं। परन्तु उनको ऐसा मानने और बतलाने हुए कुछ लज्जा नहीं आती है। [illegible]

जानते और मानते है कि मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धान) के समान और कोई इस जीवात्माका अहित और अनिष्ट करनेवाला विशिष्ट शत्रु नही है। इसी अतत्त्वश्रद्धानके कारण यह जीव ससारमे नाना प्रकार के कष्ट, दु ख और सन्ताप भोगता हुआ चतुर्गतिमे भ्रमण करता फिरता है। न कही इसको शान्ति मिलती है, न कही सुखकी प्राप्ति होती है। वे प्रत्यक्ष इस बातका अनुभव भी कर रहे हैं कि इसी मिथ्याश्रद्धानके कारण ससारमे घोर प ापोकी प्रवृत्ति हो रही है और जगतके जीव अपने पापकर्मोके फलस्वरूप नाना प्रकारकी दु खावस्थाओसे घिरे हुए सविलाप कष्ट भोग रहे है। परन्तु फिर भी उन करुणा-पात्रोपर इन जैनियोको तनिकभी करुणा नही आती है। जैनी किसीभी जीवका मिथ्यात्वादि छुड़ाकर उसको सम्यक् श्रद्धानी, सम्यक्ज्ञानी और सम्यगाचरणी बनानेका कुछ भी प्रयत्न नही करते हैं, इससे अधिक कठोर चित्तवृत्ति और क्या हो सकती है ? अफसोस! जैनी लोग अपने घरोमे चिल्ला चिल्लाकर यह बात कहते है कि जैनधर्म ही जगतके जीवोंका उद्धार करनेवाला है, परन्तु फिर भी वे किसीको जैनधर्मसे अपना उद्धार करनेका अवसर नही देते है। न तो वे दूसरोको जैनधर्म बतलाते है, न सर्वदेशोकी सर्वभाषाओमे अनेक रीतियों और युक्तियोसे अपने धर्म-ग्रन्थोको प्रकाशित करके, सर्व साधारणके लिये जैनधर्मकी शिक्षा प्राप्त करनेका मार्ग सुगम करते हैं। इससे प्रगट है कि इनके हृदयोंमे दयाका संचार नही है और इसीलिए यह कहना बिल्कुल सत्य है कि आजकल जैनियोमे दयाका प्रायः अभाव है।

शायद हमारे बहुतसे भोले जैनी केवल हरी और कन्दमूलका त्याग करनेसे ही अपनेको दयावान् समझते हो। परन्तु याद रहे उनका यह लोक-प्रचारसे प्रेरित हुआ अक्रम त्याग केवल बाह्याडम्बर और लोकदिखावाके सिवाय और कुछ भी अर्थ नही रखता। भला जिन लोगोको पंचेन्द्रिय प्राणियो पर दया नहीं आती, पापियोका

पाप, अज्ञानियोका अज्ञान और मिथ्यात्वियोका मिथ्यात्व छुड़ानेमे जिनकी प्रवृत्ति नही होती,जो सप्तव्यसन और पंचपापोका त्याग नही करते, जो अपने भाईयोको सताने और दु.ख देनेमे आगा-पीछा नही सोचते और जिनके हृदय छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, अन्याय-द्रोह और वैर-विरोधसे परिपूर्ण है, उनके दिलोमे दृष्टिमे भी न आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंकी रक्षाका भाव होना कब कोई अनुमान कर सकता है ? कदापि नही । इसलिए जिन भाईयोका ऐसा खयाल हो भी, उनको अपना खयाल बदल देना चाहिये और लोक-प्रवाहमे न बह कर बाह्याडम्बर और बनावटको छोडकर अन्त.शुद्धिकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और अपने दोपोका सशोधन-पूर्वक सच्ची दयाको हृदयमे स्थान देकर जिनधर्मकी महिमा प्रकट करनी चाहिए । इसीमे जाति और देशका कल्याण है और इसीसे जैनी अपने उस कलंकको दूर करनेमे समर्थ हो सकते हैं जो अपने पूज्य पुरुषोकी पवित्र कीर्ति और नामको बट्टा लगानेसे उनके मस्तकपर चढा है ।

आशा है हमारे धर्मोपकारी, धर्मवीर और जैनधर्मके सच्चे प्रेमी अब अपनी गाढ निद्राको त्यागकर अपने कर्तव्यकी ओर झुकेंगे,अपने भाइयोकी हालत सुधारेंगे, उनका अज्ञान-प्रमाद दूर करेंगे, उनके हृदयोमें कारुण्य-जलका स्रोत बहाएँगे, उनसे परोपकार-व्रत धारण कराएँगे और जहाँतक बनेगा पापियों,अज्ञानियों और मिथ्यादृष्टियों पर दया करके उनका पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व छुड़ाएँगे । साथ ही श्री अकलंकदेव सरीखी 'कारुण्यबुद्धि' को हृदयमें धारण कर स्वजाति-विजाति, देशी-विदेशी, आर्य-म्लेच्छ और जैनी-अजैनी सब ही प्राणियोंको जिनवचनामृतका पान कराकर—जैनधर्मकी शरण मे लाकर—उनका हित-साधन करेंगे और इस प्रकार जैनधर्मके लुप्त-प्राय गौरवको पुनः उज्जीवित करनेमे समर्थ होगे ।

८

जिन-पूजाधिकार-मीमांसा

उत्थानिका

जो मनुष्य जिस मतको मानता है—जिस धर्मका श्रद्धानी और अनुयायी है—वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा-उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोंका खयाल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नहीं है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोंकी श्रेणीमें अवस्थान नहीं पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी-देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करें, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नहीं कर सकते *। शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उलंघन करके संक्रामक रोगकी तरह अड़ौसियों-पड़ौसियों, मिलने-जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको चिपटता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज

---

* इसी प्रकारके विचारोंसे खातौली (जिला मुज़फ्फरनगर) के दस्सा और बीसा जैनियोंके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ विचारोंसे सर्धना (जिला मेरठ) के जिनमंदिरोंको करीब क़रीब तीन साल तक ताला लगा रहा॥

इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेन्द्रदेवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमासा और विवेचना करनेके लिये यह निवन्ध लिखा जाता है ।

पूजन-सिद्धान्त

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा और विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा वन जाता है । आत्मासे भिन्न और पृथक कोई एक ईश्वर या परमात्मा नही है । आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है—अरहत, जिनेन्द्र, जिन-देव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर है—या दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्त गुणोका समुदाय है । उसके अनन्त गुणोकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेष नही है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नही होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोसे अप्रसन्न होता है, धनिक श्रीमानों, विद्वानो और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योको वह प्रेमकी दृष्टिसे नही देखता और न निर्धन-कंगालो, मूर्खों तथा निम्नश्रेणीके मनुष्योको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र है और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन, वह परमानंदमय और कृतकृत्य है सांसारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नही । इसलिये जैनियोंकी उपासना, भक्ति और पूजा हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नही होती । उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे इस प्रकार है :—

'यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त-शक्तियोका आधार है। परन्तु अनादि-कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा ससारमे इतना लिप्त और मोह-जालमे इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियों-का विकाश होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नही होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोडा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेमे ही सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है। इन्ही ससारी जीवोंमेसे जो जीव, अपनी आत्म-निधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाऽग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमे आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा 'परमात्मा' कहलाता है। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तब तक उस परमात्माको सकलपरमात्मा (जीवन्मुक्त) या अरहत कहते हैं, और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कलपरमात्मा (विदेहमुक्त) या सिद्ध नामसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्ता-वस्थामे अपनी दिव्यवाणीके द्वारा ससारी जीवोको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात् उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छा-दित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है, दु.खका; सुखका और ससारका स्वरूप क्या है, कैसे दु.खकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोका विस्तारके

साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमे उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका नि.सीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तवन्धु इत्यादि भी नाम हैं। इस महोपकारके वदलेमे हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करे और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करें वह सव तुच्छ है। दूसरे जव आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा वनना सव आत्माओका अभीष्ट है, तव आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोमे परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा,भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमे अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय-गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते है। अपने आदर्श-पुरुषके गुणोमे भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। विना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नही हो सकती। जो जिस गुणका आदर-सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है, वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है, क्योकि गुणीके आश्रय विना कही भी गुण नही होता। आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। इसलिये परमात्मा* इन्ही

---

* इन्ही कारणोसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी,

समस्त कारणोंसे हमारा परमपूज्य उपास्य देव है और द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी संसारी जीवोका समान-भावसे पूज्य है । यही कारण है कि परमात्माके 'त्रैलोक्यपूज्य' और 'जगत्पूज्य' इत्यादि नाम भी कहे जाते है । परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोमे अनुराग वढ़ाने और परमात्माका भजन और चिन्तवन करनेसे इस जीवात्माको पापोंसे वचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है। जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नही करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराड्मुख और अपने आत्मलाभसे वचित रहता है—इतना ही नही, किन्तु वह कृतघ्नता×के दोपसे भी दूषित होता है ।

अत परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सवके लिये उपादेय और जरूरी है ।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अर्हन्त-अवस्थामे सदा और सर्वत्र विद्यमान नही रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनके आलम्वनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है । वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोका प्रतिविम्व होती है। उसमे स्थापनानिक्षेपसे मत्रोद्वारा परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती

जिनमे आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई है और जिन्होने अपने उपदेश, आचरण और शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है, वे सव हमारे पूज्य है ।

×अहमान फरामोशी या किये हुए उपकारको भूल जाना कृतघ्नता है । "अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुवोध प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् । इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति ॥" —गोम्मटसार-टीका

है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योंकि मूर्तिके पूजनसे धातु-पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है; बल्कि मूर्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासना की जाती है। इसीलिये इस मूर्तिपूजनके जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा इत्यादि नाम कहे जाते है और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा —

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिन॥

—धर्मसग्रहश्रावकाचार अ० ६, श्लोक ४२

परमात्माकी इस परमशान्त और वीतरागमूर्तिके पूजनमे एक बड़ी भारी खूबी और महत्वकी बात यह है कि जो संसारी जीव ससारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपचमे अधिक फँसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल है और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नही है कि जो केवल शास्त्रोमे परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम विना किसी नकशे के परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमें खींच सकें या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सकें, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमे समर्थ हो जाते है और उसीसे आगामी दु:खो और पापोकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमे अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खीचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र खीचनेका अभ्यास बढाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नही खीच सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है तब कठिन, गहन और रगीन चित्रोको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्र-विद्यामे पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती,

दौड़ती-भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफाईके साथ बातकी बातमे खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अंकित कर देता है। उसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नही कर सकता अर्थात् परमात्माका फोटू अपने हृदयपर नही खीच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यान-मुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनै शनै एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटू अपने हृदयमे खीचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करने पर उसका मनोबल और आत्मबल बढ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान् श्रीअरहंतदेवका समवसरणादि विभूति-सहित साक्षात् चित्र अपने हृदयमें खीचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्थामे ही होता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामे फिर उसको धातु-पाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नही रहती, बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमे परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खीचने लगता है, जिसको रूपातीतध्यान कहते है। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छाटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोको क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्तिपूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्था-

-वस्था) मे ही होती है। बल्कि दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमे है, उतना उतना ही ज़ियादा उसको मूर्ति पूजनकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

सर्वसाधारणाऽधिकार

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराणमे लिखा है —

दानं पूजा च शील च दिने पर्वण्युपोषितम्।
धर्मश्चतुर्विध· सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम् ॥ ४१-१०४

अर्थात्—दान, पूजन, व्रतोका पालन (व्रतानुपालनं शील) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोका धर्म है।

अमितगतिश्रावकाचारमे श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यथा —

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विध· ।
श्रावकाणां मतो धर्म· संसारारण्यपावक· ॥ ६-१

श्रीपद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशतिकामे, श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते है—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६-७

अर्थात्—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, सयम, तप और दान, ये षट् कर्म गृहस्थोको प्रतिदिन करने योग्य हैं। भावार्थ—धार्मिकदृष्टि-से गृहस्थोंके ये सर्वसाधारण नित्यकर्म हैं।

श्रीसोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमे वर्णित उपासकाध्ययनमे इन्ही षट् कर्मोका, प्राय· इन्ही (उपर्युल्लिखित) शब्दोमे गृहस्थोको उप-देश देते हैं —

देवसेवा गुरूपास्ति: स्वाध्याय सयमस्तप' ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ४६-७

गृहस्थोंके लिये पूजनकी आवश्यकताको प्रगट करते हुए श्री-पद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते है—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फल जीवितं तेषां तेषा धिक् च गृहाश्रमम् ॥ ६-१५

अर्थात्—जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नही करते है उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। इसी आवश्यकताको अनुभव करते हुए श्री सकलकीर्ति आचार्य सुभाषितावलीमे यहाँ तक लिखते है—

पूजां विना न कुर्वीत भोगसौख्यादिक कदा ।

अर्थात्—गृहस्थोको बिना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नही करना चाहिये। सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये ।

श्रीधर्मसग्रहश्रावकाचारमे, गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए, लिखा है—

इज्या वार्त्ता तपो दान स्वाध्याय' सयमस्तथा ।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वह ते गृहिणो मता: ॥ ६-२६

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृषिवाणिज्यादि जीवनोपाय) तप, दान, स्वाध्याय, और सयम, इन छह कर्मोको जो प्रतिदिन करते है वे गृहस्थ कहलाते हैं। भावार्थ—धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोंके छह नित्यकर्म हैं। गुरूपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहाँ पृथक नही कही गई।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ मे निम्नलिखित श्लोको-द्वारा यह सूचित करते है कि ये इज्या, वार्ता आदि कर्म उपासक सूत्रके अनुसार गृहस्थोके षट्कर्म हैं। आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोंकी कुलचर्या है, जिसे कुलधर्म भी कहते है—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्त्तनम् ।
गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४४॥

श्रीचामुण्डरायने चारित्रसारमे और विद्वद्वर प० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें भी इन्ही षट्कर्मोका वर्णन किया है । इन षट्-कर्मोमे दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य है । इस विषयमें पं० आशाधरजी सागारधर्मामृत(१-१५) में लिखते है—

दान-यजन-प्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य है और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है । भावार्थ—श्रावक वह है जो कृषि-वाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राध्ययन भी करता है ।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार ग्रन्थमे, इससे भी बढकर साफ तौरपर यहाँतक लिखते हैं कि बिना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता या दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नही होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये ।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि ॥ १०॥

अर्थात्—दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है । इसके बिना कोई श्रावक नहीं कहला सकता और ध्यान अध्य-यन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है । जो इससे रहित है, वह मुनि ही नहीं है । भावार्थ—मुनियोके ध्यानाध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म है ।

ऊपरके वाक्योसे भी, जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थ

का धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है—बिना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और बिना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नही पा सकता, तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खंडेलवाल हो या परवार आदि अन्य किसी जातिका; चाहे स्त्री हो या पुरुष; चाहे व्रती हो या अव्रती; चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी है, सभी श्रावक है, अत सभी पूजनके अधिकारी हैं।

श्रीतीर्थंकर भगवानकी अर्थात् जिस अर्हन्त-परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते है उसके समवसरणमे भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती, क्या ऊच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते हैं। और मनुष्य ही नही, समवसरणमे पचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते हैं—समवसरणकी बारह सभाओमे उनकी भी एक सभा होती है, वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते है। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमे एक मेढककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोमे प्रसिद्ध है। पुण्यास्रव-कथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसग्रहश्रावकाचार आदि अनेक ग्रन्थोमे यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रन्थोमे इसका निम्न-लिखित प्रकारसे उल्लेखमात्र किया है। यथा.—

अर्हच्चरणसपर्या महानुभाव महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥ रत्नकरड १२०,
यथाशक्ति यजेतार्हद्देव नित्यमहादिभि.।
सकल्पतोऽर्पित यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते॥ सागारध० २-२४

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमे विपुलाचल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समवसरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा

श्रेणिक आनद भेरीबजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीर-जिनेन्द्रकी-पूजा और वन्दनाको चले, उस समय एक मेंढक भी, जो नागदत्त श्रेष्ठीकी बावडीमे रहता था और जिसको अपने पूर्वजन्मकी स्त्री भवदत्ताको देखकर जातिस्मरण हो गया था, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजाके लिये मुखमे एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोंके साथ समवसरणकी ओर चल दिया। मार्गमे महाराजा श्रेणिकके हाथीके पैर तले आकर वह मेढक मर गया और पूजनके इस संकल्प और उद्यमके प्रभावसे मरकर सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। फिर वह देव समवसरणमें आया और श्रीगणधरदेवके द्वारा उसका चरित्र लोगोको मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादिमें जाकर तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते है।

समवसरणको छोड़कर और भी बहुतसे स्थानो पर तिर्यंचोंके पूजन करनेका कथन पाया जाता है। पुण्यास्रव और आराधना-सारकथाकोशमे लिखा है कि धाराशिव नगरमे एक बबी थी, जिसमें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मंजूषेमे रक्खी हुई थी। एक हाथी, जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालाबसे अपनी सूडमे पानी भरकर लाता और उस बँबीकी तीन प्रदक्षिणा देकर वह पानी उसपर छोडता और फिर एक कमलका फूल चढाकर पूजन करता और मस्तक नवाता था। इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका पूजन करता था। जब राजा करकंडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस बँबीको खुदवाया और उसमेसे वह प्रतिमा निकली। प्रतिमाके निकलने पर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमे वह हाथी मरकर सहस्रारस्वर्गमे देव हुआ। इसी प्रकार तिर्यंचोंके पूजन-सबधमे और भी अनेक कथाएँ है। जब तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं, तब ऐसा कौन मनुष्य हो

सकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भावपूर्वक जिनेन्द्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो ? अभिप्राय यह है कि,आत्महितचिन्तक सभी प्राणियोके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है। इसलिये गृहस्थोको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये।

पूजनके भेद

पूजन कई प्रकारका होता है । आदिपुराण, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमे नित्य[1], अष्टान्हिक[2], ऐन्द्रध्वज[3], चतुर्मुख[4], और कल्पद्रुम[5], इसप्रकार पूजनके

---

१ नित्यपूजनका स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२–३ जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि ।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यै साध्या त्वैन्द्रध्वजो मह ॥ सागारधर्मा०

अर्थात्—नन्दीश्वर पर्वमे (आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोके अन्तिम आठ आठ दिनोमे) जो पूजन किया जाता है, उसको अष्टान्हिक पूजन कहते है और इन्द्रादिकदेव मिलकर जो पूजन करते है, उसको 'ऐन्द्रध्वज' पूजन कहते है।

४ महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामह ।
चतुर्मुख स विज्ञेय सर्वतोभद्र इत्यपि ॥—आदिपुराण
भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते
तदाख्या सर्वतोभद्र-चतुर्मुख-महामहा ॥—सागारध०

अर्थात्—मुकुटबद्ध (मांडलिक) राजाओके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसके नाम 'चतुर्मुख', 'सर्वतोभद्र' और 'महामह' है।

५ दत्वा किमिच्छक दान सम्राड्भिर्य. प्रवर्त्यते ।
कल्पवृक्षमह सोऽय जगदाशाप्रपूरण ॥—आदिपुराण
किमिच्छकेन दानेन जगदाशा. प्रपूर्य य. '

पाच भेद वर्णन किये है । वसुनन्दिश्रावकाचार और 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार नामके ग्रन्थोंमे प्रकारान्तरसे नाम[1], स्थापना[2], द्रव्य[3],

---

चक्रिभि· क्रियते सोऽर्हद्यज्ञ कल्पद्रुमो मत. ॥—सागारध०

अर्थात्—याचकोको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशा को पूर्ण करते हुए चक्रवर्त्ति सम्राट द्वारा जो जिनेन्द्रका पूजन किया जाता है, उसको 'कल्पद्रुम' पूजन कहते है ।

१ उच्चारिऊण णाम, अरुहाईण विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाईणि खिविजति विण्णेया णामपूजा सा ॥—वसुनन्दिश्रा०

अर्थात्—अर्हतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमे जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते हैं, उसको नामपूजन कहते है ।

२ तदाकार वा अतदाकार वस्तुमे जिनेन्द्रादिके गुणोका आरोपण और सकल्प करके जो पूजन किया जाता है, उसको स्थापना पूजन कहते है । स्थापनाके दो भेद है—१ सद्भावस्थापना और १ असद्भावस्थापना । अरहतोकी प्रतिष्ठाविधिको 'सद्भावस्थापना' कहते है । (स्थापना पूजनका विशेष वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दि-श्रावकाचार आदि ग्रन्थ) ।

३ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।
दव्वेण गधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण ।
पच्चक्खजिणाईण सचित्तपूजा जहाजोग्ग ॥
तेसिं च सरीराण दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा ।
जा पुण दोण्ह कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥—वसुनन्दिश्राव०

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसको द्रव्य-पूजन कहते है । जलचदनादिकसे पूजन करनेको द्रव्यसे पूजन करना कहते है और द्रव्यकी पूजा सचित्त, अचित्त तथा मिश्रके भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेन्द्रादिके पूजनको 'सचित्त द्रव्यपूजन' कहते

क्षेत्र[4], काल[5] और भाव[6], ऐसे छह प्रकारका पूजन भी वर्णित है।

हैं। उन जिनेन्द्रादिके शरीरो तथा द्रव्यश्रुतके पूजनको 'अचित्त द्रव्य पूजन' कहते हैं और दोनोके एक साथ पूजन करनेको 'मिश्रद्रव्यपूजन' कहते हैं। द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद हैं।

४ जिणजणमणिक्खवणणाणुप्पत्ति मोक्खसपत्ती।
णिसिही सुखेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥—वसुनन्दिश्रा०

अर्थात्—जिन क्षेत्रोमे जिनेन्द्र भगवानके जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उन क्षेत्रोमे जलचदनादिकसे पूजन करनेको 'क्षेत्र-पूजन' कहते है।

५ गर्भादिपचकल्याणमर्हता यद्दिनेऽभवत्।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम् ॥
स्नपन क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभि.।
तत्र गीतादिमाङ्गल्य कालपूजा भवेदियम् ॥ धर्मसग्रहश्रा०

अर्थात्—जिन तिथियोमे अरहतोके गर्भ-जन्मादिक कल्याणक हुए है, उनमे तथा नन्दीश्वर और रत्नत्रयादिक पर्वोमे जिनेन्द्रदेवका पूजन, इक्षुरस और दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मागलिक कार्य करनेको 'कालपूजन' कहते है।

६ यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम्।
त्रिकाल क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥
परमेष्ठिपदैर्जाप क्रियते यत्स्वशक्तित।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्र साप्यर्चा भावपूर्विका ॥
पिडस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम्।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥ —धर्मसग्रहश्रा०

अर्थात्—जिनेन्द्रके अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि गुणोकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दान

परन्तु संक्षेपसे पूजनके नित्य और नैमित्तिक, ऐसे दो भेद हैं। अन्य समस्त भेदोका इन्हीमें अन्तर्भाव है। 'अष्टान्हिक' आदिक चार प्रकारका पूजन नैमित्तिक पूजन कहलाता है और नामादिक छह प्रकारके पूजनोंमें कुछ नित्य,कुछ नैमित्तिक और कुछ दोनो प्रकारके होते है। प्रतिष्ठा भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनोमे वहुतसे ऐसे भी भेद है जिनमे पूजनकी विधि प्राय नित्य पूजनके ही समान होती है और दोनोंके पूजकमे भी कोई भेद नही होता, जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक। इसलिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे नित्यपूजन और प्रतिष्ठादिविधान, ऐसे भी दो भेद कहे जाते है और इन्ही भेदोकी प्रधानतासे पूजकके भी दो ही भेद वर्णन किये गये है—एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते है और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको पूजकाचार्य कहते है। जैसा कि पूजासार और धर्मसग्रहश्रावकाचारके निम्नलिखित श्लोकोसे प्रगट है :—

पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः ।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥ १६॥

—पूजासार

नित्यपूजा-विधायी यः पूजक. स हि कथ्यते।
द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥६—१४२॥

—धर्मसग्रहश्रावकाचार

चतुर्मुखादिक पूजन तथा प्रतिष्ठादि विधान सदा काल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोसे इनका अनुष्ठान हो सकता

की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठिके जाप वा स्तवनको और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते है। (पिंडस्थादिक ध्यानोका स्वरूप ज्ञानार्णवादिक ग्रन्थोमे विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहाँसे जानना चाहिये।)

है—क्योकि कल्पद्रुम पूजन चक्रवर्त्ति ही कर सकता है; चतुर्मुख पूजन मुकुटवद्ध राजा ही कर सकते है, ऐन्द्रध्वज पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं, इसी प्रकार प्रतिष्ठादि विधान भी खास खास मनुष्य ही सम्पादन कर सकते हैं—इसलिये सर्वसाधारण जैनियो-के वास्ते नित्यपूजनकी ही मुख्यता है । ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमे 'दिने दिने' और 'अन्वह' इत्यादि शब्दो-द्वारा नित्यपूजनका ही उपदेश दिया गया है। इसी नित्यपूजन पर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती राजा, महाराजा, चक्रवर्त्ति और देवता, सबका समान अधिकार है अर्थात् सभी नित्यपूजन कर सकते हैं।

नित्यपूजनको नित्यमह, नित्याऽर्चन और सदार्चन इत्यादि भी कहते है। नित्यपूजनका, मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्यने आदि-पुराणमे इस प्रकार वर्णन किया है —

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥

—अ० ३८, श्लो० २७

अर्थात्—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षता-दिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्यपूजन कहते हैं। धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है। यथा —

जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।
यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥

—अ० ९ श्लो० २७

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या वालक, क्या वालिका-सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोसे जो वादाम, छुहारा, लौंग, इलायची या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते हैं और वहां उस द्रव्यको, जिनेन्द्रदेवादिकी स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके,

जिनप्रतिमाके सन्मुख चढ़ाते हैं, वह सब नित्यपूजन कहलाता है। नित्यपूजनके लिये यह कोई नियम नहीं है कि वह अष्टद्रव्यसे ही किया जावे या कोई खास द्रव्यसे या किसी खास संख्या तक पूजाएँ की जावें, बल्कि यह सब अपनी श्रद्धा, शक्ति और रुचिपर निर्भर है—कोई एक द्रव्यसे पूजन करता है, कोई दोसे और कोई आठोंसे, कोई थोडा पूजन करता और थोड़ा समय लगाता है, कोई अधिक पूजन करता और अधिक समय लगाता है, एक समय जो एक द्रव्यसे पूजन करता है वा थोडा पूजन करता है दूसरे समय वही अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगता है और बहुतसा समय लगाकर अधिक पूजन करता है। इसीप्रकार यह भी कोई नियम नहीं है कि मदिरजीके उपकरणोंमें और मदिरजीमे रक्खे हुए वस्त्रोंको पहिनकर ही नित्य पूजन किया जावे। हम अपने घरसे शुद्ध वस्त्र पहिनकर और शुद्ध बर्तनोंमे सामग्री बनाकर मदिरजीमें ला सकते हैं और खुशीके साथ पूजन कर सकते है। जो लोग ऐसा करनेके लिये असमर्थ है या कभी किसी कारणसे ऐसा नही कर सकते है, वे मदिरजीके उपकरण आदिसे अपना काम निकाल सकते है, इसीलिये मंदिरोंमे उनका प्रबंध रहता है। बहुतसे स्थानोपर श्रावकोंके घर विद्यमान होते हुए भी कमसे कम दो चार पूजाओंके यथासंभव नित्य किये जानेके लिये, मदिरोंमें पूजन सामग्रीके रक्खे जानेकी जो प्रथा जारी है, उसको भी आज कलके जैनियोंके प्रमाद, शक्तिन्यूनता और उत्साहाभाव आदिके कारण एक प्रकारका जातीय प्रबंध कह सकते है, अन्यथा, शास्त्रोंमे इस प्रकारके पूजन संबंधमें, आमतौरपर अपने घरसे सामग्री लेजाकर पूजन करनेका ही विधान पाया जाता है; जैसा कि ब्रह्मसूरिकृत् त्रिवर्णाचारके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है:—

ततश्चैत्यालयं गच्छेत्सर्वभव्यप्रपूजितम्।
जिनादिपूजायोग्यानि द्रव्याण्यादाय भक्तितः॥

—अ ४-१९० ।

अर्थात्--सध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजनके योग्य द्रव्योको लेकर, समस्त भव्यजीवो-द्वारा पूजित श्रीजिनमदिरजी जावे । भावार्थ—गृहस्थोको जिनमदिरमे पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये । परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि विना द्रव्यके मदिरजीमें जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नहीं है । क्योकि यदि किसी अवस्थामें द्रव्य उपलब्ध नही है तो केवल भावपूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थोंके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है। इसीलिये नित्यपूजनका ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया गया है।

ऊपर नित्यपूजनका जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है,उसके अतिरिक्त, "जिनविम्ब और जिनालय वनवाना, जिनमदिरके खर्चके लिये दानपत्र-द्वारा ग्राम-गृहादिकका मदिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोंका पूजन करना, यह सब भी नित्यपूजनमें ही दाखिल (परिगृहीत) है ।" जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योसे प्रगट है —

[1]"चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापण च यत् ।
शासनीकृत्य दान च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥२८॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पित" ॥२९॥

श्रीसागारधर्मामृतमे भी नित्यपूजनके सम्बधमें समग्र ऐसा[2] ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मदिरजीमे [3]त्रिकालदेववदना—अरहतदेवकी आराधना—

---

१ इन दोनो श्लोकोंका आशय वही है जो ऊपर अतिरिक्त शब्दके अनन्तर ' " के मध्य दिया गया है ।

२ आदिपुराणके उक्त श्लोक नं २७, २८, २९ के अनुसार ।

३.आदिपुराणमे पूजनके अन्य चार भेदोका वर्णन करनेके अनन्तर

करनेको भी नित्यपूजन कहते हैं। यथा.—

प्रोक्ता नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना।
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम्॥
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया।
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम्॥ —२४

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे भी 'त्रिसंध्यं देववन्दनम्' इस पदके द्वारा ६वें अधिकारके श्लोक नं. २६ मे, त्रिकाल देववन्दनाको नित्यपूजन वर्णन किया है। और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, 'बलि, अभिषेक (न्हवन) गीत, नृत्य वादित्र आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नित्य और नैमित्तिकपूजनके विशेष हैं और जिनको भक्त पुरुष सम्पादन करते हैं, उन सबका नित्यादि पंच प्रकारके पूजनमें अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेंसे जो नित्य किये जाते हैं या नित्य किये जानेको है, वे भी नित्यपूजन मे समाविष्ट हैं। जैसा कि निम्न-लिखित प्रमाणोंसे प्रगट है.—

बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत्।
भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत्॥
—सागारधर्मा० २-२०

बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसंध्यासेवया समम्।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्॥
—आदिपुराण ३८-३३

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजा है। पूजा भक्ति, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्रायः एकार्थवाची है और उसी एक आशय और भावके द्योतक है। इसप्रकार पूजनका

श्लोक न ३३ मे त्रिकाल-देववन्दनाका वर्णन 'त्रिसंध्यासेवया समम्' इस पदके द्वारा किया है।

स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको जिनपूजन करनेसे नही चूकना चाहिये। सबको आनद और भक्तिके साथ जिनपूजन अवश्य करना चाहिये।

शूद्राऽधिकार

यहाँपर, जिनके हृदयमे यह आशका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते है या नही ? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं तब शूद्र, जो कि मनुष्य हैं और तिर्यंचोसे ऊँचा दर्जा रखते हैं कैसे पूजनके अधिकारी नही हैं ? क्या शूद्र जैनी नही हो सकते ? या श्रावकके व्रत धारण नही कर सकते ? जब शूद्रोको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावकके बारह व्रतोको धारणकर ऊँचे दर्जेके श्रावक बन सकते हैं और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नही; किन्तु ऊँचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लक) तक होते आये हैं, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है ? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके वचनानुसार, जब बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनको पूजन का अधिकार स्वत सिद्ध है।

भगवानके समवसरणमे, जहाँ तिर्यंच भी जाकर पूजन करते है, वहाँ जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते है उसीप्रकार शूद्रलोग भी जाते है और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवशपुराणमे, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—'समवसरणमे, जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारो वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नही, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहाँतक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यंचोने भी श्रावकके व्रत धारण किये।' इससे, पूजा-वन्दना और

धर्मश्रवणके लिये शूद्रोका समवसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन-सम्बंधमे बहुतसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पुण्यास्रवकथाकोशमें लिखा है कि 'एक माली (शूद्र) की दो कन्याएं, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पवती था प्रतिदिन एक एक पुष्प जिनमंदिरकी देहलीपर चढाया करती थी। एक दिन वनसे पुष्प लाते समय उनको सर्पने काट खाया और वे दोनो कन्याएँ मरकर, इस पूजनके फलसे, सौधर्मस्वर्गमे देवी हुई।' इसी शास्त्रमे एक पशु चरानेवाले नीचकुली ग्वालेकी भी कथा लिखी है जिसने सहस्रकूट चैत्यालयमें जाकर, चुपकेसे नही किन्तु राजा, सेठ और सुगुप्ति नामक मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) में, एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोमे चढाया, और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममें महाप्रतापी राजा करकंडु हुआ यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमे भी लिखी है। इस ग्रंथमे ग्वालेकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है —

> तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः।
> 'भोः सर्वोत्कृष्ट! मे पद्मं गृहाणेदमिति' स्फुटम् ॥१५॥
> उक्त्वा जिनेंद्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पंकजम्।
> गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥१६॥
>
> —करकंडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालेको यह मालूम हो गया कि सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही है तब उस ग्वालेने, श्रीजिनेंद्रदेवके सन्मुख खडे होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट! मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोपर चढा दिया और इसके पश्चात् वह ग्वाला मंदिरसे चला गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि भला काम (सत्कर्म) मूर्ख मनुष्योको भी सुखका देनेवाला होता है। इसी प्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बन्धमे और भी बहुतसी कथाएं है।

कथाओंको छोड़कर जब वर्त्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोंपर

शूद्रलोग पूजन करते हैं। जो जैनी शूद्र है या शूद्रोका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गई, वे तो पूजन करते ही हैं, परन्तु बहुतसे ऐसे भी शूद्र हैं जो प्रगटरूप या व्यवहारमे जैनी न होते या न कहलाते हुए भी किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चमत्कार) पर मोहित होने के कारण उन स्थानोपर बराबर पूजन करते है— चांदनपुर (महावीरजी), केसरियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रो और श्रीसम्मेद-शिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोपर ऐसे शूद्र पूजकोंकी कमी नही है। ऐसे स्थानोंपर नीच ऊँच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती हैं। जिन लोगोको चैतके मेलेपर चांदनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होने प्रत्यक्ष देखा होगा अथवा जिनको एसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते हैं कि चैत्र शुक्ला चतुर्दशीसे लेकर ३-४ दिन तक कैसी कैसी नीच जातियोके मनुष्य और कितने शूद्र अपनी अपनी भाषाओमे अनेक प्रकारकी जय बोलते आनदमें उछलते और कूदते, मंदिरके श्रीमण्डपमें घुस जाते हैं और वहाँपर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मंदिरसे बाहर निकलते हैं। बल्कि वहाँ तो रथोत्सवके समय यहाँतक होता है कि मंदिरका व्यासमाली, जो चढी हुई सामग्री लेने-वाला और निर्माल्य भक्षण करनेवाला है, स्वय वीरभगवानकी प्रति-माको उठाकर रथमे विराजमान करता है।

यदि शूद्रोका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उस-से उनको पापवन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वाले को कमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होती और मालीकी लडकियोको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रकार शूद्रोसे भी नीच पद धारण करनेवाले मेढक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके संकल्प और उद्यम-मात्रसे देवगतिकी प्राप्ति न होती [क्योकि जो काम बुरा है उसका सकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नही हो सकता] और हाथीको, अपनी सूडमें

पानी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढाकर बांवीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे अगले ही जन्ममे मनुष्यभवके साथ साथ राजपद और राज्य न मिलता। इससे प्रगट है कि शूद्रों-का पूजन करना असत्कर्म नही हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है। आराधनासारकथाकोश.में भी ग्वालेके इस पूजन-कर्मको सत्कर्म ही लिखा है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक न. १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोमे शूद्रोंके पूजनके लिए स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है। धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ६वे अधि-कारमे लिखा है :—

यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥ २२५॥
यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
जाति-तीर्थ-प्रभेदेन द्विधा ते ब्राह्मणादयः ॥ २२६॥

अर्थात् ब्राह्मणोंके पूजन करना पूजन कराना, पढना, पढ़ाना दान देना, और दान लेना ये छह कर्म हैं। शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णोंके पूजन करना पढ़ना और दान देना ये तीन कर्म हैं। और वे ब्राह्मणादिक जाति और तीर्थके भेद-से दो प्रकारके हैं। इससे साफ प्रगट है कि पूजन करना जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसी प्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है।

इसी धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ६वे अधिकारके श्लोक नं० १४२ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये है—एक नित्यपूजन करनेवाला जिसको 'पूजक' कहते है। और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिस-को 'पूजकाचार्य' कहते है। इसके पश्चात् दो श्लोकोमें, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वरूप इस

प्रकार वर्णन किया है :—

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्य: शीलव्रतान्वित: ।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरग: ॥ १४३ ॥
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धु सुहृज्जनै: ।
गुरूपदिष्टमन्त्रेण युक्त: स्यादेष पूजक ॥ १४४ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका धारक, जो दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंड वरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतसे युक्त हो, सत्य और शौचका दृढतापूर्वक (निरतिचार) आचरण करनेवाला—सत्यवान्, शौचवान् और दृढाचारी हो - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाँच अव्रतो (पापो) से रहित हो, जाति और कुलसे पवित्र हो, बन्धु-मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मन्त्रसे युक्त हो या ऐसे मन्त्रसे जिसका सस्कार हुआ हो, वह उत्तम पूजक कहलाता है।

इसीप्रकार पूजासार ग्रन्थमें भी पूजकके उपर्युक्त दोनो भेदोका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोमें नित्यपूजकका, उत्कृष्टापेक्षा-से प्राय: समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है —

ब्राह्मण: क्षत्रियो वैश्य: शूद्रो वाऽऽद्य: सुशीलवान् ।
दृढव्रतो दृढाचार: सत्यशौचसमन्वित: ॥ १७ ॥
कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभि शुचि: ।
गुरूपदिष्टमन्त्राढ्य: प्राणिवधादिदूरग ॥ १८ ॥

ऊपरके इन दोनों ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे भली भांति स्पष्ट है कि, शूद्रोको भी श्रीजिनेन्द्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी नित्य-पूजक होते हैं। साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग साधारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक भी होते हैं।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊंचे दर्जेके

नित्यपूजकका ही स्वरूप है या उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन किया गया है यह सब किस आधारपर माना जावे ? इसका उत्तर यह है कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके श्लोक नं० १४४ में जो 'एष' शब्द आया है वह उत्तमताका वाचक है। यह शब्द 'एतद्' शब्दका रूप न होकर एक पृथक् ही शब्द है। वामन शिवराम आप्टे कृत कोशमें इस शब्दका अर्थ अंग्रेजीमें desirable और to be desired किया है। संस्कृतमें इसका अर्थ प्रशस्त प्रशंसनीय और उत्तम होता है। इसी प्रकार पूजासार ग्रन्थके श्लोक नं० २८ में जहाँपर पूजक और पूजकाचार्य का स्वरूप समाप्त किया है वहाँपर, अन्तिम वाक्य यह लिखा है कि 'एवं लक्षणवानार्यो जिनपूजासु शस्यते' (अर्थात् ऐसे लक्षणोंसे लक्षित आर्यपुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजामें प्रशंसनीय कहा जाता है।) इस वाक्यका अन्तिम शब्द 'शस्यते' साफ बतला रहा है कि ऊपर जो स्वरूप वर्णन किया है वह प्रशस्त और उत्तम पूजकका ही स्वरूप है। दोनों ग्रन्थोंमें इन दोनों शब्दोंसे साफ प्रगट है कि यह स्वरूप उत्तम पूजकका ही वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ये दोनों शब्द (एष और शस्यते) दोनों ग्रन्थोंमें न भी होते या थोड़ी देरके लिये इनको गौण किया जाय तब भी ऊपर कथन किये हुए पूजन-सिद्धान्त, आचार्योंके वाक्य और नित्यपूजनके स्वरूपपर विचार करनेसे यही नतीजा निकलता है कि यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्य पूजकको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। लक्षणसे इसका कुछ सम्बंध नहीं है। क्योंकि लक्षण लक्ष्यके सर्वदेशमें व्यापक होता है। ऊपरका स्वरूप ऐसा नहीं है जो साधारणसे साधारण पूजकमें भी पायाजावे, इसलिये वह कदापि पूजकका लक्षण नहीं होसकता। यदि ऐसा न माना जाय—अर्थात् इसको ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका स्वरूप स्वीकार न किया जावे, बल्कि नित्यपूजक मात्रका स्वरूप वा दूसरे शब्दोंमें पूजकका लक्षण माना जावे तो इससे आजकलके प्राय: किसी भी जैनीको पूजनका अधिकार नहीं रहता, क्योंकि सप्तशीलव्रत और हिंसादिक

पच पापोके त्यागरूप पच अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्रतिमामे ही होता है और वर्त्तमान जैनियोमे इस प्रतिमाके धारक दो चार त्यागियोको छोडकर, शायद कोई विरले ही निकले। इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोसे बडा भारी विरोध आता है। क्योकि जैनशास्त्रोमे मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये हैं.—

१ पाक्षिक २ नैष्ठिक और ३ साधक। श्रावकधर्म जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है, श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारंभ कर दिया है, परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नही होता, उस प्रारब्ध देशसयमीको 'पाक्षिक' कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमे तत्पर है उसको नैष्ठिक' कहते है और जो आत्मध्यानमें तत्पर हुआ समाधि-पूर्वक मरण साधन करता है उसको 'साधक' कहते हैं*। नैष्ठिक श्रावकके दर्शनिक व्रतिक आदिक ११ भेद है जिनको ११ प्रतिमा भी कहते है दूसरी प्रतिमावाले व्रतिक श्रावकसे पहली प्रतिमावाला और पहिली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक नीचे दर्जेपर होता है। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि पाक्षिक श्रावक, मूल भेदोकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता हे अथवा उसको सबसे घटिया दर्जेका श्रावक कहते है। परन्तु शास्त्रोमें व्रतिकके समान, दर्शनिक हीको नही, किन्तु पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, जसा कि धर्मसग्रहश्रावकाचार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोको-द्वारा उनके स्वरूप-कथनसे प्रगट है.—

सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः।

---

* "पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक्॥ २०॥
—सागारधर्मामृत

अर्चादिनिरतस्त्वग्रपद कांक्षी हि पाक्षिकः ॥ ४ ॥

पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शन. ।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्चक ॥ ५४ ॥

मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः ।
न्याय्यां वार्त्ता वपु.स्थित्यै दधद्दर्शनिको मत. ॥ १५ ॥

ऊपरके श्लोकोमें, 'अर्चादिनिरत '(पूजनादिमें तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और 'अर्हदादि-पदाऽर्चक' (अर्हन्तादिकके चरणोका पूजनेवाला) इस पदसे दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें जिसका अंतिम काव्य, 'सैषः प्राथमकल्पिकः . ' इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचार वर्णन किया है । उसमे भी, "यजेत देव सेवेत गुरून् " इत्यादि श्लोको द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नित्यपूजन करनेका विधान किया है। भगवज्जिनसेनाचार्य भी आदिपुराणमे निम्नलिखित श्लोक-द्वारा सूचित करते हैं कि, पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावकमात्रका प्रथम कर्म है। यथा :—

एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ३८-३४

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविरतसम्यग्दृष्टिको लीजिये, अर्थात् ऐसे सम्यग्दृष्टिको लीजिये जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा, व्रत या संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारंभ नही किया। जैनशास्त्रोमें ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंसे प्रगट है कि स्वर्गादिकके प्राय. सभी देव. देवांगनासहित, समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन करते हैं, नन्दीश्वर द्वीपादिकमे जाकर जिनबिम्बोंका अर्चन करते हैं और अपने विमानोके चैत्यालयोमे नित्यपूजन

करते हैं। जगह जगह शास्त्रोमें नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। परन्तु वे सब 'अव्रती' ही होते हैं—उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नही होता। देवोको छोडकर अव्रती मनुष्योके पूजनका भी कथन शास्त्रोमे स्थान स्थानपर पाया जाता है। समवसरणमे अव्रती मनुष्य भी जाते है और जिनवाणीको सुनकर उनमेसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रीवीर जिनेंद्रके समवसरणमे जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे और जिन्होने अपनी राजधानीमे स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवशपुराणादिकमे मौजूद है। सागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ लिखा है कि:—

> दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
> श्रयन्त्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम्॥ ३२॥

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और परिजनादिक सम्पदाएँ मैं पहले, ऐसी शीघ्रता करती हुई प्राप्त होती हैं। और जो व्रतसे भूषित है उसका कहना ही क्या? उसको तो वे सम्पदाएँ और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि—धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णित पूजकके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे जो व्रती-श्रावक दूसरी प्रतिमाके धारक ही पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजकमात्रका स्वरूप नही है, किन्तु ऊचे दर्जेके नित्य पूजकका ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है।

यहाँपर इतना और भी प्रगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोमें आचरण-सम्बधी कथनशैलीका लक्ष्य प्राय: उत्कृष्ट ही

रक्खा गया मालूम होता है । प्रत्येक ग्रन्थमे उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोका वर्णन नही किया गया है । किसी किसी ग्रन्थमे ही यह विशेष मिलता है । अन्यथा, जहाँ तहाँ सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही कथन पाया जाता है । इसके कारणो पर जहाँतक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि. प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है । दूसरे, समस्त भेद-प्रभेदोका वर्णन करनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत ज्यादह बढ़ता है और इस ग्रन्थ-विस्तारका भय सदा ग्रन्थकर्ताओको रहता है । क्योकि विस्तृत ग्रन्थके सम्बध-मे पाठकोमे एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमे नही होती । तथा ऐसे ग्रन्थ-का रचना भी कोई आसान काम नही है—समस्तविषयोका एक ग्रन्थमें समावेश करना बड़ा ही दु साध्य कार्य है । इसके लिये अधिक काल अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी सविशेषरूपसे आव-श्यकता है । तीसरे, ग्रन्थोकी रचना प्राय ग्रन्थकारोकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रन्थकार संक्षेपप्रिय होते हैं और कोई विस्तार-प्रिय—उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रन्थमे, जिस विषयको मुख्य रक्खें और चाहे जिस विषयको गौरण । जिस विषयको ग्रन्थकार अपने ग्रन्थमें मुख्य रखता है उसका प्राय विस्तारके साथ वर्णन करता है और जिस विषयको गौरण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है । यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रन्थमे विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रन्थमे । बल्कि एक विषयकी भी कोई बात किसी ग्रन्थमे मिलती है और कोई किसी ग्रन्थमे । दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये—स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडश्रावकाचारमे, 'देवाधिदेवचरणे ' तथा 'अर्हच्चरणसपर्या ' इन पूजनके प्रेरक और पूजन फल-प्रतिपादक दो श्लोकोके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया । श्रीपद्मनन्दि आचार्यने, पद्मनंदिपचविंशतिकामे, गृहस्थयोंके

लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है, परन्तु पूजन और पूजकके भेदोका कुछ वर्णन नही किया। वसुनन्दिआचार्यने वसुनन्दिश्रावकाचारमें, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमे इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन किया है। इसीप्रकार सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार वगैरह ग्रथोंमें भी इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है, परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रन्थमें नही मिलता। कोई बात किसीमें अधिक है और कोई किसीमे। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाओंके कथनको लीजिये, बहुतसे ग्रन्थोमें इनका कुछ वर्णन नही किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया या प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२-व्रतोका वर्णन कर दिया है। रत्नकरडश्रावकाचारमे इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु सागारधर्मामृतमें अपेक्षाकृत प्राय अच्छा खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोंकी समझ लेनी चाहिए।

अब यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रन्थकार जिस विषयको गौण करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उत्कृष्टकी अपेक्षासे क्यों कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यो नही करता? इसका उत्तर यह है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। जबतक उत्कृष्ट दर्जेके आचरणमें अनुराग नही होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नही कहते *, इससे उसके लिये

---

* सागारधर्मामृतके प्रथम श्लोककी टीकामे लिखा है,—"यतिधर्मानुरागरहितानामागारिणा देशविरतेरप्यसम्यक्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालस खलु देशविरतिपरिणाम।" अर्थात् यतिधर्ममे अनुराग रहित गृहस्थियोंका 'देशव्रत' भी मिथ्या है। सकलविरतिमे जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणामका धारक हो सकता है। इससे

साधन अवश्य चाहिये। दूसरे ऊंचे दर्जेके आचरणसे किंचित् भी स्खलित होनेसे स्वत ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। ससारी जीवोंकी प्रवृत्ति और उनके संस्कार ही प्राय उनको नीचेकी ओर ले जाते हैं। इसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नही। तीसरे, ऊँचे दर्जेको छोडकर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमे दुर्बुद्धि और दडनीय कहा है, जैसा कि श्री अमृतचंद्र आचार्यके निम्न लिखित वाक्योंसे ध्वनित है:—

यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्। १८॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥ १९॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

यह शासन-दंड भी सक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्टकी अपेक्षासे कथन करनेमे कुछ कम प्रेरक नही है। इन्ही समस्त कारणोंसे आचरण-सबंधी कथनशैलीका प्राय उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रन्थमे तो यह उत्कृष्टता यहाँतक बढी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नही किया है, बल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि वसुनन्दिश्रावकाचार में, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकसधिभट्टारककृत जिनसंहितामे पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस संहितामे इतनी

भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्रका धारक भी कोई नहीं कहलाया जा सकता है जब ऊंचे दर्जेके आचरणका अनुरागी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे उसको धारण न कर सकता हो।

विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दसे ही पूजकाचार्यका कथन किया है। यद्यपि 'पूजक' शब्दसे पूजक (नित्यपूजक) और पूजकाचार्य (प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला पूजक) दोनोका ग्रहण होता है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये पूजासार ग्रन्थके, 'पूजक. पूजकाचार्यः इति द्वेधा स पूजक,' इस वाक्यसे प्रगट है – तथापि साधारण ज्ञान वाले मनुष्योको इससे भ्रम होना सभव है। अत. यहाँपर यह बतला देना ज़रूरी है कि उक्त जिनसंहिता मे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें पूजकाचार्यका ही स्वरूप है। वह स्वरूप इस सहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार दिया है —

अथ वक्ष्यामि भूपाल ! शृणु पूजकलक्षणम् ।
लक्षित भगवद्दिव्यवचस्यखिलगोचरे ॥ १ ॥
त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्य स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्रः स्यान्न दुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातकपरिदूषित. ॥ ३ ॥
नाऽधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽविदग्धो न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥४॥
नाऽतिलुब्धो न दुष्टात्मा नाऽतिमानो न मायिक. ।
नाऽशुचिर्न विरूपाङ्गो नाऽजानन् जिनसंहिताम् ॥५॥
निषिद्ध पुरुषो देव यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥६॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणमेवाऽऽर्यः कदाचिदपि नाऽपरम् ॥७॥
यदीन्द्रवृन्दाऽर्चितपादपङ्कज जिनेश्वर प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पद भवेत् तथैव कर्ता च जनश्च कारक. ॥८॥

भावार्थ इसका यह है कि 'हे राजन् ! मैं अब श्रीजिनभगवानके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हूँ, उसको तुम सुनो—

जो तीनो वर्णोंमेंसे किसी वर्णका धारक हो, रूपवान हो, सम्यग्दृष्टि हो, पंच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान हो और विद्वान हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है। (परन्तु) शूद्र, मिथ्यादृष्टि पापाचारमे प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीच कर्म करके आर्जीविका करनेवाला, रोगी अधिक अंगवाला, अगहीन, अधिक लम्बे कदका, बहुत छोटे कदका (वामना), भोला वा मूर्ख, निद्रालु या आलसी, अतिवृद्ध वालक, अति लोभी दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिनसहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नही होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको यत्नके साथ जिनेन्द्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए गुणोवाला ही ग्रहण करना चाहिये—दूसरा नही। यदि ऊपर कहे हुए गुणोवाला पूजक इन्द्र समूहसे वंदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे तो राजा, देश तथा पूजन करनेवाला और कराने वाला सब सुखके भागी होते है।'

अब यहाँपर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण नित्यपूजकका है या ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका यह स्वरूप हो नही सकता, क्योकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहाँ भी पूर्णरूपसे घटित होते हैं, जो कि धर्मसग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णन किये हुए ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये हैं। बल्कि इस स्वरूपमें कुछ बातें उससे भी अधिक हैं, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएं उपस्थित होती हैं और जो विस्तार-भयसे यहाँ नही लिखी जाती। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नही है, विद्वान् नही है, चतुर नही है अर्थात् भोला वा मूर्ख है, जो जिनसंहिताको नही जानता, जिसका कद अधिक लम्बा

या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अतिमानी, मायाचारी तथा लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नही ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तग (सकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३-१४ लाख जैनियोमें शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोंसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमें भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोकी आवश्यकता नही है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन के स्वरूपसे ही प्रगट है। अत आगमसे विरोध आने तथा पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पड़नेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्यपूजकका भी नही हो सकता। इसी प्रकार यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी नही हो सकता। क्योकि ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका जो स्वरूप धर्मसग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोमे वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आ चुका है, उससे इस स्वरूपमे बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है। यहाँपर अन्य बातोके सिवा त्रैवर्णिकको ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, परतु ऊपर अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो ही वर्णके मनुष्य पूजन कर सकते है और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकते है। इसलिये यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक तक ही पर्याप्त नही होता, बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ जाता है।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊँचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊँचेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। जब एक दर्जेका मुख्यरूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होजाता है,परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। जैसा ।॰ सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणु-

व्रत) और देशचारित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नही किया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि जिसमे महाव्रतीके लक्षण नही वह व्रती ही नही हो सकता । व्रती वह जरूर हो सकता है; परन्तु महाव्रती नही कहला सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रन्थकारमहोदय-के लक्ष्यमे यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्यपूजकका सर्वथा निषेध न करते—अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नही या पूजन करनेका अधिकारी नही । क्योकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्य-पूजन कर सकता है। यह दूसरी बात है कि वह कोई विशेष नैमि-त्तिक पूजन न कर सकता हो । परन्तु ग्रन्थकारमहोदय 'उक्त-लक्षणमेवार्यं. कदाचिदपि नाऽपरम्" इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्ध-द्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षणरहित दूसरे मनुष्यके पूजकपनेका निषेध करते है, बल्कि छटे श्लोकमे यहाँतक लिखते है कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षणरहित) पुरुष पूजन कर ले तो राजा, देश, पूजन करने-वाला और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेगे । इससे प्रगट है कि उन्होंने यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नही लिखा है । भावार्थ—इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्य पूजकके साथ नियमित अथवा अविनाभाव सम्बन्ध न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नही है। बल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कर्तासे सम्बन्ध रखता है जिस पूजन-विधानमे पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करनेवाला दूसरा होता है। क्योकि स्वयं उपर्युक्त श्लोकोमे आये हुए "कर्तृकार-कयो:' 'गृह्णीयात्' और 'तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः' इन पदोसे-भी यह बात पाई जाती है। 'यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं' 'उक्तलक्षण-

मेवार्यः' ये पद साफ बतला रहे है कि यदि यह वर्णन नित्यपूजकका होता तो यह कहने या प्रेरणा करनेकी जरूरत नही थी कि पूजन-विधान करानेवाले को तलाश करके उक्त लक्षणोवाला ही पूजक (पूजनविधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नही। इसी प्रकार पूजन-फलवर्णनमे, 'कर्तृकारकयो' इत्यादि पदो-द्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई जरूरत नही थी, परन्तु चूँकि ऐसा किया गया है, इससे स्वय ग्रन्थकारके वाक्योंसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नही है। तब यह स्वरूप किसका है ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पडता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये है—एक नित्यपूजन करनेवाला और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करने वाला—उनमेसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादि विधान करनेवाले पूजकका ही हो सकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजकाचार्य और इन्द्र भी कहते है। प्रतिष्ठादि विधानमे ही प्राय ऐसा होता है कि विधानका करने वाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा। तथा ऐसे ही विधानोका शुभाशुभ असर कथचित् राजा, देश, नगर और करानेवाले आदि पर पडता है। प्रतिष्ठा-विधानमे प्रतिमाओमें मन्त्रद्वारा अर्हंतादिककी प्रतिष्ठाकी जाती है। अत. जिस मनुष्यके मन्त्रसामर्थ्यसे प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती हैं वह कोई साधारण व्यक्ति नही हो सकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप धर्मसग्रहश्रावकाचार, पूजासार और प्रतिष्ठासारोद्धार आदिक जैनशास्त्रोमे स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्राय सब बाते मिलती है, जिससे भले प्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादि-विधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमे पूजकाचार्यया

प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नही है तथापि प्रसंगवश यहाँपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करादेना जरूरी है, जिससे, यह मालूम करके कि दूसरे शास्त्रोमे भी प्राय· यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्य का वर्णन किया है, इस विषयमे फिर कोई सदेह बाकी न रहे। सबसे प्रथम धर्मसंग्रहश्रावकाचारको ही लीजिये। इस ग्रन्थके ९ वे अधिकारमे, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं १४५ से १५२ तक आठ श्लोको मे पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैः—

इदानीं पूजकाचार्यलक्षण प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः॥ १४५॥
कुलजात्यादिसशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः॥ १४६॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्वित.।
शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः॥ १४७॥
साङ्गोपाङ्गयुत. शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः॥ १४८॥
वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारक.।
निरभिमानी च मौनी च त्रिसंध्यं देववन्दकः॥ १४९॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः॥ १५०॥
न हीनाङ्गो नाऽधिकांगो न प्रलम्बो न वामनः।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः॥ १५१॥
न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च।
नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी॥ १५२॥

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोमे जो—"ब्राह्मणः (ब्राह्मण हो), क्षत्रियः (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नाना-लक्षणलक्षितः (शरीरसे सुन्दर हो), सद्दृष्टिः (सम्यग्दृष्टि हो), देश-

संयमी (अणुव्रती हो), जिनागमस्थ वेत्ता (जिनसहिता आदि जैन-शास्त्रोंका जाननेवाला हो), अनालस्य. (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावरूप विनय-सहित हो), शौचाचमनसोत्साहः (शौच और आचमन करनेमे उत्साहवान् हो), सांगोपांगयुत (ठीक अगोपागका धारक हो),शुद्ध (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो), स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसतोषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके जो दो भेद है उनमे-से किसी भेदका धारक हो), नीरोग (रोग रहित हो), सत्क्रिया-रतः (नीची क्रियाके प्रतिकूल ऊची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), वारिमंत्रव्रतस्नात. (जलस्नान, मत्रस्नान और व्रतस्नानसे पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनाग. (अग-हीन न हो) नाऽधिकांग (अधिक अगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे कदका न हो), न वामनः (छोटे कदका न हो), न कुरूपी (बदसूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्ध (बूढा न हो), नाऽतिबालक (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाढ्य. (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोमेसे किसी कषायका धारक न हो), न च व्यसनी (और पापाचारी न हो),"—इत्यादि विशेषण-पद आये है, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामे जो विशेषण पूजकके दिये है वे सब यहाँपर साफ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये है। बल्कि श्लो० न० १५१ तो जिनसहिताके श्लोक न ४ से प्राय यहाँतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये। इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोमे जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसहिताके श्लोक न० ६ और ८ से बिल्कुल मिलता जुलता है।

ईदृग्दोषभृदाचार्य. प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत्।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादि प्रलयं व्रजेत्॥ १५३॥

कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् ।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ।। १५४ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम् ।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ।। १५५ ॥

अर्थात्—यदि इन दोषोंका धारक पूजकाचार्य कहीपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते है और प्रतिष्ठा करने और करानेवाला दोनो भी अच्छे फलको प्राप्त नही होते, इसलिये उपयुक्त उत्तम लक्षणोंसे विभूषितही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है। ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये है, यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोदिन वृद्धिको प्राप्त होते है।

पूजासार ग्रन्थमे भी, नित्य पूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर श्लोक नं० १६ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया गया है। इस स्वरूपमे भी पूजकाचार्यके प्राय वे ही सब विशेषण दिये गये है जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे वर्णित है और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यथा—

"लक्षणोद्भासी[1], जिनागमविशारदः,सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, देशसंयमभूषित वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्यः, ऋजु, विनयसंयुतः, पूतात्मा[2], पूतवाग्वृत्तिः[3], शौचाचमनतत्परः, सांगोपांगेन सशुद्ध, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदाररतिकोऽपि वा, जलमंत्रव्रतस्नातः, निरभिमानी, विचक्षणः, सुरूपो, सत्क्रियः, वैश्यादिषु समुद्भव" इत्यादि।

इसी प्रकार प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमे श्लोक

---

१ शरीरसे सुन्दर हो २ पापाचारी न हो ३ सच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो।

न०१० से १६ तक जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमेंभी—
"कल्यांणांग:, रुजा हीन:, सकलेन्द्रिय:, शुभलक्षणसम्पन्न, सौम्यरूप:, सुदर्शन:, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्य:, विकर्मकरणोऽज्झित:, ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टि:, नि.कषाय., प्रशान्तात्मा, वेश्यादिव्यसनोज्झित:, दृष्टसृष्टक्रिय., विनयान्वित:, शुचि, प्रतिष्ठाविधिवित्सुधी:, महापुराणशास्त्रज्ञ:, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—"

इत्यादि विशेषण पदोसे प्रतिष्ठाचार्यके प्राय: वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये है, जो कि जिनसहितामे पूजकके और धर्मसग्रहश्रावकाचार तथा पूजासार ग्रन्थोमे पूजकाचार्यके वर्णन किये है। यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको सक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे, किसीने एक शब्दमे वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोमें, अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमे वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योको अच्छीतरह समझानेके लिये अनेक विशेषणोंमें वर्णन कर दिया, परन्तु आशय सवका एक है, अत सिद्ध है कि जिनसहितामे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह सक्षिप्त रूपसे, आचरण-सम्बधी कथनशैलीका रहस्य है। धर्मसग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थमे जो, साधारणनित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप लिखा गया है उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनो ग्रन्थोमे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊँचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमे शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे शूद्र भी ऊँचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है तथापि इतना और समझ लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोका पात्र है जो कि, नित्यपूजकके स्वरूपमे वर्णन किये गये है और वह ११ वी प्रतिमाको

धारण करके ऊँचे दर्जेका श्रावक भी हो सकता है, अत. उसके ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकनेमें कोई बाधक भी प्रतीत नहीं होता। वह पूर्णरूपसे नित्यपूजनका अधिकारी है।

अब जिन लोगोका ऐसा खयाल है कि शूद्रोका उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) संस्कार नही होता और इसलिये वे पूजनके अधिकारी नही हो सकते; उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी खास भेदको छोड़कर आमतौर पर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र-जनेऊ) का होना जरूरी नही है। स्वर्गादिकके देव और देवागनाये प्राय सभी जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजन करते है और खास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये है, परन्तु उनका यज्ञोपवीत सस्कार नही होता। ऐसी ही अवस्था मनुष्य-स्त्रियोकी है। वे भी जगह जगह शास्त्रोमे पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई है— स्त्रियोकी पूजन-सम्बन्धिनी असख्य कथाओसे जैनसाहित्य भरपूर है—उनका भी यज्ञोपवीत-सस्कार नही होता। ऊपर उल्लेख की हुई कथाओमे जिन गज-ग्वाल आदिने जिनेन्द्रदेवका पूजन किया है, वे भी यज्ञोपवीत-सस्कारसे सस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे। इससे प्रगट है कि नित्यपूजकके लिये यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत होना लाजमी और जरूरी नहीं है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है। बल्कि वह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है; जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८-३९-४१मे, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

"व्रतचिन्हं दधत्सूत्रम् . ..."
"व्रतसिद्ध्यर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् ..."
"व्रतचिन्ह भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुर.सरम् ..."
"व्रतचिन्हं च नः सूत्र पवित्र सूत्रदर्शितम्।"
"व्रतचिन्हानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः।"

वर्त्तमान प्रवृत्ति (रिवाज) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होत

है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना जरूरी नही समझा जाता; क्योंकि स्थान-स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत हैं परंतु यज्ञोपवीतसंस्कारसे सस्कृत (जनेऊधारक) बिरले ही जैनी देखनेमे आते है। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते है जिन्होने नाममात्र कन्धेपर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीत सबधी क्रियाकर्मसे वे कोसों दूर है। दक्षिण देशको छोडकर अन्य देशोंमे तथा खासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्तप्रांत और पजाबदेशमे तो यज्ञोपवीत-सस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोसे उठ गई है, परन्तु नित्य-पूजन सर्वत्र बराबर होता है। इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नही है और इसलिये जनेऊका न होना शूद्रोंको नित्यपूजन करनेमे किसी प्रकार भी बाधक नही हो सकता। उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मदिरमे प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके, परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खडित नही हो जाता। वह अपने घरपर त्रिकाल-देववन्दना कर सकता है, जो पूजनमे दाखिल है। तथा तीर्थस्थानो, अतिशयक्षेत्रो और अन्य ऐसे पर्वतो पर—जहाँ खुले मैदानमे जिनप्रतिमाएँ विराजमान है और जहाँ भील, चाण्डाल तथा म्लेच्छ तक भी बिना रोकटोक जाते है—जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बाहरसे भी मदिरके शिखरादिकमे स्थित प्रतिमाओंका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमे प्राय. जो जिनमदिर बनवाये जाते थे उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहाँ सर्वसाधारणकी दृष्टि पड़ सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा ज़रूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियाँ भी, जो अस्पृश्य होनेके कारण, मदिरमे प्रवेश नही कर सकती, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सके। यद्यपि आजकल ऐसे मदिरोंके बनवानेकी वह प्रशसनीय प्रथा जाती रही है—जिसका

प्रधान कारण जैनियोका क्रमसे ह्रास और उनमेसे राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है—तथापि दक्षिण देशमें, जहाँ-पर अन्तमें जैनियोका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहाँसे जैनियोका राज्य उठे हुए बहुत अधिक समय भी नही हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमदिर विद्यमान है जिनके शिखरादिकमें जिनप्रतिमाएँ अकित है।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी हैं और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते है। नित्यपूजनमे उनके लिये यह नियम नही है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हो, जो कि धर्म-सग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोमे वर्णन किये है। बल्कि उनके बिना भी वे पूजन कर सकते है और करते है। क्योकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रन्थोमे वर्णन किया है वह ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है और जब वह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वत. सिद्ध है कि उस स्वरूपमे वर्णन किये हुए गुणोमेसे यदि कोई गुण किसीमे न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन) परिग्रह इन पच पापो या इनमेसे किसी पापका त्याग नही है, जो दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रत या उनमेसे किसी शीलव्रतके धारक नही है, अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नही है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित है, वे भी नित्य-पूजन कर सकते हैं और उनको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा? अथवाकी फल प्राप्तिमे अपने अपने भावोकी अपेक्षा उनमें क्या कुछ न्यूनाधिकता (कमी बेशी) होगी? और वह यहाँपर विवेचनीय नही है।

यद्यपि आजकल अधिकाश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए

देखे जाते हैं जो हिंसादिक पाँच पापोके त्यागरूप पञ्चअणुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नही है, तथापि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नही, बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहाँ तहाँ जैनशास्त्रोमे दिये हुए अनेक उदाहरणोसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है। यथा.—

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नही था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इस विषयमे उसकी जो कुछ भी प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, 'जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नहीं करूंगा।' नही कह सकते उसने कितनी परस्त्रियोका—जो किसी भी कारणसे उससे रजामद (सहमत) होगई हो—सतीत्वभग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नही था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोके पालनकी तो वहा बात ही कहाँ? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमे अनेक स्थानोपर ऐसा वर्णन मिलता है कि—'महाराजा रावणने बडी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेद्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमदिर बनवाये। वह राजधानीमे रहते हुए अपने राजमन्दिरोके मध्यमे स्थित श्रीशातिनाथके सुविशाल चैत्यालयमे पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बडे ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमन्दिरोका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया था।'

कौशांबी नगरीका राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था। उसने वीरक सेठकी स्त्री वनमालाको अपने घरमें डाल लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराजको वनमालासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेनाचार्यकृत तथा जिनदासब्रह्मचारिकृत दोनों हरिवंशपुराणोंमें लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पापियों तथा अव्रतियोंका पापाचरण रहते भी उनके पूजनका प्रतिबंधक नहीं हुआ और न किसी स्थानपर ऐसे लोगोंके इस पूजनकर्मको अनुचित बतलाया गया। वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेन्द्रदेवका भावपूर्वक पूजन स्वयं पापोंका नाश करनेवाला है, शास्त्रोंमें इसे अनेक जन्मोंके संचित पापोंको भी क्षणमात्रमें भस्म कर देनेवाला वर्णन किया है*। इसीसे पापोंकी निवृत्ति और इष्ट-सिद्धिके लिये लोग जिनेन्द्रका पूजन करते हैं। फिर पापाचरणियोंके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामें, पूजाकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। पूजासार ग्रन्थमें साफ ही लिखा है कि —

ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्करः सर्वपापकृत्।
जिनाङ्घ्रिगन्धसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम्॥

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या किये हुए हो, दूसरोंका माल चुरानेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापोंका करनेवाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेन्द्र भगवानके चरणोंका भक्तिभावपूर्वक चंदनादि सुगन्ध द्रव्योंसे पूजन करनेसे तत्क्षण उन पापोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होजाता है। इससे साफ तौर पर प्रगट है कि

---

* जिनपूजा कृता हन्ति पापं नानाभवोद्भवम्।
बहुकालचितं काष्ठराशिं वह्निरिवाखिलम्॥६-१०३॥
—धर्मसंग्रहश्रावकाचार

पापीसे पाप। और कलंकीसे कलंकी मनुष्य भी श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन कर सकता है और भक्तिभावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिये जिसप्रकार भी बन सके सबको नित्यपूजन करना चाहिये। सभी नित्यपूजनके अधिकारी हैं और इसीलिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाधिकार है। समानाधिकारसे यहाँ कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एक साथ मिलकर,एक थालीमे एक संदली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजन करनेके अधिकारी हैं, किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी है। वे, एक रसोई या भिन्न भिन्न रसोईयोसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाजत (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते है।

दस्साधिकार

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जाति-विशेष नही रही जिसके पूजनाधिकारकी मीमासा की जाय—जैनधर्ममे श्रद्धा और भक्ति रखनेवाले ऊँच-नीच सभी प्रकारके मनुष्योंको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है—तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमे इस प्रकारकी कुछ शंका अवशेष हो कि दस्से (गोटे) जैनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नही, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममे दस्से' और 'बीसे' का कोई भेद नही है, न कहीं पर जैनशास्त्रोमें 'दस्से' और 'बीसे' शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंसे बाह्य(बाहर) बीसोंका कोई पाँचवाँ वर्ण नही है उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नही है। चारो वर्णोंमें ही उनका भी अन्तर्भाव

है। चाहे जो, बल्कि सभी मनुष्योंको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी यह अधिकार प्राप्त है। वैश्य जातिके दस्सोंका वर्ण वैश्य ही होता है। वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यंचोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं। जब शूद्र भी तथा तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं और तिर्यंच भी पूजते हैं? कहते हैं। तब वैश्यजातिके दस्से पूजनके अधिकारी क्यों नहीं? क्या वे पंचेन्द्रिय या मनुष्य नहीं होते? अथवा भगवानके नाम उच्चारण नहीं कर सकते? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते हैं और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वंचित रक्खे जा सकते हैं? पूजन करना भगवान् जिनेन्द्रका गुणानुवाद करना है। उसके साथ धनवान, दरिद्र-वान या गुणवान आदि जातियोंका कोई बन्धन नहीं है—सबके लिये समान उपदेश है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्योंके वाक्योंसे प्रगट है। पूर्वाचार्योंने तो ऐसे मनुष्योंको भी पूजनाधिकारसे वंचित नहीं रक्खा जो अत्यंत पापमें मग्न हैं और पापीसे पापी कहलाते हैं। फिर वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या हो सकती है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही हैं, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतः सिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी हैं।

शोलापुरमें दस्से बीनकोंके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मंदिर और अनेक ही शास्त्र मौजूद हैं। ग्वालियरमें भी दस्सोंका एक मंदिर है। सिकन्दरा नगरमें दस्सोंके बहुतसे जैनमंदिर हैं। श्रीसम्मेदशिखर, शत्रुंजय, मांगीतुंगी और कुन्थलगिरि तीर्थों पर शोलापुर वाले

---

* दस्सोंको कहीं कहीं 'छोटीसरण' (?) या 'छोटीसेन'के नामसे तथा 'बिनैकया' भी कहते हैं।

प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकरणजी दस्साके बनवाये हुए जिन मंदिर हैं। इन समस्त मंदिर और चैत्यालयोंमें दस्सा, बीसा, सभी लोग बराबर पूजन करते है।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान सेठ हीराचद नेमिचंदजी आनरेरी मजिस्ट्रेट दस्सा जैनी है। उनके घरमें एक चैत्यालय है, जिसमे वे और अन्य भाई सभी पूजन करते है। इसी प्रकार अन्य स्थानोपर भी दस्सा जैनियोके मन्दिर है, जिनमे सब लोग पूजन करते हैं। जहाँ उनके पृथक् मंदिर नही है वहाँ वे प्राय बीसोंके मंदिरमें ही दर्शन-पूजन करते है।

यह दूसरी बात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करने-को अथवा मदिरके वस्त्रो और मदिरके उपकरणोंमें पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोमे पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो, और इसी अभिप्रायके अनुसार कही कहींके बीसे अपने मंदिरोंमे दस्सोंको मदिरके वस्त्र पहनकर और मदिरके उपकरणोको लेकर अष्ट द्रव्य-से पूजन न करने देते हो, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते है—शास्त्रोमे इसका कोई आधार और प्रमाण नही है। पूजन-सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानो और अतिशयक्षेत्रोकी पूजा-वन्दनाको दस्से-बीसे सभी जाते हैं और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते है।

श्रीतारंगाजी तीर्थपर नानचद पदमसी नामके एक मुनीम है जो दस्सा जैनीहै। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मदिरोमे, मदिरके वस्त्रोको पहन कर और मदिरके उपकरणोको लेकर ही, नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। अन्य स्थानोपर भी—जहाँके बीसोमे इस प्रकारकी कल्पना नहीं है—दस्सा जैनी बीसोंके मंदिरमे उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते है जिसप्रकार कि वे अपने मदिरोमें करते हैं। जिनको ऐसा देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वय देख सकते है। उधर जाने पर उनको ऐसी जैन जातियाँ भी आम तौरपर

पूजन करती हुई मिलेगी जिनमे पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई है। एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचन्दने कराई थी। पिछले साल भी दस्सा जैनियोकी दो प्रतिष्ठाएँ हो चुकी हैं। प्रतिष्ठा कराने वाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमे वैठते है और स्वयं भगवानका अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है। इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है।

किसी किसीका कहना है कि अपध्वसज अर्थात् व्यभिचारजातको ही दस्सा कहते हैं और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नही होते, परन्तु ऐसा कहनेमे कोइ प्रमाण नही है। जव प्रवृत्तिकी ओर देखते है तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमे डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वयं व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी 'दस्सा' समझा जाता है। यदि कोई बीसा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा वनादिया जाता है और उसकी सतान भी दस्सोमे ही परिगणित होती है। इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी सतान 'व्यभिचारजात' न होते हुए भी 'दस्सा' ही कहलाती हैं। वहुधा वह संतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, व्यभिचारजात होते हुए भी, दस्सोमें शामिल नही की जाती। कही कही पर दस्सेकी कन्यासे विवाहकर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज(च्युत) करके दस्सोमे शामिल कर देते है, परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि वहुतसे स्थानोमे यह प्रथा नही है। वहाँपर दस्सों और बीसोंमे परस्पर विवाह

संबंध होनेसे कोई जातिच्युत नही किया जाता। हमारी भारतवर्षीय दिगम्बरजैनमहासभाके सभापति, जैनकुलभूषण श्रीमान् सेठ माणिकचंदजी जे.पी बम्बईके भाई पानाचदजीका विवाह भी एक दस्सेकी कन्यासे हुआ था, परन्तु इससे उनपर कोई कलंक नही आया और कलंक आनेकी कोई वात भी न थी। प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोमे, ऐसी ही देखी जाती है, जिससे ऐसे विवाह सम्बन्धो पर कोई दोषारोपण नही हो सकता। अधिक दूर जानेकी जरूरत नही है। श्रीनेमिनाथजी तीर्थंकरके चचा वसुदेवजीको ही लीजिये। उन्होंने एक व्यभिचारजातकी पुत्रीसे, जिसका नाम प्रियगुसुन्दरी था, विवाह किया था। प्रियंगुसुन्दरीके पिताका अर्थात् उस व्यभिचारजातका नाम एणीपुत्र था। वह एक तापसीकी कन्या ऋषिदत्तासे, जिससे श्रावस्ती नगरीके राजा शीलायुधने व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था। यह कथा श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखी है। इस विवाहसे वसुदेवजी पर, जो वड़े भारी जैनधर्मी थे, कोई कलक नही आया। न कही पर वे पूजनाधिकारसे वंचित रक्खे गये। वल्कि उन्होने श्रीनेमिनाथजीके समवसरणमे जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त 'प्रियगुसुन्दरी' राणीने जिनदीक्षा धारण×की है। इससे प्रगट है कि व्यभिचारजातका ही नाम दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात (अपध्वसज) पूजनाऽधिकारसे वंचित है। "शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वसजाः स्मृताः"—समस्त अपध्वसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोके समानधर्मी हैं—यह वाक्य यद्यपि मनुस्मृतिका है, परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वसजोको ही दस्से समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वंचित नही हो सकते।

× व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते हैं।

क्योंकि शूद्रोंको साफ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन ऊपर विस्तारके साथ आचुका है। जब शूद्रोंको पूजनका अधिकार प्राप्त है, तब उनके समान धर्मियोंको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वतः सिद्ध है।

पूजनका अधिकार ही क्या ? जैनशास्त्रोंके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वंसज लोग जिनदीक्षा तक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोंको भी प्रायः नहीं कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णको ही लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था और इसलिये वह 'अपध्वंसज' और 'कानीन' कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखा है कि महाराजा जरासिंधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारिकृत हरिवंशपुराणमें भी ऐसा ही लिखा है, जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है —

विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम्।
दीक्षां सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके ॥ २६-२०८ ॥

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तब उन्होंने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली, जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि 'अपध्वंसज' लोग अपने वर्णको छोड़कर 'शूद्र' नहीं हो जाते, बल्कि वे शूद्रोंसे कथंचित् ऊँचा दर्जा रखते हैं और इसीलिये दीक्षा धारण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका पूजनाऽधिकार और भी निर्विवाद हो जाता है।

यदि थोड़ी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित रक्खा जावे तो कुंड, गोलक, कानीन और सहोढादिक सभी प्रकारके

व्यभिचारजात पूजनाधिकारसे वंचित रहेगे। भर्तारके जीवित रहनेपर जो सतान जारसे उत्पन्न होती है वह 'कुंड' कहलाती है। भर्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको 'गोलक' कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा जो सतान उत्पन्न होती है वह 'कानीन' कही जाती है और जो संतान ऐसी कुँवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है उसको 'सुहोढ' कहते है। इन चारो भेदोमेसे गोलक और कानीनकी परीक्षा (पहचान) तथा प्राय सहोढकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है, परन्तु कुडसतानकी परीक्षाका और खासकर ऐसी कुंडसतानकी परीक्षाका कोई साधन नही है, जो भर्त्तारके बारहो महीने निकट रहते हुए अर्थात् परदेशमे न होते हुए उत्पन्न हो। कुडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नही हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमे भ्रम होना सभव है—वह भी ठीक ठीक नही कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्त्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वचित करने पर कुडसतान भी पूजन नही कर सकती, और कुंड-सतानकी परीक्षा न हो सकनेसे सदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। सदिग्धाऽवस्थामे किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नही होसकता, इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यह बडी भारी हानि होगी। अत कोई व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वचित नही होसकता। दूसरे, जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते है तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है? वे अवश्य पूजन कर सकते हैं।

वास्तवमे, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारसे वचित नही रह सकता। जिन लोगोने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिन-

का सिद्धान्त है—और जो आत्मासे परमात्मा बनना नही मानते, यदि वे लोग शूद्रोको या अन्य नीच मनुष्योको पूजनके अधिकारसे वचित रक्खे तो कुछ आश्चर्य नही, क्योकि उनको यह भय हो सकता है कि, कही नीचे दर्जेके मनुष्योके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोंका ऐसा सिद्धान्त नही है। जैनी लोग परमात्माको परम वीतरागी शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते है। उनके इष्ट परमात्मामे राग, द्वेष, मोह और काम-क्रोधादिक दोपोका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा-स्तुतिसे उस परमात्मामे कोई विकार उत्पन्न नही होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामे किसी भी कारणसे कोई बाधा उपस्थित हो सकती है। इसलिये किसी क्षुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामे कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अपूज्य हो जायगी अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप-बन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोके हृदयमे उत्पन्न नही हो सकता। जैनियोके यहा इस समय भी चांदनपुर (महावीरजी)आदि अनेक स्थानोपर ऐसी प्रतिमाओंके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योद्वारा भूगर्भसे निकाली गईं,स्पर्शी गईं, पूजी गई और पूजी जाती है,परन्तु इससे उनके स्वरूपमे कोई परिवर्त्तन नही हुआ, न उनकी पूज्यतामें कोई फर्क(भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पडा,प्रत्युत वे बराबर जैनियोसेही नही किन्तु अजैनियोंसे भी पूजी जाती है और उनके द्वारा सभी पूजकोका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अत जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नही हो सकता। दस्सा, अपध्वंसज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनका पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक

द्वेष, आपसी वैमनस्य, धार्मिक भावोके अभाव और हृदयकी सकीर्णता आदि कारणोसे—एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घरू या अपने अधिकृत मंदिरमे ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमे किसी न किसी प्रकारसे बाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाऽधिकार पर कोई असर नही पड सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मदिरमे नही तो अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वय समर्थ और इस योग्य होने पर अपना दूसरा नवीन मदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्थानोपर ऐसे भी नवीन मदिरोकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि आगम और सिद्धान्तसे तो दस्सोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानो पर वे बराबर पूजन करते भी है, परन्तु कही कही दस्सोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दड है, तो कहना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लघन करके धर्मगुरुओके उद्देश्य-विरुद्ध ऐसा दडविधान करना कदापि न्यायसगत और माननीय नही हो सकता और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि 'अमुक मनुष्य धर्म सेवनसे वचित किया गया और उसकी सतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वचित रहेगी।'

सासारिक विषयवासनाओमें फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्मकार्योंमे शिथिल रहते है, उलटा उनको दड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावे, यह कहाकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैषिता होसकती है ? सुदूरदर्शी विद्वानोकी दृष्टिमे ऐसा दड कदापि आदरणीय नही हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमे तो वही दड प्रशसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन तथा अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिले और उसके द्वारा वे अपने पापोका शमन या सशोधन कर सकें—न यह कि डूबतेको

और धक्का दिया जावे। बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुडाकर उसको पाप-कार्योंके करनेका अवसर देवे।

इसके सिवा जो धर्माऽधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पंचायतको अधिकार ही क्या है ? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्तव्य हो सकता है कि वह उस भाई पर कुछ आर्थिक दड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाधित करे और जब तक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तब तक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोमे अर्थात् विवाह-शादी आदिक लौकिक कार्योंमे शामिल न करे और न बिरादरी उसके यहाँ ऐसे कार्योंमे सम्मिलित हो। इसी प्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बन्ध भी छोड़ सकती है। परन्तु, इससे अधिक, धर्ममे हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे बाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओकी अवज्ञा–अवहेलना करती है।

जिन लोगो (जैनियो) के हृदयमे ऐसे दडविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमे विघ्न करना बडा भारी पाप है। अंजनासुन्दरीने अपने पूर्वजन्ममे थोडेही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन-पूजनमे अतराय डाला था। उसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममे २२ वर्षतक पतिका दु सह वियोग सहना पड़ा और अनेक सकट तथा आपदाओंका सामना करना पडा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है।

रयणसार ग्रन्थमे श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि—दूसरो-

के पूजन और दानमे अन्तराय (विघ्न)करनेसे जन्मजन्मान्तरमे क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगदर, जलोदर, नेत्रपीडा. शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोमे) परिभ्रमरण आदि अनेक दुःखोकी प्राप्ति होती है. --

खयकुट्टसूलमूलो लोयभगदरजलोदरक्खिसिरो ।
सीदुण्हबह्मराइ पूजादाणंतरायकम्मफल ॥ ३३ ॥

इसलिये पापोसे डरना चाहिये और किसीको दडादिक देकर पूजनसे वचित करना तो दूर रहा, भूल कर भी ऐसा कार्य नही करना चाहिये जिससे दूसरोंके पूजनादिक धर्मकार्योमे किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपसंहार

उचित तो यह है कि, दूसरोको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दिया जाय और दूसरोकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाँय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सके और जैन-धर्ममे श्रद्धा तथा भक्ति रखते हुए खुशीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादि करके अपनी आत्माका कल्याण कर सके ।

इसके लिये जैनियोको अपने हृदयकी संकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी जरूरत है । अपने पूर्वजोके उदार-चरितों-को पढकर, जैनियोको उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोका हित-साधन करना चाहिए ।

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरत महाराज प्रथम चक्रवर्तीने अपनी राजधानी अयोध्यामे रत्नखचित जिनबिम्बोसे अलकृत चौबीस चौबीस घटे तय्यार कराकर उनको, नगरके बाहरी दरवाजो और राजमहलोके तोरणद्वारो तथा अन्य महाद्वारो पर, सोनेकी

जजीरोमे बाँधकर,प्रलम्बित किया था। जिस समय भरतजी इन द्वारोमेसे होकर बाहर निकलते थे या इनमे प्रवेश करते थे उस समय वे तुरन्त अर्हन्तोका स्मरण करके, इन घटोमे स्थित अर्हत्प्रतिमाओंकी वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगो तथा अन्य प्रजाजनोने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसद किया, वे सब उन घटोका आदर-सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोने भी अपनी अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घटे अपने अपने घरोके तोरणद्वारोपर लटकाये *। भरतजीका यह उदारचरित बडा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी बहुत कुछ शिक्षा प्रदान करनेवाला है। उनके अन्य उदार और चरितोका बहुत कुछ परिचय आदिपुराणके देखनेसे मिल सकता है। इसीप्रकार और भी सैकड़ो और हजारो महात्माओका नामोल्लेख

---

* उपर्युक्त आशयको प्रगट करने वाले आदिपुराण (पर्व ४१) के वे आर्षवाक्य इस प्रकार है —

निर्मापितास्ततो घटा जिनबिम्बैरलकृता. ।
परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभि ॥ ८७ ॥
लम्बितारश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमा। ।
राजवेश्म-महाद्वार-गोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभु ।
तदा मौल्यग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥ ८९ ॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाऽभिवन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधी. ॥ ९० ॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना ।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः ॥ ९३ ॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्म-तोरण-दामसु ।
यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदा ॥ ९४ ॥

किया जा सकता है। जैनसाहित्यमे उदारचरित-महात्माओंकी कमी नही है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोपर खुले मैदानमे तथा गुफाओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान है और दक्षिणादिदेशोमे कही कहीपर जिनप्रतिमओसहित मानस्तंभादिक पाये जाते है, वे सब जैनपूर्वजो-की उदार-चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त है। उदारचरित-महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकवार विश्वव्यापी हो चुका है। अब भी यदि राष्ट्रधर्मका सेहरा किसी धर्मके सिर बँध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमे इतनी सकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोके लिये बडी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोका, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'× यह खास सिद्धान्त था, क्या वे उसको यहाँ तक भुला बैठे कि अपने सहधर्मियोमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करें। जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमे ईर्षा-द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्यो-सबधी कषायको धार्मिक कार्यमे निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य है। जैनियोको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपनी अपनी क्रियाओ (वृत्ति)के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये है। वास्तवमे चारो ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एव जिनेद्रदेवकी पूजा-उपासना करनेके योग्यहै और इस सम्वन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सव आपसमे भाई भाईके समान है❀। इसलिये, हृदयकी संकीर्णता-

---

× समस्त भूमडल अपना कुटुम्व है।

❀ विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा. प्रोक्ता. क्रियाविशेषत.।
जैनधर्मे परा शक्तास्ते सर्वे वान्धवोपमा.॥

—सोमसेनाचार्य

को त्यागकर धार्मिक कार्योके अनुष्ठानमे सब जैनियोको परस्पर बन्धुताका बर्त्ताव करना चाहिये और आपसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके धर्मकार्योंमे सहायक होना चाहिये । इसी प्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवे या आना चाहे, उनको सब प्रकारसे धर्म-साधनमे सहायता देनी चाहिये ।

आशा है हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमासाको पढकर सत्यासत्यके निर्णयमे दृढता धारण करेगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहाँ कही, सुशिक्षाके अभाव और संसर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओके उद्देश्य-विरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसके उठाने और उसके स्थानमें शास्त्रसम्मत समीचीनरीतिका प्रचार करनेमे दत्तचित्त और यत्नशील होगे ।

६

जैनियोंका अत्याचार

जो जैनी वनस्पतिकायके जीवोंकी भी रक्षा करते है, उनके ऊपर अत्याचारके दोषका आरोपण होते देख बहुतसे पाठक चौकेंगे—परन्तु नही, चौकनेकी जरूरत नही है। वास्तवमे जैनियोने घोर अत्याचार किया है और वे अब भी कर रहे हैं। हमारे भाइयोने अभी तक इस ओर लक्ष्य ही नही दिया और न कभी एकान्तमे बैठकर इस पर विचारही किया है। यदि जैनियोके अत्याचारकी मात्रा बढी हुई न होती तो आज जैनियोका इतना पतन कदापि न होता—जैनियोकी यह दुर्दशा कभी न होती। जैनियोका समस्त अभ्युदय नष्ट होजाना, इनके ज्ञान-विज्ञानका नामशेष रह जाना, अपने बल-पराक्रमसे जैनियोका हाथ धो बैठना, अपना राज्य गँवा देना, धर्मसे च्युत और आचारभ्रष्ट हो जाना तथा जैनियोकी सख्याका दिनपरदिन कम होते जाना और जैनियोका सर्वप्रकारसे नगण्य और निस्तेज हो रहना, यह सब अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है—इन सबका कोई प्रधान कारण जरूर है, और वह है 'जैनियोका अत्याचार'।

जिस समय हम जैनसिद्धान्तको देखते है, जैनियोकी कर्म-फिलासोफीका अध्ययन करते हैं और साथ ही जैनियोकी यह पतितावस्था क्यो? लौकिक और परमार्थिक दोनो प्रकारकी उन्नतिसे जैनी इतने पीछे क्यो? इस विषयपर अनुसधानपूर्वक गभीर भावसे गहरा

विचार करते है तो उस समय हमको मालूम होता है और कहना पडता है कि यह सब जैनियोके अपने ही कर्मोका फल है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। अवश्य ही जैनियोने कुछ ऐसे काम किये है जिनका कटुक फल वे अब तक भुगत रहे है। यह कभी हो नही सकता कि अत्याचार तो करें दूसरे लोग और फल उसका भोगना पडे जैनियोंको। जैन फिलासोफी इसको माननेके लिए तैयार नही। यदि थोडी देरके लिए उस मनुष्यको भी जिस पर अत्याचार किया गया हो, कोई बुरा फल सहन करना हो अथवा किसी आपत्तिका निशाना बनना पडे, तो कहना होगा कि उसने भी जरूर अपनी चेष्टा या अपने मन-वचनादिकके द्वारा दूसरोंके प्रति कोई अत्याचारविशेष किया है और वह बुरा फल उसके ही किसी कर्मविशेषका नतीजा है। यही हालत जैनसमाजकी है। यद्यपि इसमे कोई सदेह नही कि पिछले समयमे जैनियो पर थोडे बहुत अत्याचार जरूर हुए है, परन्तु वे अत्याचार जैनियोकी वर्तमान दशाके कारण नही हो सकते। जैनियोकी वर्तमान अवस्था कदापि उनका फल नही है। यदि जैनियोने उन अत्याचारोको मनुष्य बनकर सह लिया होता और स्वय उनसे अधिक अत्याचार न किया होता तो जरूर था कि यह जैनबाग (जैनसमाज दूसरोंके अत्याचाररूपी खाद (Manure) से और भी हराभरा और सरसब्ज होता—खूब फलता और फूलता, परन्तु जैनियोको ऐसी सद्बुद्धि ही उत्पन्न नही हुई। उनके विचार प्राय इतने सकीर्ण और स्वार्थमय रहे है कि सदसद्विवेकवती बुद्धिको उनके पास फटकनेमे भी लज्जा आती थी। अत्याचार और भी अनेक धर्मानुयायिओको सहन करने पडे हैं, परन्तु उनमेसे जिन्होने अपने कर्त्तव्यपथको नही छोडा, अपने सामाजिक सुधारको समझा, उन्नतिके मार्गको पहचाना, अपनी त्रुटियोको दूर किया, सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखा और अपने स्वार्थको गौणकर दूसरोका हितसाधन किया, वे दु खके दिन व्यतीत करके आज अपने सत्कर्मोका सुमधुर

फल भोग रहे है। इससे साफ प्रगट है कि जैनियोकी वर्तमान दशा उन अत्याचारोका फल नही है जो जैनियो पर हुए बल्कि उन अत्याचारोका फल है जो जेनियोने दूसरो पर किये और जो परस्पर जैनियोने एक दूसरे पर किये। सच है, मनुष्योंका अपने ही कर्मोसे पतन और अपने ही कर्मोसे उत्थान होता है। जिन जैनियोंके ज्ञान और आचरणकी किसो समय चारो ओर धाक थी, जिनके सर्व-प्राणिप्रेमने अनेकवार जगतको हिला दिया, और जिनका राज्य समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था; आज वे ही जैनी बिल्कुल ही रक बने हुए हैं। यह सब जैनियोके अपने ही कर्मोंका फल है। इसके लिए किसीको दोष देना–किसी पर इलजाम लगाना–भूल है। जैनियोकी वर्तमान स्थिति इस बातको बतला रही है कि, उन्होने जरूर कोई भारी अत्याचार किये है; तभी उनकी ऐसी शोचनीय दशा हुई है।

जैनियोने एक बड़ा भारी अपराध तो यह किया है कि इन्होने दूसरे लोगोको धर्मसे वचित रक्खा है। ये खुद ही धर्मरत्नके भडारी और खुद ही उसके सोल प्रोप्राईटर (अकेले ही मालिक) बन बैठे। दूसरे लोगोको–दूसरे समाज-वालो तथा दूसरे देशनिवासियोको–धर्म बतलाना, धर्मके मार्ग पर लगाना तो दूर रहा, इन्होने उलटा उन लोगोसे धर्मको छिपाया है। इनकी अनुदार-दृष्टिमे दूसरे लोग प्राय बडी ही घृणाके पात्र रहे है, वे मनुष्य होते हुए भी मनुष्यधर्मके अधिकारी नही समझे गये। यद्यपि जैनी अपने मदिरोमे यह तो बराबर घोषणा करते रहे कि 'मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई शत्रु नही है, मिथ्यात्व ही संसारमे परिभ्रमण करानेवाला और समस्त दु:खोंका मूल कारण है। परन्तु मिथ्यात्वमे फँसे हुए प्राणियोपर इन्हे ज़रा भी दया नही आई, उनकी हालत पर इन्होने जरा भी तरस नही खाया और न मिथ्यात्व छुडानेका कोई यत्न ही किया। इनका चित्त इतना कठोर हो गया कि दूसरोके दुख सुखसे इन्होंने कुछ सम्बन्ध ही नही रक्खा।

जिस प्रकार कोई दुरात्मा पुत्र अपने स्वार्थमे अधा होकर यह चाहता है कि मै अकेला ही पैतृक-सम्पत्तिका मालिक बन बैठूँ और अपनी इस कामनाको पूरा करनेके लिए वह अपने पिताके समस्त धन पर अधिकार कर लेता है—यदि पिताने कोई वसीयत भी की हो तो उसको छिपानेकी चेष्टा करता है - और अपने उन भाइयोको जो दूरदेशान्तरमे रहनेवाले हैं, जो नाबालिग (अव्युत्पन्न) हैं, जो भोले या मूर्ख है, जिनको अन्य प्रकारसे पिताके धनकी कुछ खबर नही है अथवा जो निर्बल है उन सबको अनेक उपायों-द्वारा पैतृक-सम्पत्तिसे वंचित कर देता है। उसे इस बातका जरा भी दुख-दर्द नही होता कि मेरे भाइयोकी क्या हालत होगी ? उनके दिन कैसे कटेंगे ? और न कभी इस बातका खयाल ही आता है कि मैं अपने भाइयो पर कितना अन्याय और अत्याचार कर रहा हूँ, मेरा व्यवहार कितना अनुचित है, मै अपने पिताकी आत्माके सन्मुख क्या मुँह दिखाऊँगा। उसके विवेकनेत्र बिल्कुल स्वार्थसे बन्द हो जाते हैं और उसका हृदययंत्र संकुचित होकर अपना कार्य करना छोड देता है। ठीक उसी प्रकारकी घटना जैनियोकी हुई है। ये अकेले ही परमपिता श्री महावीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिके अधिकारी बन बैठे ! "समस्त जीव परस्पर समान हैं: जैनधर्म आत्माका निजधर्म है, प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है; सबको जैनधर्म बतलाना चाहिये और सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए उनके उत्थानका यत्न करना चाहिए।" वीरजिनेन्द्रकी इस वसीयतको—उनके इस पवित्र आदेशको - इन स्वार्थी पुत्रोने छिपानेकी पूर्णरूपसे चेष्टा की है। इन्होंने अनेक उपाय करके अपने दूसरे भाइयोको धर्मसे कोरा रक्खा, उनकी हालत पर जरा भी रहम नही खाया और न कभी अपने इस अन्याय, अत्याचार और अनुचित व्यवहार पर विचार या पश्चात्ताप ही किया है। बल्कि जैनियोका यह अत्याचार बहुत कुछ अशोंमें उस स्वार्थान्ध-पुत्रके अत्याचारसे भी बढ़ा रहा। क्योंकि

किसी अधिकारीको धनादिकसे वंचित रखना, यद्यपि, अत्याचार जरूर है, परन्तु जान-बूझकर किसीको आत्मलाभसे वंचित रखना, यह उससे कही बढकर अत्याचार है। मेरा तो, इस विषयमें,यहाँ तक खयाल है कि यह अत्याचार किसीको जानसे मार डालनेकी अपेक्षा भी अधिक है। धनादिक पर-पदार्थोका वियोग इतना दु खजनक नही हो सकता जितना कि आत्मलाभसे वचित रहना। जो लोग अपनी आत्माको जानते हैं,अपने स्वरूपको पहचानतेहै, धर्म क्या और अधर्म क्या इसका जिन्हे बोध है, उनको धनादिकका वियोग भी इतना कष्टकर नही होता जितना कि न जानने और न पहचाननेवालो को होता है। इसलिये दूसरोको धर्मसे वंचित रखना उनके लिये घोर दु खोकी सामग्री तैयार करना है। क्या इस अत्याचारका भी कही ठिकाना है? शोक! ऐसा महान् अत्याचार करनेवाले जैनियोका पाषाणहृदय, दूसरोके दु खोका स्मरण ही नही किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी ज़रा नही पसीजा—आत्मलाभसे वचित पापी और मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैनियोके सन्मुख ही अनेक प्रकारके अनर्थ और पापाचरण करके अपनी आत्माओका पतन करते रहे, परन्तु जैनियोको उन पर कुछ भी दया नही आई और न दूसरे जीवोकी रक्षाका ही कुछ खयाल उत्पन्न हुआ।

ससारमे ऐसा व्यवहार है कि यदि कोई अधा मनुष्य कही चला जा रहा हो और उसके आगे कुआँ आजाय तो देखनेवाले उस अधेको तुरन्त ही सावधान कर देगे और अपनी समस्त शक्तिको, उसे कुएँमे गिरनेसे बचाने अथवा गिर जाने पर उसके शीघ्र निकालनेमे, लगा देंगे। यदि कोई मनुष्य अधेके आगे कुआँ देखकर भी चुपचाप बैठा रहे और उसकी रक्षाका कुछ भी उपाय न करे तो वह बहुत पापी और निन्द्य समझा जाता है। किसी कविने कहा भी है—

जब तू देखै आँखसे, अंधे आगे कूप।
तब तेरा चुप बैठना, है निश्चय अघरूप॥

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य किसीको दिनदहाडे लूटता हो और दूसरा आदमी उसके इस कृत्यको देखता हुआ भी आनन्दसे हुक्का गुडगुडाता रहे और उसके वचानेकी कुछ भी कोशिश न करे, तो कहना होगा कि वह महा अपराधी है। जैनी लोग इस वातको वरावर स्वीकार करते आए है कि मिथ्यादृष्टि लोग अधे होते है—उन्हे हित-अहित कुछ भी सूझ नही पडता, परन्तु जैनियोके सन्मुख ही लाखों और करोड़ो मिथ्यादृष्टि अतत्त्वश्रद्धारूपी कुएँमे वरावर गिरते रहे तोभी इन सुदृष्टियोंको उनपर जराभी दया न आई। इन्होने अपने मौनव्रतको भगकर उनके वचाने या निकालनेकी कुछ भी चेष्टा नही की। और तो क्या, इनके सामनेही वहुतसे इनके भाइयो (जैनियो)-का धर्म-धन लूट लिया गया और वे मिथ्यादृष्टि वना दिये गये, परन्तु फिर भी इनके कठोर चित्तपर कुछ आघात नही पहुँचा। ये वरावर अपने आनन्दमे मस्त रहे। कोई जीयो या मरो, इन्होने उसकी कुछ पर्वाह नही की। वल्कि ये लोग उलटा खुश हुए और इन्होने जान-वूझकर अपने वहुतसे भाइयोको लुटेरोके सुपुर्द किया। यदि किसी भाईसे कोई अपराध या खोटा आचरण वन गया तो इन्होने उसको अपनेमेसे ऐसे निकालकर फेंक दिया जैसा कि दूधमेसे मक्खीको निकाल कर फेंक देते है। इन्होने उसको कुछ भी धीर-दिलासा नही दिया, न इन्होने उसके खोटे आचरणको छुड़ाकर धर्ममे स्थिर करने की कोशिश की और न प्रायश्चित्त आदिसे शुद्ध करनेका कोई यत्न ही किया। बल्कि उसके साथ बिल्कुल शत्रुओ-सरीखा व्यवहार करना प्रारभ कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि उसको अपनी ससार-यात्राका निर्वाह करनेके लिए दूसरोका शरण लेना पड़ा और वह हमेशाके लिए जैनियोंसे बिछुड गया। इससे समझ लीजिए कि जैनियोने कितना बड़ा अपराध और अत्याचार किया है—कहाँ तक इन्होने अपने धर्मका उल्लघन और कहां तक उसके विरुद्ध आचरण किया है।

मनुष्यका यह धर्म नही है कि यदि कोई मनुष्य किसी नदी आदिमें गिरता हो या बहता जाता हो तो उसको उलटा धक्का दे दिया जावे और यदि वह किनारेके पास भी हो और निकलना भी चाहता हो तो उसको ठोकर मारकर और दूर फेक दिया जावे, जिससे वह निकलनेके काबिल भी न रहे। बल्कि इसके विपरीत उसको न गिरने देना या हस्तावलम्बन देकर निकालना ही मनुष्य-धर्म कहलाता है। इसीलिए जैनियोके यहाँ 'स्थितिकरण' धर्मका अग रक्खा गया है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'रत्नकरंड श्रावकाचार'मे इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है.—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥

अर्थात्—जो लोग किसी कारणवश अपने यथार्थ श्रद्धान तथा चारित्रसे डिगते हो, तो धर्मसे प्रेम रखनेवाले पुरुषोको चाहिये कि उनको फिरसे अपने श्रद्धान और आचरणमे दृढ कर दें। यही 'स्थितिकरण' अग कहलाता है।

परन्तु शोक! जैनियोंने यह सब कुछ भुला दिया। गिरतेको सहारा या हस्तावलम्बन देना तो दूर रहा इन्होने उलटा उसको और जोरका धक्का दिया। श्रद्धान और आचरणसे डिगना तो दूसरी बात, यदि किसीने रूढियो (आधुनिक जैनियोके सम्यक्चारित्र ?) के विरुद्ध जरा भी आचरण किया अथवा उनके विरुद्ध अपना खयाल भी जाहिर किया तो बस उस बेचारे की शामत आगई, और वह झट जैनसमाजसे अपना अलग जीवन व्यतीत करनेके लिए मजबूर किया गया! जैनियोंके इस अत्याचारसे हजारो जैनी गाटे दस्से या विनैकया बन गये, लाखो अन्यमती हो गये, जैनियोके देखते देखते मुसलमानी जमानेमे लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जबरन् मुसलमान बना लिये गये, और इस जमानेमे तो कितने ही ईसाई बना लिये गये; परन्तु जैनियोके सगदिल (पाषाणहृदय)

पर इससे कुछ भी चोट नही लगी। इन्होने आजतक भी उन सबों-के शुद्ध करनेका—अपने बिछुड़े हुए भाइयोंको फिरसे गले लगाने-का—कोई उपाय नही किया। ऐसा कोई अपराध नहीं जिसका प्रायश्चित्त न हो सके। भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्य-से भी प्रगट है कि—'यदि किसी मनुष्यके कुलमें किसी भी कारणसे कभी कोई दूषण लग गया हो तो वह राजा या पंच आदिकी सम्मतिसे अपनी कुलशुद्धि कर सकता है। और यदि उसके पूर्वज—जिन्होने दोष लगाया हो—दीक्षायोग्य कुलमे उत्पन्न हुए हों तो उस कुलशुद्धि करनेवालेका और उसके पुत्र-पौत्रादिक सतानका यज्ञो-पवीत-संस्कार भी हो सकता है।' वह वाक्य इस प्रकार है :—

कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुल सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्व यदा कुलम्॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः॥

—आदिपुराण, पर्व ४०

इससे दस्सो और हिन्दूसे मुसलमान या ईसाई बने हुए मनुष्यो-की शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। बल्कि शास्त्रोमे उन म्लेच्छोंकी भी शुद्धिका विधान देखा जाता है जो मूलसे ही अशुद्ध है। आदिपुराणमें यह उपदेश स्पष्ट शब्दोमे दिया गया है कि, 'प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले अनक्षर (अनपढ) म्लेच्छोंको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिएँ। यथा:—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

—आदिपुराण, पर्व ४२

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जैनियोके सकीर्ण हृदयने महा-त्माओके इन उदार और दयामय उपदेशोको ग्रहण नही किया। सच भी है, सेरभरके पात्रमे मनभर कैसे समा सकता है? अपात्र

जैनियोंके हाथमें जैनधर्म पड़ जानेसे ही उन्होंने जैनधर्मका गौरव नही समझा और इसलिए दूसरोपर मनमाना अत्याचार किया है।

मैं कहता हूँ कि दूसरोंको धर्म बतलाने या सिखलानेमें धार्मिक-भाव औरपरोपकार बुद्धिको जाने दीजिए,जैनियोने यह भी नही समझा कि परिस्थिति कितने महत्वकी चीज है। क्या परिस्थिति कभी उपेक्षणीय हो सकती है? कदापि नही। जहाँ चारों ओरका जलवायु दूषित हो वहाँ कदापि आरोग्यता नही रह सकती। जहाँ चारो ओर मिथ्या-दृष्टियो और पापाचारियोका प्राबल्य हो वहाँ जैनी भी अपना सम्यक्त्व और धर्म कायम नही रख सकते। यदि जैनियोने इस परिस्थितिके महत्वको ही समझ लिया होता तब भी वे आत्मरक्षाके लिए ही दूसरोंकी स्थितिका सुधार करना अपना कर्तव्य समझते, अवश्य ही दूसरोको धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करते और कदापि धर्मप्रचारके कार्यसे उपेक्षित न होते, परन्तु महर्षियो-द्वारा संरक्षित वीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिको,पाकर जैनी ऐसे कृपण बने---इनमें चित्तको कठोर करने-वाली ऐसी धार्मिक-कृपणता आई कि दूसरोको उस सम्पत्तिसे लाभ पहुँचाना तो दूर रहा ये खुद भी उससे कुछ लाभ न उठा सके। यदि इस परमोत्कृष्ट जैनधर्मको पाकर जैनी अपना ही कुछ भला करते तो भी एक बात थी, परन्तु कृपणका धन जिस प्रकार दान और भोगमे न लगकर तृतीया गति (नाश) को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जैनियोने जैनधर्म भी तृतीया गतिको पहुँचा दिया---न आप इससे कुछ लाभ उठाया और न दूसरोको उठाने दिया---और जिस प्रकार बादल सूर्यके प्रकाशको रोक लेते है उसी प्रकार इन धार्मिक-कृपणोने जैनधर्मके प्रकाशको आच्छादित कर दिया।

जैनियोने जिनवाणी माताके साथ जैसा सलूक किया है उसको याद करके तो हृदय कापता है और शरीरके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्होंने माताको उन अंधेरी कोठरियोमे बंद करके रक्खा,जहाँ रोशनी और हवाका गुजर नही, उसका अंग चूहोंसे कुतरवाया और दीमकों-

को खिलाया; माता गलती है या सड़ती, जीती है या मरती, इसकी इन्होंने कुछ भी पर्वाह नही की। हजारो जैनग्रन्थोकी मिट्टी हो गई हजारो शास्त्र चूहों और दीमकोके पेटमे चले गये, लाखो और करोड़ो मनुष्य मातृवियोग-दुःखसे पीड़ित रहे, परन्तु इन समस्त दृश्योसे जैनियोके वज्रहृदय पर कुछ भी चोट नही लगी। माता पर इस प्रकारके अत्याचार करते हुए जैनियोका हृदय जरा भी कम्पायमान नही हुआ और इन्हे कुछ भी लज्जा या शर्म नही आई!! इन्होने उलटी यहाँ तक निर्लज्जता धारण की कि अपने इन अत्याचारोका नाम 'विनय' रख छोड़ा! वास्तवमे इनका नाम विनय नही है, ये घोर अत्याचार है—और न ढाई हाथ दूरसे हाथ जोडने या चावलके दाने चढा देनेका नाम ही विनय है। जिनवाणीका विनय है—जैनशास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, उनके मुताबिक—उनकी शिक्षाओंके अनुसार—चलना और उनका सर्वत्र प्रचार करना। इस वास्तविक विनयसे जैनी प्राय कोसों दूर रहे और इसलिए इन्होने माताका घोर अविनय ही नही किया, बल्कि कितने ही जैनशास्त्रोका लोप भी किया है। उसीका फल है जो आज बहुतसे शास्त्र नही मिलते। इनकी इस विलक्षण विनयवृत्तिको देखकर ही एक दुःखित हृदय कविने कहा है —

बस्ते बँधे पड़े हैं अलूमोफनूनके×।
चावल चढ़ावें उनको बस इतने हैं कामके!!

इसीप्रकार जैनियोने स्त्रीसमाज पर जो अत्याचार किया है वह भी कुछ कम नही है। इन्होने लडकियोको बेचा, धनके लालचसे अपनी सुकुमार बालिकाओको यमके यजमानोके गले बाध उन्हे हमेशाके लिये पापमय जीवन व्यतीत करनेको मजबूर किया, अनमेल सम्बन्ध करके स्त्रियोका जीवन दुःखमय बनाया और उन्हे अनेक प्रकारका दुःख और कष्ट पहुँचाया, पर इन सब अत्याचारोको रहने दीजिए।

× विद्याओ-विज्ञानो तथा कला-कौशलके।

जैनियोने इन सब अत्याचारोंसे बढकर स्त्रीसमाज पर जो भारी अत्याचार किया है उसका नाम है स्त्रीसमाजको अशिक्षित रखना। स्त्रियो और बालिकाओंको विद्या न पढाकर जैनियोंने उनके साथ बडी ही शत्रुताका व्यवहार किया है। जिस विद्या और ज्ञानके बिना मनुष्य निद्रित, अचेत, पशु और मृतकके तुल्य वर्णन किये गये हैं और जिसके बिना सुख-शान्तिकी प्राप्ति नही हो सकती, उसी विद्या और ज्ञानसे, जैनियोंने स्त्रियोंको वंचित रक्खा यह इनका कितना बड़ा अन्याय है! जैनियोने स्त्रियोकी योग्यता और उनकी विद्या-सम्पादन-शक्तिको न समझा हो, ऐसा नही, किन्तु 'लडकियाँ पराए घरका धन और पराए घरकी चाँदनी हैं, वे हमारे कुछ काम नहीं आ सकतीं।' इस स्वार्थमय वासनासे जैनियोने उन्हें विद्यासे विमुख रक्खा है। इस नीच विचारने ही जैनियोको अपनी सतानके प्रति ऐसा निर्दय बनाया और इतना विवेकहीन बनाया कि उन्होने स्त्री-समाजके साथ पशुओं-सदृश व्यवहार किया, उन्हे जडवत् रक्खा, काष्ठपाषाणकी मूर्तियाँ समझा और उन्हें अपनी आत्मोन्नति करने देना तो दूर रहा, यह भी खबर न होने दी कि ससारमे क्या हो रहा है। क्या यह थोडा अत्याचार है? नही, इस अत्याचारके करनेमे जैनी मनुष्यताका भी उल्लंघन कर गये। इनसे पशुपक्षी ही अच्छे रहे, जो अपनी नर और मादा दोनो प्रकारकी सतानको समान-दृष्टिसे अवलोकन करते है और उससे किसी भी प्रकारके प्रत्युपकारकी वांछा न रखते हुए अपना कर्त्तव्य समझ कर सहर्ष उसका पालन-पोषण करते है।

यहाँ पर मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि जैनियोंका यह अत्याचार केवल स्त्रीसमाजको ही नही भोगना पडा, बल्कि पुरुषोको भी इसका हिस्सेदार बनना पड़ा है—बालको पर भी इसका नजला टपका है। माताओंके अशिक्षित रहनेसे—परिस्थितिके बिगड जानेसे—वे भी शिक्षासे प्राय विहीन ही रहे है। हजारमे दस-पाँचने

यदि मामूली विद्या पढी भी—कुछ अक्षरोका अभ्यास किया भी—तो इसका नाम शिक्षा नहीं है। जैन बालकोंको जैसी चाहिएँ वैसी विद्याएँ नही पढ़ाई गई। यदि उन्हें बराबर विद्याएँ पढाई जाती तो आज उन हजारों विद्याओका लोप न होता, जिनका उल्लेख जैन-शास्त्रोंमे मिलता है।[दिव्य विमानोंकी रचनाको जाने दीजिये, आज कोई जैनी उन मयूरयत्रके बनानेकी विधि भी नही जानता, जिसको जीवंधरके पिता सत्यधरने बनाया था और उसमें अपनी गर्भवती स्त्रीको बिठलाकर, गर्भस्थ पुत्रकी रक्षाके लिए, उसे दूर देशान्तरमें पहुँचाया था! इसी प्रकार सैकड़ो विद्याओका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनियोने शिक्षा और खासकर स्त्री-शिक्षासे द्वेष रखकर इन समस्त विद्याओंके लोप करनेका पाप अपने सिर लिया है और इसलिए जैनी समस्त जगतके अपराधी हैं।

जैनियोका एक भारी अत्याचार और भी है और वह अपनी सतानकी छोटी उम्रमें शादी करना है। इसके विषयमें मुझे कुछ विशेष लिखनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि इस राक्षसी कृत्यके द्वारा आजतक लाखो ही नही किन्तु करोडो दुधमुँही बालिकाएँ विधवा हो चुकी है—वैधव्यकी भयंकर आंचमें भुन चुकी है—, हजारोने अपने शीलशृंगारको उतार दिया, व्यभिचारका आश्रय लिया, दोनो कुलोको कलंकित किया और भ्रूणहत्याये तक कर डाली। इसके सिवाय, बाल्यावस्थामे स्त्री-पुरुषका ससर्ग हो जानेसे जो शारीरिक और मानसिक निर्बलताएँ इनकी सतानको उत्तरोत्तर प्राप्त हुई उनका कुछ भी पारावार और हिसाब नही है। निर्बल मनुष्यका जीवन बडा ही बबाले-जान और सकटमय होता है। रोगोका उसपर आक्रमण हो जाना तो एक मामूलीसी बात है। जैनियोके इस अत्याचारसे उनकी सतान बडी ही पीड़ित रही। उससे हिम्मत, साहस, धैर्य, पुरुषार्थ और वीरता आदि सद्गुणोकी सृष्टि ही एकदम उठ खड़ी हुई। जैनी निर्बल होकर तन्दुल मच्छकी तरह

घोर मानसिक पापोका सचय करते रहे और इन पापोने उदयमें आकर जन्म-जन्मान्तरोमें इन्हे खूब ही नीचा दिखाया। जैनियोका यह गुड्डा गुड्डीका खेल (बाल्यविवाह) बड़ा ही हृदयद्रावक है। इसने जैनसमाजकी जड़मे बड़ाही कुठाराघात किया है।

इस प्रकार जैनियोंने बहुत बडे बड़े अत्याचार किये हैं। इनके सिवा और जो छोटे-मोटे अत्याचार किये हैं उनकी कुछ गिनती ही नही है। जैनियोंके इन अत्याचारोंसे जैनधर्म कितना कलंकित हुआ और जगतमें कैसे कैसे अनर्थ फैले इसका कुछ ठिकाना नही है। जैनियोंके इन सब अत्याचारो ही का फल उनकी वर्त्तमान दशा है। बल्कि नही, जैनियोमें इस समय जो कुछ थोड़ी बहुत अच्छी बाते बची-खुची है उनका श्रेय स्वामी कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द और सिद्धसेन आदि परोपकारी आचार्यो तथा अन्य परोपकारी महानुभावोको प्राप्त है। ऐसे जगद्बन्धुओंके आश्रित रहनेसे ही जैनधर्मके अभी तक कुछ चिन्ह अवशेष पाये जाते हैं, अन्यथा, आम तौर पर जैनियोके अत्याचार उनकी सत्ताको बिल्कुल लोप करनेके लिए काफी थे। जब तक जैनियोने अत्याचार करना प्रारभ नही किया था तब तक इनका बराबर डका बजता रहा, ये खूब फलते और फूलते रहे। परन्तु जबसे ये लोग अत्याचारो पर उतर आए तभीसे इनका पतन शुरू हो गया। और आज वह दिन आ गया कि ये लोग पूरी अधोदशाको पहुँच गये है। जैनियोंके अत्याचार जैनियोको खूब ही फले—इन्होने अपने कियेकी खूब सजा पाई। ये लोग दूसरोको धर्म बतलाना नही चाहते थे, अब खुद ही उस धर्मसे वचित हो गये, दूसरोको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे, अब खुद ही घृणाके पात्र बन गये, जिस बल, विद्या और ऐश्वर्य पर इन्हे घमड था वह सब नष्ट हो गया, ये लोग अपने आपको भले ही जीवित समझते हों परन्तु जीवित समाजोमे अब इनकी गणना नही है, इनकी गणना है मरणोन्मुख समाजोमे। जैनो लोग अन्धकारमे पड़े हुए

सिसक रहे है—वास्तवमे इनकी हालत बडी ही करुणाजनक है। जब तक जैनी लोग इन अत्याचारोको बद करके अपने पूर्व पापोका प्रायश्चित्त नही करेंगे तब तक वे कदापि इस दैवकोपसे विमुक्त नही हो सकते, उनका अभ्युत्थान नही हो सकता और न उनमे जीवनीशक्तिका फिरसे संचार ही हो सकता है।

आशा है हमारे जैनीभाई इस लेखको पढकर अपने अत्याचारोकी परिभाषा समझेंगे और उनके भयकर परिणामको विचार कर शीघ्र ही उनका प्रायश्चित्त करनेमे दत्तचित्त होंगे।

१०

विवाह-समुद्देश

विवाहकी समस्या

बड़े बडे विद्वानो और आचार्योका कथन है कि 'स्त्री बिना जजीरका—जजीर न होते हुए भी—दृढ बन्धन है, स्त्रीसे बढ़कर पुरुषोके लिए दूसरा कोई बडा बन्धन नही। यथा —

कलत्र नाम नराणामनिगडमपि दृढ बंधनमाहु'। — सोमदेव।

न कलत्रात्परं किञ्चिद्बन्धनं विद्यते नृणाम्। —शुक्र.।

वस्तुतः विचार करनेपर भी ऐसा ही प्रतीत होता है। स्त्रीका परिग्रह करने पर स्वभावसे ही मनुष्य बहुतसे अंशोमे अपना स्वातन्त्र्य—अपनी आजादी—खो बैठता है, तरह तरहकी चिन्ताओ, आपदाओ तथा जिम्मेदारियोकी दलदलमे फँस जाता है और इस तरह पर बन्धनमे पडकर एक अच्छा खासा बन्दी बन जाता है। वास्तविक दृष्टिसे बन्धनमे पडना कभी इष्ट नही हो सकता। बन्धनसे परतन्त्रता आती है और परतन्त्रता या पराधीनतामे कही भी असली सुख नही है—पैरोमे जजीर डालकर खभेसे बाँधा हुआ एक हाथी कभी अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक विहार नही कर सकता। इसलिए, शास्त्रकारोने बन्धनको दु ख वर्णन किया है। बन्धनसे छूटने-पूर्ण स्वातत्र्य प्राप्त करने—पूरी आजादी हासिल करने—ही का

नाम मुक्ति है। उसीमें वास्तविक सुख है और वही सब जीवोंका अन्तिम ध्येय बतलाया जाता है। साथ ही, महान्से महान् आचार्यों-का—धर्मगुरुओंका—यह भी कथन है कि 'मैथुन करना पाप है'—पंच पापोंमें उसकी गणना है। अमृतचन्द्रसूरिने, तिलोंसे पूर्ण नलीमें तप्त-लोह-शलाकाके प्रवेशका उदाहरण देकर, मैथुनमें पापकी—द्रव्यहिंसाकी—मात्राको और भी अधिकताके साथ प्रदर्शित किया है। यथा :—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवायोनौ[1] हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय.

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, आज एक, कल दूसरा और परसों तीसरा नवयुवक खुशीसे इस स्त्री-बन्धनको स्वीकार करता है, एक अपरिचित व्यक्तिको—एक अजनबी शख्शको—अपना हृदय देता है, कुटुम्बके भरण-पोषणादिकी समस्त जिम्मेदारियोंको अपने ऊपर लेता है और धनके उपार्जन करने-बढ़ाने-रक्षा करनेके द्वारा तथा रोग-शोकादिकके कारण नित्य नई आनेवाली गृहस्थकी चिन्ताओं और विपत्तियोंमें पड़नेके लिए तैयार होता है। साथही, पंचों द्वारा, बिना किसी संकोचके, उसके इस स्त्री-सम्बन्धकी रजि-ष्ट्रीकी जाती है और इस प्रकार विवाह[2]-द्वारा दम्पतिको निष्क-

१ वात्स्यायन ऋषिने भी योनिमे जीवोको स्वीकार किया है, जैसा कि सागारधर्मामृतमे उद्धृत उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है.—

रक्तजा कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्यादिशक्तय.।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधम्॥

२ विवाह उस सम्बन्ध-विशेषका ही नाम है जिसके द्वारा, मानव-समाजमे, स्त्री-पुरुषोको परस्पर काम-क्रीडाका द्रव्यादिकी अपेक्षा रहित स्वतंत्र और खुला अधिकार प्राप्त होता है।

टक (बे-रोक-टोक) काम-सेवनकी परवानगी दी जाती है—उसे उनके लिये जायज़ और विधेय ठहराया जाता है। इसी खुशीमे अनेक प्रकारके बाजे बजते हैं, मागलिक गीत गाये जाते हैं, तरह तरहके उपहार और इनाम बाँटे जाते हैं, बराती-गण नये नये वस्त्र और रंगविरंगी पोशाकें पहनते हैं और वरके माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बी जनोंके आनन्दका कुछ पार नही रहता। युवती तथा कन्या-पक्षके बन्ध-प्रबन्ध और आमोद-प्रमोदकी भी प्राय. यही सब हालत होती है। नगर भरमें जिधर देखो उधर मूर्तिमान आनन्द ही आनन्द दिखाई देने लगता है। कहा जाता है कि यह सब मागलिक कार्य है, इसे 'विवाहमंगल' कहते हैं और इस प्रकारके मगल प्रायः हुआ करते हैं और हमेशासे होते आए हैं।

इन सब बातो पर गहरी दृष्टि डालते हुए एकाग्रताके साथ विचार करनेपर मालूम होता है और कहना पडता है कि, विवाहकी समस्या भी बडी ही विचित्र है। जो लोग इस समस्याको हल किये विना, विवाहका ठीक रहस्य समझे विना और विना यह मालूम किये कि विवाहका उद्देश्य—शादीकी असली गरज—क्या है, विवाह-बन्धनमे पडते है—शादी कराते हैं—वे नि सन्देह बहुत बडी गलती करते है और विवाहके वास्तविक लाभोंसे वचित ही रहते हैं। इसीलिए आज इस समस्याको हल करने, विवाहका रहस्य बतलाने और विवाहके समीचीन उद्देश्यको समझानेका प्रयत्न किया जाता है।

विवाह-कर्मकी सृष्टि

ज़रूरत और उपयोगिता

संसारमें अनादिकालसे यह जीवात्मा नाना प्रकारके अच्छेसे अच्छे और रमणीय विषयभोगोको भोगता हुआ चला आया है। मैथुनकी सृष्टि इस जगतमे अनादिसे ही चली आती है। परन्तु

आज तक कभी इन विषय-भोगोसे किसीको भी तृप्तिकी प्राप्ति नही हुई और न हो सकती है। ईन्धन और घृताहुतिसे जिस प्रकार अग्नि तृप्त नही होती और घड़ो पानी पी लेनेसे जिस प्रकार तृषा-रोगके रोगीकी प्यास नही बुझती, उसी प्रकार संसारी जीवकी हालत है। उसे भी इन विषय-भोगोसे कोई तृप्ति नही मिलती। विषयोकी ऐसी हालत होते हुए, आत्मकल्याणार्थी कुछ महात्माओके हृदयमे यह विचार उत्पन्न हुआ कि, जब विषय-भोगोसे कुछ तृप्ति नही होती और न इनके सेवनसे आत्माका कुछ लाभ होता है, बल्कि उल्टा पापबध जरूर होता है और नाना प्रकारके दु ख तथा कष्ट उठाने पडते है, तब ऐसे व्यर्थके कामोमे फँसकर अपने आत्मा-का अनिष्ट करना कौन बुद्धिमानीकी बात है ? इसलिए उन्होने विषयोके सर्वथा त्यागका उपदेश दिया और इस तरह विषयोके विरोधकी सृष्टि हुई। इस विरोधसे जैन-अजैन सभी ग्रन्थ भरे हुए है, जिनमे विषयोका वास्तविक स्वरूप, उनकी अनुपयोगिता (निरर्थ-कता) और उनसे होनेवाली हानि आदिका हृदय-हारी वर्णन करते हुए उनके त्यागकी प्रेरणा की गई है। साथ ही, ब्रह्मचर्यकी महिमा, उसकी उपयोगिता और उसके द्वारा सपूर्ण सुखोकी प्राप्ति आदिका वर्णन भी बड़े कौशलके साथ किया गया है। और अन्तमे पूर्ण ब्रह्म-चर्यके धारण करने और पालनेकी जोरके साथ प्रेरणा की गई है।

इसमे कोई सन्देह नही कि पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना बहुत ही उत्तम, श्रेष्ठ और कल्याणकारी धर्म है। इसके द्वारा आत्मा उत्तरोत्तर अपनी शक्तियोको बढ़ाकर कर्मशत्रुओको निर्मूल करनेके लिये समर्थ हो सकता है। परन्तु कामदेवकी प्रबल शक्तिका मुकाबला करके पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना खेल नही और न हरएक व्यक्ति-का काम है, बिरले ही मनुष्य इसको धारण कर सकते है। इसके लिये बड़े बलवान आत्माकी जरूरत होती हैं। निर्बलोका इसमे अधिकार नही हो सकता। जैसा कि श्रीशुभचन्द्राचार्यने 'ज्ञानार्णव'में

कहा है :—

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाऽक्षनिर्जितैः।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ११-५ ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य उन लोगोसे स्वप्नमे भी आचरण किये जानेके योग्य नही है जो अल्पशक्तिके धारक है, शील-रहित है, दीन है और जिनकी इन्द्रियाँ उनके वशमे नही हैं।

ऐसी हालतमे शरीर और विचार-बल-रहित निर्बल व्यक्तियोको पूर्ण ब्रह्मचर्यके लिए मजबूर करना कभी न्यायसगत नही हो सकता और न उससे कुछ लाभ ही उठाया जा सकता है। इसलिए उनके लिए भी कोई विधान वतलानेकी जरूरत पैदा हुई।

तृषा-रोगके निर्वल रोगीको, इच्छानुसार घड़ो पानी पिला देनेके समान, पानीका विल्कुल न देना भी जिस प्रकार हानिकर (नुकसान-देनेवाला) होता है और इसलिए उसके वास्ते कोई हलका पेय (अर्क-शर्बतादि) पदार्थ तजवीज किया जाता है, जिससे उसका रोग शनै शनै दूर होजाय, उसी प्रकार कामतृष्णातुर निर्बल आत्माओको, उनकी इच्छानुसार विषय-सेवन करानेकी तरह, सर्वथा विषयोसे वञ्चित रखना भी—उनसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन कराना भी—अनिष्टकर होता है। और इसलिए उनके लिए 'गृहस्थाश्रम' या 'गृहस्थधर्म' नामका 'लघु पेय' तजवीज किया गया है, जिससे उनकी कामतृष्णा धीरे-धीरे शान्त होजाय।

इस पेयमे तीन चीजे मिली हुई है—धर्म, अर्थ और काम—जिनको 'त्रिवर्ग' भी कहते है। काम-सेवन पानीके समान है, धर्म काम-तृष्णाको दूर करनेवाली औषधि है और अर्थ (धन) दोनोका साधन है—उन्हे यथास्थान (ठीक ठिकाने पर) पहुँचानेवाला है। इन तीनोकी मात्रा आदिक भी निर्दिष्ट (तजवीज) की गई है, जिससे परस्पर विरोध होकर किसी प्रकारका अनिष्ट न हो सके। अविरोधरूपसे सेवन किया हुआ ही 'त्रिवर्ग' अभीष्ट फलको देनेवाला हो

सकता है। इसीलिये श्रीवादीभसिंहसूरि-जैसे विद्वानोंने कहा है—

परस्पराऽविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमदः सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात्॥

—क्षत्रचूडामणि:

अर्थात्—धर्म, अर्थ और कामका यदि एक दूसरेके साथ विरोध न करके सेवन किया जाय तो उससे सासारिक सुखोकी प्राप्ति अनिवार्य होती है, और क्रमसे मोक्ष मिलता है।

काम-सेवनके लिये पुरुषको एक स्त्रीकी और स्त्रीको एक पुरुषकी आवश्यकता होती है। विना किसी विघ्न-बाधाके निर्दिष्ट रूपसे कामसेवन[1] होता रहे और उसके द्वारा धर्मौषधिकी उपयुक्त (यथोचित) मात्रा रोगीके शरीरमें पहुँचती रहे, इसी अभिप्रायसे विवाह कर्मकी सृष्टि की गई है।

विवाहकर्मको 'दारपरिग्रह' या 'दारकर्म' भी कहते हैं, जो गृहस्थ-धर्मका एक खास अङ्ग है। स्त्री-सहित रहनेका नाम ही 'गृहस्थ' है—जलभागकी जिसमे प्रधानता हो उसीको 'पेय' कहते हैं—वह गृहस्थ ही नही जिसके पास स्त्री नही[2]। 'गृह' शब्द भी स्त्रीका वाचक है। इसीलिए सोमदेवसूरि आदि विद्वानोने लिखा है :—

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्य-कट-संघातः।—सोमदेव।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्य-कट-संहतिम्।—आशाधर।
कृतदारपरिग्रहः गृहस्थः गृहशब्दस्य दार-वचनत्वात्।
—विज्ञानेश्वर।

---

१. इस प्रकारके बाधा-रहित काम-सेवनको सोमदेवने 'अनुपहता रति' और आशाधरने 'अक्लिष्टा रति' लिखा है।

२ स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्ति.।

—नीतिवाक्यामृते, सोमदेव.

अर्थात्—वास्तवमें 'गृहिणी' (घरवाली) हीका नाम घर है। ईंट, पत्थर, लकड़ी आदिके समुदायका नाम घर नही है। साधारण बोल-चालमें भी 'घर' शब्द स्त्रीके अर्थमे व्यवहृत होता है—इस्तेमाल किया जाता है। जैसे एक शख्स कहता है कि मैं घर-सहित आया हूँ, जिसका साफ अभिप्राय यह होता है कि 'मैं अपनी स्त्रीको साथ लाया हूँ'। इन सब बातोंसे गृहस्थके लिये 'गृहिणी' का होना और भी जरूरी पाया जाता है। वह धर्म-सग्रहमें बहुत बड़ी सहायक होती है[1]। और इसीलिये ससारमे विवाहकी प्रथा प्रचलित हुई है।

किसी खास पेयके निर्दिष्ट हो जाने पर जिस प्रकार रोगीको, उसकी हितकामनासे, दूसरे इच्छानुसार पेयोंके सेवनका निषेध किया जाता है उसी प्रकार विवाह-द्वारा गृहस्थधर्मके, स्वीकार करने पर, पुरुषसे पर-स्त्रीका और स्त्रीसे पर-पुरुषका त्याग कराया जाता है। विवाहके समय दोनोको प्रतिज्ञाएँ करनी होती है। इस तरह दोनों शीलव्रतको धारण करते हैं, जिसको परदारनिवृत्ति, स्वदारसतोष, स्वभर्तृसतुष्टि और लघुब्रह्मचर्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि ससारमे शान्ति स्थापित होती है, छीना-झपटीकी प्रथा उठ जाती है, वैर-विरोध बढ़ने नही पाते और हर शख्स बिना किसी रोक-टोकके अपने विषयोको भोग सकता है तथा आनन्दके साथ अपने धर्मादिक कार्योंका सम्पादन कर सकता है। विपरीत इसके, व्यभिचारका प्रचार होनेसे जगतमे अशान्ति फैल जाती, छीनाझपटीकी प्रथा बढ जाती, मनुष्योका जीवन दु ख और आकुलतामय बन जाता और उनका भविष्य बिगड जाता। इससे कहना पडता है कि विवाहकी यह रीति बहुत ही सोच-विचार कर जारी की गई है। स्त्री हो या पुरुष, जो कोई भी विवाहके इस नियम-का उल्लघन करता है—अपने व्रतको तोड़ता है—वह राजासे दड-

---

१ नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे।—महाभारत:

नीय और प्रजासे धिक्कारका पात्र होता है, चोर-जार-पापी कहलाता है, अपने उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे 'जगतका शांति-भंग-कर्ता' समझना चाहिए। इस विषयमे सोमप्रभाचार्यने 'सूक्ति-मुक्तावली' मे वहुत ही अच्छा लिखा है —

दत्तस्तेन जगत्यकीर्त्ति-पटहो गोत्रे मषी-कूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुण-गणारामस्य दावानलः।
संकेत सकलापदां शिवपुर-द्वारे कपाटो दृढः
शील येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्य-चिन्तामणि ॥

अर्थात्—जिस मनुष्यने अपने 'शीलव्रत' को जो तीन लोकका चिन्तामणि रत्न है, भंग कर दिया है उसने जगतमे अपकीर्त्तिका ढोल वजा दिया है अपने कुलमे स्याहीका पोता फेर दिया है, निर्मल चारित्रको जलाञ्जलि दे दी है, गुणसमूहरूपी वागीचेमे आग लगा दी है, वहुतसी आपदाओंको वुलानेके लिए इशारा कर दिया है और मजवूत किवाड़ लगाकर अपने मोक्षके दरवाजेको वन्द कर दिया है।

इससे भले प्रकार समझमे आ सकता है कि 'शीलव्रत' को भंग करना कितना वडा अपराध है।

उद्देश्य-विनिर्देश

अव यहाँ पर यह वतला देना जरूरी है कि, प्यासके रोगीका उद्देश्य 'पानी पीना' नही होता। उससे प्यासकी वेदना सही नहीं जाती, इससे मजबूरन (लाचारीसे) उसकी अल्पकालिक शान्तिके लिए जल ग्रहण करता है। उसका उद्देश्य होता है "प्यासका न उत्पन्न होना—तृषारोगका समूल नाश हो जाना"। साथ ही, वह यह भी चाहता है कि मुझमे प्यासको सहन करनेकी शक्ति उत्पन्न हो और उस शक्तिके अनुसार प्यासको सहन करनेकी चेष्टा भी करता है। उसका यह कर्तव्य नही होता कि प्यासकी शान्तावस्थामे भी—जिस वक्त प्यास दवी हुई है उस वक्त भी— ख्वाहमख्वाह

बिना प्रयोजन भी—पानी पीता रहे या तृषा-वर्धक पदार्थोंको खाकर अपनी प्यास बढा लेवे। इसी तरह गृहस्थका बिवाह-द्वारा काम-सेवन करना उद्देश्य न होना चाहिए। काम-तृष्णाकी असह्य वेदना उत्पन्न होने पर—प्राकृतिकरूपसे कामका वेग बढने पर—उसकी अल्पकालिक शांतिके लिए अथवा प्रकृतिकी तात्कालिक पुकारको पूरा करनेके लिये ही उसे संभोग करना चाहिए। "कामकी वेदनाका उत्पन्न न होना, कामतृष्णाका समूल नाश होजाना और कामको जीतने की अपनेमें शक्ति पैदा करना ही" उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। साथ ही, उसे अपनी शक्तिके अनुसार प्रति-पक्ष-भावनाओंसे—विषयोंसे ग्लानि और ब्रह्मचर्यसे अनुराग उत्पन्न करानेवाली विचारधाराओंसे—काम पीडाको जीतनेका अभ्यास करना चाहिए। उसका यह कर्त्तव्य कभी न होना चाहिए कि, कामकी शान्तावस्थामे भी, विनोद आदिके तौरपर, कामक्रीड़ा करता फिरे या कामोद्दीपक पदार्थोंका—सोते हुए कामदेवको जगानेवाले लड्डुओ आदिका—सेवन करके अपनी कामतृष्णाको उत्पन्न करे। जो गृहस्थ ऐसा करता है वह विवाहके उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे तरह तरहकी यातनाएँ भोगनी पडती है। जरूरत बिना जरूरत अधिक मैथुन करनेसे—वीर्यका दुरुपयोग करनेसे—उसकी शक्ति क्षीण होजाती है। वह अपने बलको यहाँतक खो बैठता है कि बादको (पीछेसे) फिर बहुत कुछ पौष्टिक पदार्थोंका सेवन करने पर भी—अनेकों वैद्यों, हकीमों और डाक्टरोकी शरणमें जाने-पर भी—उसकी वह शक्ति वापिस नही आती और वह नपुंसक बन जाता है, जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके इन वाक्योंसे प्रकट है:—

निकाम-कामकामात्मा तृतीया प्रकृतिर्भवेत्। (यशस्तिलक)

स्त्रियमतिभजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः। (नीतिवा०)

इसलिए विवाहके उद्देश्यको खूब ध्यानमे रखते हुए, गृहस्थोको चाहिए कि वे अपनी कामवासनाको परिमित रक्खे, इन्द्रियोका

विजय[1] करना सीखें और 'विरुद्धकामप्रवृत्ति' (बे-कायदे काम-सेवन करनेवाले) न बने। साथ ही, उन्हे 'धर्म' और 'अर्थ' पुरुषार्थो-का योग्य-रीतिसे सम्पादन करते हुए, स्त्रीका सेवन इस तरह पर करना चाहिए जिस तरह पर शरीर और मनका आताप मेटनेके लिए भोजनका सेवन किया जाता है। अन्यथा, अधिक स्त्रीसेवनसे उन्हे अपने धन, धर्म और शरीर तीनोंकी हानि उठानी पड़ेगी। इसी अभिप्रायको लेकर विद्वद्वर पंडित आशाधरजी ने लिखा है:—

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत्।
क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥ (सागारधर्मामृत)

सोमदेवसूरिने भी 'यशस्तिलक' और 'नीतिवाक्यामृत' में ऐसा ही प्रतिपादन किया है :—

ऐदंपर्यमतो मुक्त्वा भोगानाऽऽहारवद्भजेत्।
देह-दाहोपशान्त्यर्थमभिध्यान-विहानये ॥ (यशस्तिलक)
न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्य स्त्रीष्वत्यासक्तिः (नीतिवा०)

वास्तवमे गृहस्थाश्रम एक 'रसायन' है। रसायनके तैयार करने-मे किसी औषधिके छूट जानेसे, औषधियोका वजन कमती बढ़ती हो जानेसे या उनकी प्रक्रिया ठीक न बैठनेसे जिस प्रकार इष्टफल घटित नही होता, उसी प्रकार गृहस्थाश्रममे धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थोमेसे किसीके छूट जाने या जानबूझ कर छोड दिये जाने पर पुरुषार्थोंकी मात्रामे कमी-बेशी हो जाने पर या और प्रकारसे उनकी प्रक्रिया और सेवन-विधि ठीक न बैठने पर इष्ट-फलकी प्राप्ति नही

---

१ इष्ट-पदार्थमे आसक्तिका और विरुद्धमे प्रवृत्तिका न होना 'इद्रिय-जय' कहलाता है; जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाऽप्रवत्तिरिन्द्रियजयः।

हो सकती। इसलिये विवाह करके गृहस्थाश्रममे प्रवेश करनेवाले पुरुष और स्त्री दोनोंको धर्म, अर्थ और काम तीनो पुरुषार्थोका 'अविरोधरूपसे' या 'समानरूपसे'[1] सेवन करना चाहिए। 'धर्म' को घात करके दूसरे पुरुषार्थोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उस किसान (कृषक) के समान है जो बीज न रखकर अपने खेतकी सब पैदावार (उपज) खा जाता है और अन्तमे दुखी होता है। असलमे सुखी वही कहलाता है जो आगामी सुखका विरोध न करके वर्त्तमान सुखको भोगता है। 'अर्थ' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ विपत्तिमे पड़ता है, क्योंकि उसके धर्म और कामका साधन अर्थ ही है ('धर्म-काम-योरर्थमूलत्वात्')। और 'काम' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ ही नही कहला सकता—गृहस्थीमे रहते इन्द्रियविषयोका सेवन जरूरी है। इसी तरह पर जो गृहस्थ 'केवल काम' पुरुषार्थका ही सेवन करता है उसके धन, धर्म और शरीर तीनो नष्ट हो जाते हैं। उसे इस लोक और परलोकमें सभी जगह कष्ट उठाना पड़ता है। जो 'केवल धन' ही कमाता है, न उसे परोपकारादि धर्मकार्योंमे लगाता हैं और न अपने विषयभोगोमे, उसके बराबर कोई मूर्ख नही हो सकता, वह केवल बोझा ढोनेवाला है—वह अपने दोनो लोक बिगाड़ता है। और जो 'केवल धर्म ही धर्म' का सेवन करता है वह गृहस्थ नही हो सकता, उसे मुनि या साधु कहना चाहिए। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर और इनके पालनके लिए तैयार होकर ही मनुष्योंको 'गृहस्थाश्रम' में प्रवेश करना चाहिए, अर्थात् विवाह कराना चाहिये। तब ही विवाहसे यथेष्ट लाभ—जैसा चाहिए वैसा फायदा—हो सकता है और तब ही उनका गृहस्थाश्रम सुखाश्रम बन सकता है।

---

१ "समं वा त्रिवर्गं सेवेत"—इति सोमदेवः।

ग्राह्य-स्त्री

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि, विवाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिए किस वर्ण या जातिकी स्त्रीसे पाणि-ग्रहण (विवाह) किया जाय ? यह प्रश्न उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार 'पेय' के सम्बन्धमे यह पूछा जाय कि उसमे कौनसे कुएँ या नदी आदिका पानी डाला जाय ? और जिस प्रकार उसका उत्तर अधिकसे अधिक इतना ही हो सकता है कि, जिस कुएँ या नदीका पानी पीनेके लिये मिल सकता हो और जिसके पीनेमें किसी प्रकार-की घृणा या संकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ तथा निर्दोष हो, पेयके उद्देश्यमें बाधक न हो, वह सब पानी पीनेके लिए ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। "जिस वर्ण या जातिसे, परस्पर व्यवहारके कारण, स्त्री मिल सकती हो और जिसके सेवनमें किसी प्रकारकी घृणा या सकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ तथा निर्दोष हो, शीलादि गुणोंसे युक्त हो, अगोपागसे दुरुस्त हो, रोग-रहित हो, पढ़ी लिखी-गुणवती हो और विवाहके उद्देश्यमे किसी प्रकारसे बाधक न होसके वह स्त्री विवाहके लिए ग्राह्य है—ग्रहण किये जाने योग्य है"। इससे अधिक इस विषयमे, सर्वसाधारणकी दृष्टिसे, कोई खास नियम निर्धारित नही किया जा सकता। जैन शास्त्रोमें भी इस विषयका कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम नही पाया जाता *। अस्तु।

---

* 'एक नियम नही पाया जाता' इसका कुछ अनुभव पाठकोको नीचेके अवतरणो तथा प्रमाणोसे हो जायगा, जो केवल इसे ही अनुभव करानेके एक मात्र उद्देश्यसे दिये जाते हैं। उनसे किसी खास रीति-रिवाजको पुष्ट करना या उसपर चलनेकी प्रेरणा करना यहा इष्ट

सबसे प्रधान उद्देश्य

समाज-संगठन

अब विवाहका सबसे प्रधान उद्देश्य बतलाया जाता है, जिसका नाम है 'समाज-संगठन'–अर्थात्, समाजका सुव्यवस्थित, बलाढ्य

नहीं है :-

(१) भगवज्जिनसेनाचार्य और श्रीसोमदेवसूरिने आनुलोम्यरूपसे ब्राह्मणोंके लिए चारो, क्षत्रियोके लिए तीन, और वैश्योंके लिये सिर्फ दो वर्णोंकी स्त्रियोंसे विवाह करनेका विधान किया है—अर्थात् तीनो वर्णोंके लिए शूद्रा स्त्रीसे विवाह करना भी उचित ठहराया है। परन्तु प्रतिलोम-विवाहकी—अपनेमे ऊपरके वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी— आज्ञा नहीं दी। जैसा कि उनके निम्न वाक्योसे प्रकट है—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वा ता च नैगमः।
वहेत्स्वा ते च राजन्यः स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता ॥—आदिपुराण
आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मणक्षत्रियविशः।
—नीतिवाक्यामृत

(२) 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' मे प्रथम तीन वर्णोंके लिये परस्पर विवाह करनेका विधान किया गया है और शूद्रोंके साथ विवाह-सम्बन्धका सर्वथा निषेध किया है। यथा—

परस्पर त्रिवर्णाना विवाह पंक्तिभोजनं।
कर्त्तव्य न च शूद्रैस्तु शूद्राणा शूद्रकैः सह ॥

इससे असवर्ण विवाहके साथ साथ प्रतिलोम विवाहकी भी साफ तौरसे ध्वनि निकलती है। और प्रथमानुयोगके ग्रन्थोमे तो प्रतिलोम विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते है। स्वय राजा श्रेणिकने, जो क्षत्रिय था, अपने पुरोहित सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्रीसे विवाह किया था।

और वृद्धिगत होना । समाज व्यक्तियोंसे बनता है—व्यक्तियोंके समुदायका नाम ही समाज है—और व्यक्तियोंका समुदाय तभी बढता है जब कि विवाहसे संतान उत्पन्न हो। इसलिए सतानोत्पा-

---

(३) दाय-भागके ग्रन्थो अथवा प्रकरणोमे भी असवर्ण विवाहके विधानोका उल्लेख पाया जाता है—उनमे ऐसे विवाहोसे उत्पन्न हुई संततिके लिये विरासतके नियम दिये है—और उनके लिये 'अर्हन्नीति' आदि ग्रन्थोको देखना चाहिये, जिनके प्रमाणोको विस्तार-भयसे छोडा जाता है। अथवा जैन-ला-कमेटी देहली द्वारा प्रकाशित 'जैन-नीति-सग्रह' को देखना चाहिये जिसमे ऐसे कितने ही प्रकरणोका सग्रह किया गया है।

जब असवर्ण विवाहो तकका विधान है तब जातियो उपजातियोंकी तो कोई गिनती ही नही हो सकती—उनकी कल्पना तो बहुत पीछे हुई है।

(४) म्लेच्छो और भीलोकी कन्याओंके साथ विवाह होनेके भी बहुतसे उदाहरण शास्त्रोमे मिलते हैं और उनके करनेवाले अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष हुए हैं, जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ति, वसुदेव आदि। परतु आज ऐसे सम्बन्ध गर्हित समझे जाते हैं।

(५) श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवजीने अपने चचाजाद भाई देवसेन-की लडकी 'देवकी' से भी विवाह किया था। और इससे यह प्रकट है कि उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमे भी विवाह हो जाता था, जो आजकल हेय समझा जाता है। और कुछ जातियोमे तो आठ-आठ गोत्र टालकर विवाह किया जाता है। वसुदेवजीने 'एणीपुत्र' नामकके 'व्यभिचारजात' की पुत्री 'प्रियगुसुन्दरी' से भी, जिसे आजकलकी भाषामे 'दस्से या गाटेकी लडकी' कहना चाहिये, विवाह किया था। (देखो 'हरिवशपुराण'।)

(६) मामा फूफीकी कन्याओसे विवाहका पहले आम दस्तूर था

दन करना भी विवाहका मुख्य उद्देश्य है। जिस मैथुनसे प्रजा या संतान उत्पन्न नही होती उसको विद्वानोंने नामका मैथुन, निष्फल मैथुन और धिक्कारयोग्य मैथुन कहा है ('धिग्मैथुनमप्रजम्')।

और उनके उदाहरणोंसे शास्त्र भरे हुए हैं। अब भी कितनी ही जातियोंमे अथवा स्थानोंपर ऐसे विवाह होते हैं और इसीलिये सोमदेवसूरिने लिखा है कि 'देश-कुलापेक्षो मातुल-सम्बन्ध.'—अर्थात् मामाकी पुत्रीसे विवाह देश तथा कुलकी अपेक्षा रखता है। अतः वह सार्वदेशिक नही है।

(७) आदिपुराणमे, विवाह-विधानोंमे स्वयंवर-विधिको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है और उसे सनातन मार्ग लिखा है। यथा :—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुति-स्मृतिषु भाषितः।
विवाह-विधि-भेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥

परन्तु स्वयंवरमे कन्या अपनी इच्छानुसार वरको वरण करती है। उसमें कुलीन या अकुलीनका कोई विचार अथवा क्रम नही होता; जैसा कि ब्रह्मजिनदासकृत हरिवंशपुराणके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥

ऐसी हालतमे विवाहके लिए वर्ण, जाति और कुल-गोत्रका कुछ भी नियम नही रहता।

(८) सोमदेवसूरि आदि कितने ही विद्वानोंने, गृहस्थोंके लिये लौकिक और पारलौकिक ऐसे दो प्रकारके धर्मोका विधान करते हुए लौकिकधर्मको लोकाश्रित—अर्थात् लौकिक जनोंकी देशकालानुसारिणी प्रवृत्तिके अधीन—और पारलौकिकको आगमाश्रित अथवा आप्तप्रणीत शास्त्रोंके अधीन बतलाया है। सांसारिक व्यवहारोंके लिये आगमका आश्रय लेना भी व्यर्थ ठहराया है। और साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि जैनियोंके लिये वे संपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण हैं—

और इसी लिए प्राय: ऋतुकालमें ही मैथुनका विधान किया गया है ('ऋतौ भार्यामुपेयात्'), जब कि स्त्रीमे गर्भाधानकी योग्यता रहती है और जो स्त्रीको मासिक धर्म हो चुकने पर प्राय: १२ दिन तक रहती है। दूसरे समयोमे मैथुन करनेसे गर्भ धारण नही हो सकता, ऐसा वैद्यकशास्त्रोका मत है। भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमे, विवाह-विधिका वर्णन करते हुए, साफ तौरसे "संतानके लिए ऋतुकालमेंही" स्त्रीपुरुषोको, यदि वे उस समय रोगादिकके कारण

ग्राह्य है—जिनसे उनकी धार्मिक श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे कोई बाधा न पडती हो और न व्रतोमे ही कोई दूषण लगता हो। यथा—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक: पारलौकिक ।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्य. पर. स्यादागमाश्रय: ॥
संसार-व्यवहारे तु स्वत. सिद्धे वृथागम: ।
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि:
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ॥

—यशस्तिलक

ऐसी हालतमे विवाह-विधिका,जो कि गृहस्थोका एक लौकिक धर्म है और लोकाश्रित होनेसे परिवर्तनशील है, कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम हो ही नही सकता। और इसलिये जिन विवाह-विधियोके द्वारा दूसरे वर्णो या जातियो आदिके साथ सम्बंध जोड़ा जाता है उनसे यदि जैनियोकी धार्मिक श्रद्धामे कोई बाधा न पडती हो और न उनके व्रतोमे कोई दोष लगता हो तो वें सभी विधियाँ जैनियोके लिये एक प्रकारसे उचित और मान्य ठहरती हैं। और इसीलिये 'ग्राह्य-स्त्री'के सम्बन्धमे ऊपर जो कुछ उत्तर दिया गया है वह ठीक और समुचित ही प्रतीत होता है।

जैनशास्त्रोकी तरह, हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोमे भी, सर्व देशो और सर्व समयोके लिये, ग्राह्य-स्त्री-विषयक कोई एक नियम नही पाया जाता।

था और तौरपर वैसा करनेके लिये असमर्थ न हो और वह समय भी कोई पर्वादि वर्ज्य काल न हो तो, परस्पर काम-सेवन करना लिखा है। यथा —

सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥३८-१३५॥

इसी ग्रन्थके १५ वें पर्वमें उक्त आचार्यमहोदयने ये वाक्य भी दिये हैं.—

त्वामाऽऽदिपूरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्त्तताम्।
महतां मार्गवर्तिन्य प्रजाः सुप्रजसो ह्यमूः ॥६१॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु।
प्रजा-संततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥६२॥
प्रजा-संतत्यविच्छेदे तनुते धर्म-संततिः।
मनुष्व मानव धर्मं ततो देवेनमच्युत ॥६३॥
देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि-दारपरिग्रहम्।
संतानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥६४॥

इन वाक्योंमें विवाहकी उस प्रार्थनाका वर्णन है जो युगकी आदिमें नाभिराजाने भगवान् वृषभदेवसे की थी और जिसके अनुसार वृषभदेवने विवाह कराना स्वीकार किया था। प्रार्थनामें बतलाया गया है कि 'विवाह करना गृहस्थोंका धर्म है'। गृहस्थोंको संतान

---

१ जैन-विवाह-पद्धतिमें भी लिखा है कि 'अन्य-स्त्रीका त्याग और निजस्त्री-मात्रमें प्रवृत्तिरूप जो यह विवाहकर्म है वह गृहस्थोंका धर्म है और संततिका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये अनादि-प्रवाहसे चला आता है। इस गृहस्थ-धर्मका यथेष्ट रीतिसे धारण और पालन होनेपर मुनि-धर्ममें आदर उत्पन्न होता है अथवा यों कहिये कि मुनि-धर्मकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति होती है।' यथा —

अन्याङ्गनापरिहृतिर्निजदारवृत्ति-

उत्पन्न करने और उसकी रक्षा करनेमे यत्न करना चाहिए। विवाह के द्वारा प्रजाका सिलसिला वद न होकर धर्मका सिलसिला बराबर जारी रहता है'। इससे विवाहका साफ उद्देश्य धार्मिक सतानका उत्पन्न करना पाया जाता है। इसी तरह श्रीसोमदेवसूरि और प० आशाधरजी आदि दूसरे जैन विद्वानोने भी संतानोत्पादनको विवाह-का उद्देश्य वतलाया है। हिन्दू-धर्मके विद्वानोंका भी इस विषयमे प्राय: ऐसा ही मत है[1]।

संगठनकी जरूरतका बाह्यदृष्टिसे विचार

अब देखना यह है कि विवाहद्वारा संतान उत्पन्न करके समाज-सगठनकी जरूरत क्यो पैदा होती है? जरूरत इसलिये होती है कि यह जीवन एक प्रकारका 'युद्ध' है—लौकिक और पारलौकिक

धर्मो गृहस्थजनता-विहितोऽयमास्ते।
नादिप्रवाह इति सन्तति-पालनार्थ-
मेवं कृतौ मुनिवृषे विहितादरः स्यात्॥

१ वे भी धार्मिक प्रजाकी अथवा धर्म और प्रजा (सतति) दोनो-की सततिको विवाहका प्रयोजन मानते हैं; जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृति-के निम्न श्लोक और उसकी 'मिताक्षरा' टीकासे प्रकट है—

लोकानन्त्यं दिव प्राप्ति. पुत्रपौत्रप्रपौत्रकै।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिता॥

टीका—लोके आनत्य वंशस्याविच्छेद: दिव प्राप्तिश्च दारसंग्रहस्य प्रयोजनम्। कथमित्याह। पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादि-भिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वय.। यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्द्वय भवति तस्मात् स्त्रियः सेव्या उपभोग्याः प्रजार्थम्। रक्षितव्याश्च धर्मार्थम्। तथा चाऽऽपस्तम्बेन धर्मप्रजासपत्ति प्रयोजन दारसंग्रहस्योक्त 'धर्मप्रजास-पन्नेषु दारेषु नान्या कुर्वीत' इति वदता। रति-फल तु लौकिकमेव।

या अन्तरग और वहिरग दोनों ही दृष्टियोंसे इसे युद्ध समझना चाहिए—और यह संसार 'युद्धक्षेत्र' है। युद्धमे जिस प्रकार अनेक शक्तियोका मुकावला करनेके लिये सैन्य-सगठनकी जरूरत होती है उसी प्रकार जीवन-युद्धमे अनेक आपदाओसे पार पानेके लिए समाज-संगठनकी आवश्यकता है।

हम चारो ओरसे इस ससारमे इतनी आपत्तियो-द्वारा घिरे हुए हैं कि यदि हमारे पास उनसे वचनेका कोई साधन नही है तो हम एक दिन क्या, घडी भर भी जीवित नही रह सकते। वाह्य जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि एक शक्ति वड़ी सरगर्मी (तत्परता) के साथ दूसरी शक्ति पर अपना स्वत्व (स्वामित्व) और प्रावल्य स्थापित करना चाहती है, अपने स्वार्थके सामने दूसरी को विलकुल तुच्छ और नाचीज समझती है, चैतन्य होते हुए भी उससे जड-जैसा व्यवहार करती है और यदि अवसर मिले तो उसे कुचल डालती है—हडप कर जाती है। रात दिन प्राय. इस प्रकार-की घटनाएँ देखनेमे आती हैं। निर्वलो पर खूव अत्याचार होते हैं। न्यायालय खुले हुए हैं, परन्तु वे सव उनके लिये व्यर्थ हैं। उनकी कोई सुनाई नही होती। इसीलिए न कि, उनका कोई रक्षक या सहायक नही है उनमे कौटुम्विक वल नही है, जिस समाजके वे अग हैं वह सुव्यवस्थित नही है, पैसा उनके पास नही है, उन्हे कोई साक्षी उपलव्ध नही होता— कोई गवाह मयस्सर नही आता। जो लोग प्रत्यक्षमे उनपर होते हुए अत्याचारोको देखते हैं वे भी अत्या-चारीके भयसे या अपने स्वार्थमे कुछ वाधा पडनेके भयसे वेचारे गरीवोकी कोई मदद नही करते, उन्हे 'न्याय-भिक्षा' दिलानेमे समर्थ नही होते। और इस तरह वेचारे पारिवारिक और सामाजिक शक्ति-विहीनोको रात-दिन चुपचाप घोर सकट और दु:ख सहन करने पडते हैं।

ससारमे अविवेक और स्वार्थकी मात्रा इतनी वढ़ी हुई है कि

उसके आगे पापका भय कोई चीज नही है। पापके भयसे बहुत ही कम अपराधोकी रोक होती है। ऐसे बहुत ही कम लोग निकलेंगे जो पापके भयसे अपराध न करते हो। जो है उन्हे सच्चे धर्मात्मा समझना चाहिए। बाकी अधिकाश लोग ऐसे ही मिलेंगे जो लोक-भयसे, राज्य-भयसे या परशक्तिके भयसे पापाचरण करते हुए डरते है। अन्यथा, उन्हे पापसे कोई घृणा नही है वे सब जब मौका मिलता है तब ही उसे कर बैठते है।

ऐसी हालतमें समूह बनाकर रहनेकी बहुत ही जरूरत है। समूहमे बहुत बडी शक्ति होती है। छोटे छोटे तिनको और कच्चे सूतके धागोंका कुछ भी बल नही है, उन्हे हर कोई तोड-मरोड सकता है। परन्तु जब वे मिलकर एक मोटे रस्सेका रूप धारण कर लेते हैं तब बडे बड़े मस्त हाथी भी उनसे बाधे जा सकते है। चीटिया आकार मे कितनी छोटी छोटी होती है, परन्तु वे अपनी समूहशक्तिसे एक सापको मार लेती हैं। जिनकी समूहशक्ति बढी हुई होती है उन पर एकाएक कोई आक्रमण नही कर सकता हर एकको उन पर अत्याचार करने या उनके स्वार्थमे बाधा डालनेका साहस नही होता, उनके स्वत्वों और अधिकारोकी बहुत कुछ रक्षा होती है। विपरीत इसके, जिनमे समूहशक्ति नही होती वे निर्बल कहलाते है और निर्बलो पर प्राय राजा और प्रजा सभीके अत्याचार हुआ करतेहैं। छोटी छोटी मछलियाँ सख्यामे अधिक होने पर भी अपनेमे समूहशक्ति नही रखती, इसलिये बड़ी बडी मछलियाँ या मच्छ उन्हे खा जाते है। मधुमक्खियाँ (शहदकी मक्खियाँ) अपनेमे कुछ समूह-शक्ति रखती है, इससे हर एकको उनके छत्तेके पास तक जानेका साहस नही होता। साधारण मक्खियोमे वह शक्ति नही है, इसलिये उन्हें हर कोई मार गिराता है। इससे केवल व्यक्तियोकी सख्याके अधिक होनेका नाम 'समूह' या 'समूहशक्ति' नही है, बल्कि उनका मिलकर 'एक प्राण' और 'एक उद्देश्य' हो जाना ही समूहशक्ति

कहलाता है।

एक कुटुम्बके किसी व्यक्ति पर जब कोई अत्याचार करता है तो उस कुटुम्बके सभी लोगोको एकदम जोश आजाता है और वे उस अत्याचारीको उसके अत्याचारका मजा (फल) चखानेके लिए तैयार हो जाते हैं, इसीको 'एक प्राण होना' कहते है। इसी तरह जब कुटुम्बका कोई मनुष्य कुटुम्बके उद्देश्यके विरुद्ध प्रवर्त्तता है—अन्यायमार्ग पर चलता है—तो उससे भी कुटुम्बके लोगोके हृदय पर चोट लगती है और वे,शरीरके किसी अंगमे उत्पन्न हुए विकारके समान, उसका प्रतिशोध करनेके लिये तैयार हो जाते है, इसको भी 'एक प्राण होना' कहते हैं। साथ ही,यह सब उनके 'एक उद्देश्य' होनेको भी सूचित करता है।

इस प्रकार एक प्राण और एक उद्देश्य होकर जितनी भी अधिक व्यक्तियां मिलकर एक साथ काम करती हैं उतनी ही अधिक विघ्न-बाधाओंसे सुरक्षित रहकर वे शीघ्र सफल मनोरथ होती हैं। यही समाज-सगठनका मुख्य उद्देश्य है और इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाहकी सृष्टि की गई है। इसमे पूरा 'रक्षा-तत्त्व' भरा हुआ है।

एक विवाह होने पर दोनो पक्षकी कितनी शक्तियाँ परस्पर मिलती है, एक दूसरेके सुख-दुखमे कितनी सहानुभूति बढती है और कितनी समवेदना प्रकट होती है, इसका अनुभव वे सब लोग भले प्रकार कर सकते है जो एक सुव्यवस्थित कुटुम्बमे रहते हो। युद्धमे दो राजशक्तियोके परस्पर मिलनेसे—एक सूत्रमे बँधनेसे—जिस प्रकार आनन्द मनाया जाता है, उसी प्रकार विवाहमे वर और वधू दोनो पक्षकी शक्तियोके मिलापसे आनन्द का पार नही रहता। इस सम्मिलित शक्तिसे जीवन-युद्ध अनेक अशोंमे सुगम होजाता है। विवाहके द्वारा कुटुम्बोकी रचना होती है और कुटुम्बोसे 'समाज' बनता है। कुटुम्बोंके सगठित,बलाढ्य और सुव्यवस्थित होनेपर समाज सहजमे ही संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होजाता है। और समाजके

सगठित, बलाढ्य और सुव्यवथित होने पर उन सब लौकिक तथा धार्मिक स्वत्वोको—अधिकारोकी—पूर्णतया रक्षा होती है, जिनकी रक्षा प्रत्येक व्यक्ति या कुटुम्ब अलग अलग नही कर सकता।

दूसरे शब्दोमे यों कहना चाहिए कि सब कुटुम्ब समाज शरीरके अङ्ग है। एक भी अङ्गकी व्यवस्था बिगड़ जानेपर जिस प्रकार शरीर-के काममें बाधा पड़ जाती है उसी प्रकार किसी भी कुटुम्बकी व्यवस्था बिगड जाने पर समाजके काममे हानि पहुँचती है। और जिस प्रकार सब अङ्गोंके ठीक होनेपर शरीर स्वस्थ और नीरोग होकर भले प्रकार सब कार्योंका सम्पादन करनेमे समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाज भी सब कुटुम्बोंकी व्यवस्था ठीक होनेपर यथेष्ट रीतिसे धर्म-कर्म आदिकी व्यवस्था कर सकता है और प्रत्येक कुटुम्ब तथा व्यक्ति-के स्वत्वोकी रक्षा और उसकी आवश्यकताओकी पूर्तिका समुचित प्रबध कर सकता है। इससे कहना होगा कि 'समाजका सगठन कुटुम्बोके सगठनपर अवलम्बित है और कुटुम्बके सगठनका भार कुटुम्बके प्रधान व्यक्तियो पर— गृहिणी और गृहपति' पर—होता है। इसलिए विवाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये विवाहित और विवाहके लिए प्रस्तुत स्त्री-पुरुषोको इस ओर खास ध्यान देनेकी जरूरत है। उन्हे अपनी जिम्मेदारियोको खूब समझ लेना चाहिये। उनके द्वारा कोई भी ऐसा काम न होना चाहिए जिससे समाजसंगठनमे बाधा पड़ती हो। साथ ही, उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक परिस्थिति नही सुधरेगी— वातावरण ठीक नही होगा—तब तक हम अपनी स्थितिको भी जैसा चाहिए वैसा नही सुधार सकते। इसलिये समाज-सगठनके अभिप्रायसे— वायुमंडलको सुधारनेकी दृष्टिसे— उन्हे अपने कुटुम्बको सुव्यवस्थित करनेमे कोई बात उठा न रखनी चाहिये। इस प्रकारके प्रयत्नसे सब कुटुम्बोके सुव्यवस्थित हो जाने पर जो स्वच्छ वायु-धारा बहेगी वह सभीके लिये स्वास्थ्यप्रद होगी और उसमें रह-कर सभी लोग अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रत्येक कुटुम्बको 'सुव्यवस्थित और बलाढ्य' बनानेके लिए उसके प्रधान पुरुषोको इन बातोपर ध्यान रखनेकी खास जरूरत है —

(१) स्वयं सदाचारसे रहना और अपने कुटुम्बियों तथा आश्रितो-को सदाचारके मार्ग पर लगाना। ऐसा कोई काम न करना जिसका समाजपर बुरा असर पड़े।

(२) अपने बुद्धि-बल शरीर-बल और धन-बलको बराबर बढाते रहना और सदा प्रसन्न चित्त रहनेकी चेष्टा करना।

(३) सबके दुख-सुखका पूरा खयाल रखना, सबको परस्पर प्रेम तथा विश्वास करना सिखलाना और दु खियोके दु ख दूर करनेका प्रयत्न करना। साथ ही, किसीपर अत्याचार न करना और दूसरोंके द्वारा होते हुए अत्याचारोको यथाशक्ति रोकना।

(४) वीर्यका दुरुपयोग न करके प्रायः सन्तानके लिए ही मैथुन करना। किसी व्यसनमे न फँसना और जितेन्द्रिय रहना।

(५) स्वयं कुसङ्गतिसे बचना और अपने परिवारके लोगोको बचाते रहना। साथ ही, अपनी सन्ततिका कभी बाल्यावस्थामे विवाह न करना।

(६) सन्तानकी तथा अन्य कुटुम्बियोकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करना, उन्हे धर्मके मार्ग पर लगाना और ऐसी शिक्षा देना जिस-से वे परावलम्बी न बनकर प्राय स्वावलम्बी बनें और देश, धर्म तथा समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हो।

(७) कुटुम्बभरमे एकता, सत्यता, समुदारता दयालुता, गुण-ग्राह-कता, आत्म-निर्भरता और सहनशीलता आदि गुणोका प्रचार करना। साथ ही, ईर्षा, द्वेष और अदेखसका-भाव आदि अवगुणोको हटाना।

(८) रूढियोका दास न बनकर कुरीतियोको दूर करना और जो कुछ युक्ति तथा प्रमाणसे समुचित और हितरूप जँचे उसीके अनु-सार चलना।

(९) धर्मप्रचार और समाजके उत्थानकी बराबर चिन्ता रखना और धार्मिक कार्योंमें सदैव योग तथा सहायता देते रहना।

(१०) मितव्ययी (किफायती) बनना, परन्तु कृपण नहीं होना। साथ ही, पूज्योंकी पूजाका कभी व्यतिक्रम न करते हुए, बराबर अतिथि-सत्कारमें उद्यमी रहना और उसे यथाशक्ति करना।

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन दस बातोंको अपना 'कर्तव्य-कर्म' बना लेना चाहिए, अपने समस्त आचार-व्यवहारका 'सूत्र' समझना चाहिये और विवाहके गठजोड़ेके समय इनकी भी 'गांठ' बांध लेनी चाहिए।

अन्तरङ्ग-दृष्टिसे विचार

यह तो हुआ बाह्य जगतकी दृष्टिसे विचार। अब अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालिये। अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि, यह जीवात्मा अनादिकालसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान-मद, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, अज्ञान, अदर्शन, अन्तराय और वेदनीय आदि सैकड़ों और हजारों कर्मशत्रुओंसे घिरा हुआ है, जिन सबने इसे बंधनमें डालकर पराधीन बना रक्खा है और इसकी अनन्त शक्तियोंका घात कर रक्खा है। इसीलिए यह आत्मा अपने स्वभावसे च्युत होकर विभाव-परिणतिरूप परिणम रहा है और अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोग रहा है। इसका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'बन्धनसे छूटकर स्वाधीनता प्राप्त करना'।

परन्तु बन्धनसे छूटना आसान काम नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्रकी परतन्त्रतासे अलग होना चाहता है—स्वाधीन बननेकी इच्छा रखता है—तब उसे रातदिन इसविषयमें प्रयत्नशील रहनेकी जरूरत होती है, बड़े बड़े उपायोंकी योजना करनी पड़ती है, घोर सकट सहन करने होते हैं, बन्धनोंमें पड़ना होता है, हानियाँ उठानी

पडती है, अपने स्वार्थकी बलि देनी होती है और बहुतसे ऐसे काम भी करने पड़ते है जिनका करना उसे इष्ट नही होता और न वे उसके उद्देश्य ही होते हैं, परन्तु बिना उनके किये उसे अपने उद्देश्योमे सफलता प्राप्त नही हो सकती, और इसलिये वह उन्हें लाचारीकी दृष्टिसे करता है। साथ ही, वह अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नही होता और न दूसरे राष्ट्रकी मोह-मायामें फँसता है। तब कही वह वर्षोंके बाद परतन्त्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वतन्त्रताकी शीतलछायामें निवास करता है। इसी तरह पर उस आत्माको भी,जो कर्मके बन्धनसे छूटना चाहता है, अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिये बड़े बड़े प्रयोग करने होते है और नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसे बन्ध-मुक्त होनेके लिये बन्धनमें भी पड़ना होता है, कर्मसे छूटनेके लिये कर्म भी करना पड़ता है, हानिसे बचनेके लिए हानि भी उठानी पड़ती है, पापसे सुरक्षित रहनेके लिये पाप भी करना होता है और शत्रुओंसे पिंड छुडानेके लिये शत्रुओंका आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु इन सब अवस्थाओंमें होकर जाता हुआ मुमुक्षु आत्मा अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नही होता—पुद्गलके अथवा प्रकृतिके मोहजालमें कभी नही फँसता। वह कभी बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र स्वीकार नही करता। और न कभी इन बन्धादिक अवस्थाओंको इष्ट समझता हुआ उनमें तल्लीन ही होता है। बल्कि उसका प्रेम इन सब अवस्थाओंसे सिर्फ 'कार्यार्थी' होता है। कार्यार्थीका प्रेम कार्यकी हदतक रहता है। कार्यकी समाप्तिपर उसकी भी समाप्ति हो जाती है। इसलिए वह अपने किसी इष्ट प्रयोजनकी साधनाके निमित्त लाचारीसे इन बन्धादिक अवस्थाओंसे क्षणिक प्रेम रखता हुआ भी बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्पाप और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करता रहता है। इस विषयमें उसका यह सिद्धान्त होता है :—

उपकाराद्‌गृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत्।

पादलग्नं करस्थेन कंटकेनेव कंटकम् ॥

अर्थात्—हाथमें काँटा लेकर जिस प्रकार पैरका काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार उपकार तथा प्रेमादिकसे एक शत्रुको अपना बनाकर उसके द्वारा दूसरे शत्रुको निर्मूल करना चाहिए। अभिप्राय यह कि, पैरमें लगे हुए काँटेको निकालनेके लिए पैरमें दूसरा काँटा चुभानेकी जरूरत होती है और उस दूसरे काँटेको आदरके साथ हाथमें ग्रहण करते है। परन्तु वह दूसरा काँटा वास्तवमे इष्ट नही होता—कालान्तरमें वह भी पैरमे चुभ सकता है—और न उसका चुभाना ही इष्ट होता है—क्योकि उससे भी तकलीफ जरूर होती है, फिर भी उस अधिक पीड़ा पहुँचानेवाले पैरके काँटेको निकालनेके लिए यह सब कुछ किया जाता है। और कार्य हो चुकने पर वह दूसरा काँटा भी हाथसे डाल दिया जाता है। इसी सिद्धान्त पर मुमुक्षु आत्माको बराबर चलना होता है। उसका जानबूझकर किसी बंधन में पड़ना, कोई पापका काम करना और किसी शत्रुकी शरणमे जाना दूसरे अधिक कठोर बन्धनसे बचने, घोर पापसे सुरक्षित रहने और प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुडानेके अभिप्रायसे ही होता है। यद्यपि उसे सम्पूर्ण कर्मशत्रुओंका विजय करना इष्ट होता है, परन्तु साथ ही वह अपनी शक्तिको भी देखता है और इस बातको समझता है कि यदि समस्त शत्रुओको एकदम चैलेंज दे दिया जाय—सबका एक साथ विरोध करके उन्हें युद्धके लिए ललकारा जाय—तो उसे कदापि सफलता प्राप्त नही हो सकती। इसलिए वह बराबर अपनी शक्तिको बढ़ानेका उद्योग करता रहता है। जब तक उसका बल नही बढता तब तक वह अपनी तरफसे आक्रमण नहीं करता, केवल शत्रुओंके आक्रमणकी रोक करता है, कभी कभी उसे टेम्परेरी (अल्पकालिक) संधियाँ भी करनी पड़ती हैं। और जब जिस विषयमें उसका बल बढ जाता है तब उसी विषयके शत्रुसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता है और उसे नियमसे परास्त कर देता है। इस

तरह वह सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है।

गृहस्थाश्रम भी कर्मबन्धनसे छूटनेके प्रयोगोंमेंसे एक प्रयोग है और स्त्री पुरुष दोनों मुमुक्षु हैं—कर्मबन्धनसे छूटनेके इच्छुक है—इसलिए उन्हे भी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर गृहस्थाश्रमकी बन्धादिक अवस्थाओको अपना स्वरूप न समझ लेना चाहिए, उन्हें सर्वथा इष्ट मानकर उनमे लवलीन न हो जाना चाहिए। बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र न मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेनेसे फिर कर्मका बन्धन न छूट सकेगा। अन्तरग दृष्टिसे उनका भी प्रेम इन सब अवस्थाओंसे 'कार्यार्थी' होना चाहिए और उन्हे बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्कषाय और नि शत्रु होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, उनका भी वही कटकोन्मूलन-सिद्धान्त होना चाहिए और उन्हे बड़ी सावधानीके साथ उस पर चलना चाहिए। उनका जानबूझकर गृहस्थीके बन्धनोमें पडना, आरम्भादिक पापोमे फँसना और कामादिक शत्रुओका शरण लेना नरक-निगोद-तिर्यंचादिकके कठोर बधनोंसे बचने, सकल्प तथा अशुभ रागादि-जनित घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और अज्ञान-मिथ्यात्वादि प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुडानेके अभिप्रायसे ही होना चाहिए। उन्हे अपने पूर्ण ब्रह्मचर्यादि धर्मों पर लक्ष्य रखते हुए समस्त कर्म शत्रुओको जीतनेका उद्देश्य रखना चाहिए और उसके लिए बराबर अपना आत्म-बल बढ़ाते रहना चाहिए। आत्माका बल शुभकर्मोंसे बढता है, और अशुभकर्मोंसे घटता है। इसलिए गृहस्थाश्रममें उन्हे अशुभकर्मोंका त्याग करके बराबर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्म-द्वारा आत्माका बल बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है। इसीलिए महर्षियोंने इस गृहस्थाश्रमकी सृष्टि की है। शुभकर्मोंके द्वारा आत्म-बल बढ जाने पर गृहस्थोको, प्रेमपूर्वक ग्रहण किये हुए हाथके काटेके समान, गृहस्थाश्रमका भी त्याग कर देना चाहिए और

फिर उन्हे 'वानप्रस्थ' या 'सन्यस्त' (मुनि) आश्रम धारण करना चाहिए, और इस प्रकार कर्मोंका बल घटाते हुए अन्तके आश्रम द्वारा उन्हें सर्वथा निर्मूल करके बन्धनसे छूट जाना चाहिए। यही मुक्तिकी सुसरल युक्ति है। और इसके उपर्युक्त दिग्दर्शनसे पाठक स्वयं समझ सकते है कि गृहस्थाश्रम अथवा गृहस्थधर्मका यह प्रणयन कितना अधिक युक्ति और चतुराईको लिये हुए है[1]। और उस पर पूरा पूरा अमल होनेसे मुक्ति कितनी सन्निकट हो जाती है।

परन्तु इन समस्त आश्रमोंके धर्मका पूरी तौरसे पालन तब ही हो सकता है जब 'समाजका संगठन अच्छा हो'। बिना समाज-सगठनके कोई भी काम यथेष्ट रीतिसे नही हो सकता। बाह्यसाधन न होनेसे सब विचार हृदयके हृदयमे ही विलीन हो जाते है, बन्ध-मोक्षकी सारी कथनी ग्रन्थोंमें ही रक्खी रह जाती है और असली सूरत कुछ भी बन नही पड़ती। जैनियोका सामाजिक सगठन बिगड़ जानेसे ही अफसोस ! आज वस्तुतः मुनिधर्म उठ गया !! और इसीसे जैनियोकी प्रगति रुक गई। मुनियोंका धर्म प्राय गृहस्थोंके आश्रय होता है। इसीलिए श्रीपद्मनन्दी आदि आचार्योंने "गृहस्था धर्महे-

---

१ विवाह-पद्धतिमे भी, भगवान् 'वृषभ' देवका स्तवन करते हुए, यह बतलाया गया है कि 'उन्होने युगकी आदिमे कल्याणकारी गृहस्थधर्मको प्रवर्तित करके उसके द्वारा युक्तिके साथ निर्वाण-मार्गको प्रवर्तित किया था'। यथा :—

प्रावर्तयज्जन-हितं खलु कर्मभूमौ षट्कर्मणा गृहिवृष परिवर्त्य युक्त्या।
निर्वाण-मार्गमनवद्यमज स्वयम्भू श्रीनाभिसूनुजिनपो जयतात्स पूज्य.॥

जो लोग विवाहको सर्वथा ससारका कारण मानकर निवृत्तिप्रधान धर्मोंके साथ उसको असम्बद्ध समझते हैं, यह उनकी बडी भूल है। उन्होने विवाहके वास्तविक उद्देश्यको नही समझा और न धर्मका रहस्य ही मालूम किया है।

तव:" "श्रावका मूलकारणम्" इत्यादि वाक्योंके द्वारा गृहस्थोको 'धर्मका हेतु' और 'मुनिधर्मका मूल कारण' बतलाया है[1]। परन्तु गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था ठीक न होनेसे—समाजके अव्यवस्थित और निर्बल होनेसे—यह सब कुछ भी नही हो सकता। इसलिए अन्तरंग और बहिरंग दोनो दृष्टियोसे समाज-संगठनकी बहुत बड़ी जरूरत है। इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाह होना चाहिए और उसको पूरा करनेके लिये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको उन दस कर्त्तव्योका पूरी तौर-से पालन करना चाहिये जो कुटुम्बोको सुव्यवस्थित बनानेके लिए बतलाये गये है और जिन पर समाजका सगठन अवलम्बित है। धर्मशास्त्रोकीदृष्टिसे विवाहके ये ही सब उद्देश्य हैं। अन्य सब छोटी-मोटी बातें इन्हीमे समाजाती हैं[2]।

उद्देश्यसिद्धिके लिये जरूरत

विवाहके इन सब उद्देश्योंको पूरा करने अथवा सिद्ध करनेके

---

१ 'मनु' आदिने भी गृहस्थाश्रमको प्रधानता दी है और लिखा है कि 'शेप तीनो आश्रमोका उसीके द्वारा भरण-पोपण होता है और वे उसके आश्रित हैं'। यथा:—

सर्वेषामपि चैतेषा वेद-स्मृति-विधानत ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ —मनुस्मृति.

२ श्रीसोमदेवसूरिने, नीतिवाक्यामृतके निम्न वाक्यमे, दारकर्म (विवाह) के जो पाँच फल बतलाये हैं उनमेसे कोई भी फल ऐसा नही है जो इन उद्देश्योसे भिन्न हो अथवा इनके द्वारा साध्य न हो.—

धर्मसततिरनुपहतारतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभि-
जात्याचारविशुद्धिर्देव-द्विजाऽतिथि-बान्धव-सत्कारा-
नवद्यत्वं दारकर्मण: फलम् ।

लिये और गृहस्थाश्रमका भार समुचित-रीतिसे उठानेके लिये इस बातकी बहुत बडी जरूरत है कि 'स्त्री और पुरुष दोनो योग्य हो, समर्थ हों, युवावस्थाको प्राप्त हो और विवाहके उद्देश्योको भले प्रकार समझते हो। बाल्यावस्थासे ही उनके शरीरका संगठन अच्छी रीतिसे हुआ हो, वे खोटे संस्कारोंसें दूर रक्खे गये हो और उनकी शिक्षा-दीक्षाका योग्य प्रबन्ध किया गया हो। साथ ही, विवाह-सस्कार होने तक उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य-का पालन किया हो और लौकिक तथा पारमार्थिक ग्रन्थोका अध्ययन करके उनमें दक्षता प्राप्त की हो—अच्छी लियाकत हासिल की हो।' विना इन सब बातोंकी पूर्ति हुए विवाहके उद्देश्योका पूरे तौरसे पालन नही हो सकता, न गृहस्थाश्रम-का भार समुचित्त-रीतिसे उठाया जा सकता है और न वह गृहस्थाश्रम सुखाश्रम ही बन सकता है[1]। इसीलिए गृहस्थाश्रमसे पहले आचार्योंने एक दूसरे आश्रमका विधान किया है, जिसका नाम है 'ब्रह्मचारी आश्रम'—अर्थात्, ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते हुए शारीरिक और मानसिक शक्तियोको केन्द्रित करना। इस आश्रम

---

१ मुनि रत्नचदजीने भी 'कर्त्तव्य-कौमुदी' मे लिखा है :—

यावन्नार्जयते धनं सुविपुलं दारादिरक्षाकरं
यावन्नैव समाप्यते दृढतरा विद्या कला वाऽश्रिता।
यावन्नो वपुषो धियश्च रचना प्राप्नोति दार्ढ्यं परं
तावन्नो सुखदं वदन्ति विबुधा ग्राह्यं गृहस्थाश्रमं॥

अर्थात्-जब तक इतना प्रचुर धन पैदा न करलिया जाय अथवा पासमे न हो जिससे अपनी तथा स्त्री-पुत्रादिककी यथेष्ट रक्षा होसके— घरका खर्च चल सके, जब तक विद्या और कलाका अभ्यास अच्छी तरहमे पूरा न हो जाय और शरीरके अगोकी रचना तथा बुद्धिका विकास अच्छी तरहसे होकर उनमे पूर्ण दृढता न आ जाय तब तक गृहस्थाश्रम-का ग्रहण करना सुखदायी नही हो सकता, ऐसा बुद्धिमानोका मत है।

का खास उद्देश्य इन्ही सब बातोकी पूर्ति करना है जो विवाहके उद्देश्योकी पूर्ति तथा गृहस्थाश्रमके पालनके लिये जरूरी हैं। भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, इन सब आश्रमोंका क्रम इस प्रकारसे वर्णन किया है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धित ॥३९-१५२॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ, और भिक्षुक ये जैनियों[1] के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धिको लिये हुए हैं।

इससे प्रकट है कि सब आश्रमोसे पहला आश्रम 'ब्रह्मचारी आश्रम' रक्खा गया है। यह आश्रम, वास्तवमे, सब आश्रमोकी नीव जमानेवाला है। जब तक इस आश्रमके द्वारा एक खास अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए किसी योग्य गुरुके पास विद्याभ्यास नही किया जाता है, तब तक किसी भी आश्रमका ठीक तौरसे पालन नही हो सकता। इसके बिना वे सब आश्रम विना नीवके मकानके समान अस्थिर और हानि पहुँचानेवाले होते हैं। इसलिये सबसे पहले बालक बालिकाओंको एक योग्य अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यके साथ रखकर उनकी शिक्षा और शरीरसंगठनका पूरा प्रबन्ध करना चाहिए, और इसके बाद कही उनके विवाहका नाम लिया जाना चाहिए। यही माता-पिताका मुख्य कर्त्तव्य है।

वह 'योग्य अवस्था' बालकोंके लिये २० वर्ष और बालिकाओंके लिये १६ वर्षसे कम न होनी चाहिए। इससे पहले न वीर्य ही परिपक्व होता है और न विद्याभ्यास ही यथेष्ट बन पाता है। सारा ढाँचा कच्चा ही रह जाता है, जिससे आगे गृहस्थाश्रम-धर्म तथा समाज-

---

१ हिन्दुओके यहाँ भी ये ही चार आश्रम इसी क्रमसे माने गये हैं:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वार पृथगाश्रमाः॥ —मनुस्मृतिः

संगठनको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है और स्त्री-पुरुषोका जीवन भी नीरस तथा दु.खमय बन जाता है। शरीर-शास्त्रके वेत्ता आचार्य वाग्भट्ट लिखते है कि, 'पुरुषकी अवस्था पूरे २० वर्षकी और स्त्रीकी अवस्था पूरे १६ वर्षकी हो जाने पर गर्भाशय-मार्ग, रक्त, शुक्र (वीर्य), शरीरस्थ-वायु और हृदय शुद्ध हो जाते हैं—अपना कार्य यथेष्ट रीतिसे करने लगते हैं—उस समय परस्पर जो मैथुन किया जाता है उससे बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है, और इससे कम अवस्थाओमे जो मैथुन किया जाता है उससे रोगी, अल्पायु या दीन-दु खित और भाग्यहीन सन्तान पैदा होती है अथवा गर्भ ही नही रहता। यथा.-

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥
वीर्यवन्त सुतं सूते ततो न्यूनाऽब्दयो. पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥

इससे साफ जाहिर है कि 'पुरुषका २० वर्षसे और स्त्रीका १६ वर्षसे कम उम्रमे विवाह न होना चाहिए', ऐसा कम उम्रका विवाह बहुत ही हानिकारक होता है और समाजके संगठनको बिगाड़ता है। छोटी उम्रमें विवाह करके बादको जो 'गौना' या 'द्विरागमन' की प्रथा है वह बिल्कुल विवाहके उद्देश्यको घात करनेवाली प्रथा है। सोते हुए सिंहको जगाकर उसे थपकी देनेके समान है। किसी भी माननीय प्राचीन जैनशास्त्रमें उसका उल्लेख या विधान नही है। उसके द्वारा व्यर्थ ही दो व्यक्तियोका जीवन खतरेमे (जोखममें) डाला जाता है। इसलिए बुद्धिमानोके द्वारा यह प्रथा कदापि आदरणीय नही हो सकती।

उपसंहार

जो लोग विवाहके इन सब उद्देश्योको न समझकर, शरीरशास्त्रके वचनोको न मानकर अपने बच्चोका विवाह छोटी उम्रमे

करते हैं वे सिर्फ अपने बच्चोका ही बुरा नही करते—उन्हीके जीवन-को नही बिगाडते—, बल्कि समाजभरका अनिष्ट करते हैं, जगतमे अनेक आपत्तियोको जन्म देते है, और इसलिये उन्हे 'जगतका शान्तिभग-कर्ता' समझना चाहिए। और इसीलिये सच्चे माता पि-ताओका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी सतानके विवाहका नाम उस वक्त लेवे जबकि उसमें विवाहकी सपूर्ण योग्यताएँ आजायँ, जिससे वह विवाहके उद्देश्योको पूरा करती हुई अपने जीवनको सरस और आनदमय बना सके। इससे पहले उन्हे बरावर उसकी योग्य-ताओको पूरा करनेकी—उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो-को बढ़ानेकी—पूरी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिए कि विवाह-जैसे महत्वके कार्यको एक 'खेल' या 'तमाशा' बनाना किसी प्रकार भी उचित नही है।

जो लोग विवाहकी सपूर्ण योग्यताओको प्राप्त किये बिना ही विवाहित हो चुके हैं उनका, अपने लिये, इस समय यही खास कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे प्रस्तुत 'विवाह-समुद्देश्य'को अच्छी तरह-से अध्ययन और मनन करके अपनी प्रवृत्तियोको जहाँ तक बने, बिल्कुल इसके अनुकूल बना लेवे, अपना लक्ष्य ऊँचा रक्खे और उन दश कर्त्तव्योका यथाशक्ति जरूर पालन करते रहें—उसमे कोई बात उठा न रक्खे—जो कुटुम्बोको सुव्यवस्थित और बलाढ्य बनानेके लिये बतलाये गये है।

समाजके शुभ-चिन्तकोको चाहिये, कि वे प्रत्येक गृहस्थी और गृहस्थाश्रममे प्रवेशके इच्छुक व्यक्तियो—उसके उम्मीदवारो—तक इस विवाह-समुद्देश्यको पहुँचाएँ शिक्षा-सस्थाओमें भरती कराएँ और समाजकी प्रवृत्तिको इसके अनुकूल बनानेका जी-जानसे यत्न करे। इसीमें समाजका हित सन्निहित है और उसी हितको लक्ष्यमें लेकर यह निबन्ध लिखा गया है।

११

नौकरोंसे पूजन कराना

जैनियोमें दिन पर दिन यह बात बढ़ती जाती है कि मदिरोमें पूजाके लिए नौकर रक्खे जाते है—श्वेताबर मदिरोमे तो आमतौर पर अजैन ब्राह्मण इस कामके लिए नियुक्त किये जाते है और उन्ही-से जिनेन्द्र भगवान्का पूजन कराया जाता है। पुजारियोके लिए अब समाचारपत्रोमे खुले नोटिस भी आने लगे हैं। समझमें नही आता कि जो लोग मदिर बनवाने, प्रतिष्ठा कराने, रथयात्रा निकालने और मदिरोमे अनेक प्रकारकी सजावट आदिके सामान इकट्ठा करने मे हजारो और लाखो रुपये खर्च करते है वे फिर इतने भक्तिशून्य और अनुरागरहित क्यो हो जाते हैं,जो अपने पूज्यकी उपासना अर्थात् अपने करनेका काम नौकरोसे कराते है ? क्या उनमें वस्तुतः अपने पूज्यके प्रति भक्तिका भाव ही नही होता और वे जो कुछ करते है वह सब लोकदिखावा, नुमायश, रुढिपालन और बाहरी वाहवाही लूटने तथा यशप्राप्तिके लिए ही होता है। कुछ भी हो, सच्चे जैनियोके लिए यह एक बड़े ही कलक और लज्जाकी बात है ! लोकमे अपने अतिथियो तथा इष्टजनोकी सेवाके लिए नौकर जरूर नियुक्त किये जाते है, जिसका अभिप्राय और उद्देश्य होता है—अतिथियों तथा इष्टजनोको आराम और सुख पहुँचाना, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और उन्हे अप्रसन्नचित्त न होने देना।

परन्तु यहाँ मामला इससे विल्कुल ही विलक्षण है । जिनेन्द्रदेवकी पूजासे जिनेद्र भगवान्को कुछ सुख या आराम पहुँचाना अभीप्ट नही होता—वे स्वतः अनतसुखस्वरूप हैं - और न इससे भगवानकी प्रसन्नता या अप्रसन्नताका ही कोई सम्बन्ध है । क्योकि जिनेद्रदेव पूर्ण वीतरागी हैं—उनके आत्मामे राग या द्वेषका अश भी विद्यमान नही है—वे किसीकी स्तुति, पूजा तथा भक्तिसे प्रसन्न नही होते और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटुशब्दो पर अप्रसन्नता लाते हैं। उन्हे किसीकी पूजाकी जरूरत नही और न निन्दासे कोई प्रयोजन है । जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्य' ॥

—वृहत्स्वयभूस्तोत्र

ऐसी हालतमे कोई वजह मालूम नही होती कि जब हमारा स्वय पूजन करनेके लिए उत्साह नही होता तब वह पूजन क्यो किरायेके आदमियो-द्वारा सपादन कराया जाता है । क्या इस विषय-मे हमारे ऊपर किसीका दबाव और जब्र है ? अथवा हमे किसीके कुपित हो जानेकी कोई आशका है ? यदि ऐसा कुछ भी नही है तो फिर यह व्यर्थका स्वाग क्यो रचा जाता है ? और यदि सचमुच ही पूजन न होनेसे जैनियोको परमात्माके कुपित हो जानेका कोई भय लगा हुआ है और इसलिए जिस तिस प्रकारके पूजन-द्वारा खुशामद करके हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयोकी तरह परमात्माको राजी और प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते हैं तो समझना चाहिए कि वे वास्तवमे जैनी नही है, जैनियोके वेषमें हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हैं। उन्होने परमात्माके स्वरूपको नही समझा और न वास्तवमे जैनधर्मके सिद्धातोको ही पहचाना है। ऐसे लोगोको पिछले निबन्ध 'जिनपूजाधिकारमीमासा' मे 'पूजनसिद्धान्त' को पढ़ना और उसे अच्छी तरहसे समझना चाहिए । इसके सिवाय, यदि इस प्रकारके

(किरायेके) आदमियों-द्वारा पूजनकी गरज़ पुण्य-संपादन करना कही जाय तो वह भी निरी भूल है और उससे भी जैनधर्मके सिद्धान्तोकी अनभिज्ञता पाई जाती है। जैन सिद्धान्तोकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी अपने शुभाऽशुभ भावोके अनुसार पुण्य और पापका सचय करता है। ऐसा अंधेर नहीं है कि शुभ भाव तो कोई करे और उसके फलस्वरूप पुण्यका सम्बन्ध किसी दूसरे ही व्यक्तिके साथ हो जाय। पूजनमें परमात्माके पुण्य-गुणोके स्मरणसे आत्मामें जो पवित्रता आती और पापोंसे जो कुछ रक्षा होती है उसका लाभ उसी मनुष्यको हो सकता है जो पूजन-द्वारा परमात्माके पुण्य-गुणोका स्मरण करता है। इसी बातको स्वामी समंतभद्रने अपने उपर्युक्त पद्यके उत्तरार्धमें भले प्रकारसे सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि सेवक-द्वारा किये हुए पूजनका फल कभी उसके स्वामीको प्राप्त नही हो सकता; क्योकि वह उस पूजनमे परमात्माके पुण्यगुणोका स्मरणकर्त्ता नही है। ऐसी हालतमे नौकरोंसे पूजन कराना बिलकुल व्यर्थ है और वह अपने पूज्यके प्रति एक प्रकारसे अनादरका भाव भी प्रगट करता है। तब क्या होना चाहिए ? जैनियोको स्वयं पूजन करना और पूजनके स्वरूपको समझना चाहिए। अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम पूजन है। उसके लिए अधिक आडम्बरकी जरूरत नही है। वह पूज्यके गुणोंमे अनुरागपूर्वक बहुत सीधा सादा और प्राकृतिक होना चाहिए। पूजनमे जितना ही अधिक बनावट, दिखावट और आडम्बरसे काम लिया जायगा उतना ही अधिक वह पूजनके सिद्धान्तसे गिर जायगा। जबसे जैनियोमें बहुआडम्बरयुक्त पूजन प्रचलित हुआ है तभीसे उन्हे पूजा के लिये नौकर रखनेकी जरूरत पडी है। अन्यथा जिनेन्द्र भगवानकी सच्ची और प्राकृतिक पूजाके लिए किरायेके आदमियोकी कुछ भी जरूरत नही है। जैनियोके प्राचीन साहित्यकी जहाँतक खोज की जाती है, उससे भी यही मालूम होता है, कि पुराने जमानेमे जैनियोमे वर्तमान-जैसा बहुआड-

म्बरयुक्त पूजन प्रचलित नही था। उस समय अर्हंतभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति और प्रवचनभक्ति आदि अनेक प्रकारकी भक्तियो-द्वारा, जिनके सस्कृत और प्राकृतके कुछ प्राचीन पाठ अब भी पाये जाते है, पूज्यकी पूजा और उपासना की जाती थी। श्रावक लोग मंदिरोमे जाकर प्राय' जिनेन्द्रप्रतिमाके सम्मुख, खड़े होकर अथवा बैठकर, अनेक प्रकारके समझमे आने योग्य स्तोत्र पढते तथा भक्तिपाठोका उच्चारण करते थे और परमात्माके गुणोका स्मरण करते हुए उनमे तल्लीन हो जाते थे। कभी कभी वे ध्यानमुद्रासे बैठकर परमात्माकी मूर्तिको अपने हृदयमन्दिरमे विराजमान करके नि शब्द-रूपसे गुणोका चिन्तवन करते हुए परमात्माकी उपासना किया करते थे। प्राय यही सब उनका द्रव्य-पूजन था और यही भावपूजन। उस समयके जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोसे हटाकर उन्हे अपने पूज्यके प्रति, स्तुतिपाठ करने और अजुलि जोड़ने आदि रूपसे, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे, जैसा कि श्रीअमितगति आचार्यके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है —

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनै ॥ १२-१२ ॥

—उपासकाचार

जबसे हिन्दुओके प्राबल्यद्वारा जैनियो पर हिन्दूधर्मका प्रभाव पडा है और उन्होने हिन्दुओकी देखादेखी उनकी बहुतसी ऐसी बातोको अपनेमे स्थान दिया है, जिनका जैनसिद्धान्तोसे प्राय. कुछ भी सम्बन्ध नही है, तभीसे जैनसमाजमे बहुआडम्बरयुक्त पूजनका प्रवेश प्रारम्भ हुआ है और उसने बढते बढते वर्तमानका रूप धारण किया है, जिसमे बिना पुजारियोके नौकर रक्खे नही बीतती। आजकल इस पूजनमे मुक्तिको प्राप्त हुए जिनेन्द्र भगवानका आवाहन और विसर्जन भी किया जाता है। उन्हे कुछ मंत्र पढकर बुलाया, बिठलाया,

ठहराया और फिर नैवेद्यादिक अर्पण करनेके बाद रुखसत किया जाता है—कहा जाता है कि महाराज! अब आप अपने स्थान पर तशरीफ ले जाइए और हमारा अपराध क्षमा कीजिए, क्योकि हम लोग ठीक तौरसे आवाहन, पूजन और विसर्जन करना नही जानते। ज़रा सोचनेकी बात है कि, जैनधर्मसे इन सब क्रियाओंका क्या सम्बन्ध है? जिनसिद्धान्तके अनुसार मुक्त तीर्थंकर अथवा जिनेन्द्र भगवान किसीके बुलानेसे नही आते, न किसीके कहनेसे कही बैठते, ठहरते या नैवेद्यादिक ग्रहण करते हैं, और न किसीके रुखसती (विसर्जनात्मक) शब्द उच्चारण करने पर वापिस ही चले जाते है। ऐसी हालतमे जैन-धर्मसे इन आवाहन और विसर्जनसम्बन्धी क्रियाओंका कोई मेल नही है। वास्तवमें ये सब क्रियायें हिन्दूधर्मकी क्रियाये है। हिन्दुओंके यहाँ वेदोंतकमें देवताओका आवाहन और विसर्जन पाया जाता है। वे लोग ऐसा मानते है कि देवता लोग बुलानेसे आते, बैठते, ठहरते और अपना यज्ञभाग ग्रहण करके, रुखसत करने पर, वापिस चले जाते है। इससे हिन्दुओंके यहाँ आवाहन और विसर्जनका यह सब कथन ठीक बन जाता है। परन्तु जैनियोकी ऐसी मान्यता नही है। इसी-लिए जैनधर्मसे इनका मेल नही मिलता और ये सब क्रियायें बिल्कुल बेजोड़ मालूम होती हैं,इसी प्रकारकी,पूजन सम्बधमे और भी बहुतसी क्रियायें है जो हिन्दुओंसे उधार लेकर रक्खी गईं अथवा उनके सं-स्कारोंसे सस्कारित होकर पीछेसे बना ली गई है और जिन सबका जैनसिद्धान्तोंसे प्रायः कुछ भी मेल नहीं है। यहाँ इस छोटेसे लेख मे उन सब पर विचार नही किया जा सकता और न इस समय उनके विचारका अवसर ही प्राप्त है। अवसर मिलने पर उन पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि वर्तमान-का पूजन इन्ही सब क्रियाओके कारण बिल्कुल अप्राकृतिक तथा आडम्बरयुक्त बन गया है और उससे जैनियोकी आत्मीय प्रगति,एक प्रकारसे,रुक गई है। यदि सचमुच ही हमारे जैनी भाई अपने परमा-

त्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना चाहते हैं तो उन्हे सब आडम्बरोको छोड़कर पूजनकी अपनी वही पुरानी, प्राकृतिक और सीधी-सादी पद्धति जारी करनी चाहिए, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। ऐसा करनेपर पुजारियोको नौकर रखनेकी भी फिर कुछ जरूरत नही रहेगी और आत्मोन्नति-सम्बन्धी वह सब लाभ अपनेको प्राप्त होने लगेगा, जिसको लक्ष्य करके ही मूर्तिपूजाका विधान किया गया है और जिसका परिचय पाठकोको, 'जिनपूजाधिकारमीमासा'के 'पूजन-सिद्धान्त' प्रकरणको पढनेसे भले प्रकार मिल सकता है। विपरीत इसके यदि जैनी लोग अपनी वर्तमान पूजनपद्धतिको न बदलनेके कारण नौकरोसे पूजन कराना जारी रक्खेगे तो इसमे संदेह नही कि वह समय भी शीघ्र निकट आ जायगा जब उन्हे दर्शन, सामायिक, स्वाध्याय, तप, जप, शील, संयम, व्रत, नियम और उपवासादिक सभी धार्मिक कामोके लिये नौकर रखने या उन्हे सर्वथा छोड देनेकी जरूरत पड़ने लगेगी। और तब उनका धर्मसे बिल्कुल ही पतन हो जायगा। इसलिए जैनियोको शीघ्र ही सावधान होकर अपनी वर्त्तमान पूजनपद्धतिमे आवश्यक सुधार करके उसे सिद्धान्तसम्मत बना लेना चाहिए। और नौकरोंके-द्वारा पूजनकी प्रथाको एकदम उठा देना चाहिए। आशा है कि, समाजके नेता और विद्वान् लोग इस विषय-की ओर खास तौरसे ध्यान देगे।

१२

चारुदत्त सेठ का शिक्षाप्रद उदाहरण

हरिवंशपुराणादि जैनकथा-ग्रन्थोमे चारुदत्त सेठकी एक प्रसिद्ध कथा है। यह सेठ जिस वेश्यापर आसक्त होकर वर्षों तक उसके घर पर, विना किसी भोजनपानादि सबधी भेदके, एकत्र 'रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी सपूर्ण धन संपत्तिको भी गँवा बैठा था उसका नाम 'वसंतसेना' था। इस वेश्याकी माताने, जिससमय धनाभावके कारण चारुदत्त सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जन के लिये विदेश चला गया उस समय वसतसेनाने, अपनी माताके बहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना सबध जोड़ना उचित नही समझा और तब वह अपनी माता-के घरका ही परित्याग कर चारुदत्तके पीछे उसके घर पर चली गई। चारुदत्तके कुटुम्बियोने भी वसंतसेनाको आश्रय देनेमे कोई आनाकानी नही की। वसंतसेनाने उनके समुदार आश्रयमे रहकर एक आर्यिकाके पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी पूर्व परिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई, और वह बरा-बर चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई नि सकोच-भावसे उनके घर पर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धनसम्पत्तिका स्वामी बनकर विदेशसे अपने घर पर वापिस आया और उसे वसंतसेनाके स्वगृह पर रहने आदिका हाल मालूम हुआ तब उसने बड़े हर्षके साथ वसंतसेना को अपनाया अर्थात्, उसे अपनी स्त्री रूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्यपर-अर्थात्, एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको

खुल्लम खुल्ला घरमे डाल लेनेके अपराध पर उस समयकी जाति बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नही किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया। वह श्रीनेमिनाथ भगवानके चचा वसुदेवजी जैसे प्रतिष्ठित पुरुषोसे भी प्रशसित और सम्मानित रहा। और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह अन्तको उसके दिगम्बर मुनितक होनेमे भी कुछ बाधक न हो सकी। इस तरह पर एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्व्यवहारके कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियोको अपने उद्धारका अवसर मिला।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते है जो अपने अनुदार विचारोके कारण ज़रा ज़रासी बात पर अपने जाति-भाइयोको जातिसे च्युत करके—उनके धार्मिक अधिकारोमे भी हस्तक्षेप करके—उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे है और इस तरह अपनी जातीय तथा सघशक्तिको निर्बल एव नि सत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोको बुलानेके लिये कमर कसे हुए है। ऐसे लोगोंको संघशक्तिका रहस्य जानना चाहिए और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकारसे हो सकती है। यदि उस समयकी जाति-विरादरी उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्तियोको अपनेमें आश्रय न देकर उन्हे अपनेसे पृथक् कर देती, घृणाकी दृष्टिसे देखती और इस प्रकार उन्हे सुधरने का कोई अवसर न देती तो अन्तमे उक्त दोनो व्यक्तियोका जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता। अत ऐसे अवसरोपर जाति-बिरादरीके लोगोको बहुत सोच समझकर, बड़ी दूरदृष्टिताके साथ काम करना चाहिए। यदि वे पतितोका स्वयं उद्धार नही कर सकते तो उन्हे कमसे कम पतितोके उद्धारमे बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ।

१३

वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण

श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा और श्रीकृष्ण महाराजके पिता वसुदेवजी जैनसमाजमे एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। हरिवंश-पुराणादि जैनकथाग्रन्थोंमें आपका विस्तारके साथ वर्णन दिया है। यहाँपर मैं आपके जीवनकी सिर्फ चार घटनाओका उल्लेख करता हूँ, एक 'देवकीसे विवाह', दूसरी 'जरा नामकी म्लेच्छ कन्यासे विवाह', तीसरी 'प्रियगुसुन्दरीसे विवाह, और चौथी घटना है 'रोहिणी का स्वयंवर'।

देवकीसे विवाह

देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेन (देवक) की पुत्री, नृप भोज-कवृष्टिकी पौत्री और महाराजा सुवीरकी प्रपौत्री थी। वसुदेव राजा अन्धकवृष्टिके पुत्र और नृप-शूरके पौत्र थे। ये नृप 'शूर' और देवकी-के प्रपितामह 'सुवीर' दोनों सगे भाई थे। दोनोके पिताका नाम 'नर-पति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेना-चार्यने अपने हरिवशपुराणमें सूचित किया है और इससे यह प्रगट है कि राजा उग्रसेन, देवसेन और वसुदेवजी तीनो आपसमे चचा-ताऊ-जाद भाई लगते थे और इसलिये देवसेनकी लड़की 'देवकी' रिश्तेमें उग्रसेन तथा वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका

विवाह हुआ, जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमे गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओका टालना तो दूर रहा, एक वश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नही रक्खा गया । वसुदेवजीने गोत्रादि-सम्बन्धी इन सब बातोको कुछ भी महत्व न देकर, बिना किसी सकोचके अपनी भतीजीके साथ विवाह कर लिया और उनका यह विवाह उस समय कुछ भी अनुचित नही समझा गया । इस विवाहसे अनेक सुप्रतिष्ठित और बहुमान्य पुत्ररत्नोका उद्भव हुआ—देवकीने श्रीकृष्णके अतिरिक्त छह तद्भवमोक्षगामी पुत्रोको भी जन्म दिया । यह तो हुई देवकीसे विवाहकी बात, अब जराकी विवाह-वार्ताको लीजिये ।

जरासे विवाह

जरा किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, जिसने गङ्गा तट पर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था । प० दौलतरामजीने, अपने हरिवशपुराणमे, इस राजाको 'म्लेच्छखण्डका राजा' बतलाया है और पं०गजाधरलालजी उसे 'भीलोका राजा' सूचित करते है । वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्य्यखण्डोद्भव म्लेच्छ राजा, और चाहे उसे भीलोंका राजा कहिये, परन्तु इसमे सन्देह नही कि वह आर्य्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नही था । और इसलिये उसे अनार्य्य या म्लेच्छ कहना भी अनुचित नही होगा । म्लेच्छोका आचार आमतौरपर 'हिंसामे रति, मांसभक्षणमे प्रीति और जबरदस्ती दूसरोकी धन-सम्पत्तिका हरना इत्यादिक' होता है, जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य-प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है:—

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च ।
बलात्परस्वहरणं निर्द्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥ ४२-१८४ ॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानते हुए भी, विना किसी झिझक और रुकावटके बड़ी खुशीके साथ इस म्लेच्छ-राजाकी उक्त कन्यासे

विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नही समझा गया। वल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकार-के विवाहोका आम दस्तूर था। अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोने म्लेच्छराजाओकी कन्याओसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोसे जैनसाहित्य परिपूर्ण है। अस्तु, इस विवाहसे वसुदेवजीके 'जरतकुमार' नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बडा ही प्रतापी,नीतिवान और प्रजाप्रिय राजा हो गया है और जिसने अन्त-को, राज-पाट छोड़कर, जैनमुनिदीक्षा तक धारण की थी। इसी राजाके वशमें 'जितशत्रु'नामका राजा हुआ,जिससे भगवान महावीर-के पिताकी छोटी वहिन व्याही गई। अव प्रियंगुसुन्दरीके विवाहको लीजिये।

प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह

प्रियंगुसुन्दरीके पिताका नाम 'एणीपुत्र' था। यह एणीपुत्र ऋषि-दत्ता नामकी एक अविवाहिता तापसकन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसवसमय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जङ्गलमे अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पालपोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सुपुर्द कर दिया। इस प्रियंगु-सुन्दरीका पिता एणीपुत्र 'व्यभिचारजात' था, जिसको आजकलकी भाषामें 'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिए। वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्र-सम्मत[1] नही समझा और इसलिये उन्होने बड़ी खुशीके साथ प्रियंगुसुन्दरीका भी पाणिग्रहण किया।

---

१. शास्त्रोमे तो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यके लिये 'शूद्र' तककी कन्यासे विवाह करना भी उचित ठहराया है, यथा —

यद्यपि ये तीनो विवाह आजकलकी हवाके बहुत कुछ प्रतिकूल पाये जाते है तो भी, उस समय इन विवाहोको करके वसुदेवजी जरा भी पतित नही हुए।

पतित होना अथवा जातिसे च्युत किया जाना तो दूर रहा, तत्कालीन समाजने उन्हे घृणाकी दृष्टिसे भी नही देखा। इनकी कीर्त्ति और प्रतिष्ठामे इन विवाहोसे जरा भी बट्टा या कलङ्क नहीं लगा, बल्कि वह उल्टी वृद्धिगत हुई और यहाँ तक बनी रही कि उसके कारण आज तक भी अनेक ऋषि-मुनियो तथा विद्वानोके द्वारा वसुदेवजीके पुण्य-चरित्रका चित्रण और यशोगान होता रहा। श्रीजिनसेनाचार्य्यने हरिवशपुराणमे, वसुदेवजीकी कीर्तिका अनेक प्रकारसे कीर्तन कर उन्हे यदुवशमे श्रेष्ठ, उदारचरित्र, शुद्धात्मा, स्वभावसे ही निर्मल-चित्तके धारक, अनन्य साधारण, (जो औरोमे न पाया जाय) विवेकसे युक्त और ऐसे महान धर्मज्ञ तथा तत्त्ववेत्ता प्रकट किया है कि जिनके मुनि और श्रावकधर्मसम्बन्धी उपदेशको सुनकर बहुतसे मिथ्यामती तापसियोने भी तत्काल ही अपना वह मिथ्यामत छोड दिया था और जैनधर्मका शरण लेकर उसके व्रतोको ग्रहण किया था। श्रीजिनदास ब्रह्मचारी भी, अपने हरिवशपुराणमें, वसुदेवजीका ऐसा ही यशोगान करते है और उन्हे 'महामति' आदिक लिखते है। साथ ही, उन्होने बलभद्रके मुखसे श्रीकृष्णके प्रति जो वाक्य कहलाया है उससे मालूम होता है कि वसुदेवजीका सौभाग्य जगतमे विख्यात था और उनकी सत्कीर्तिका खेचर और भूचर

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वा ता च नैगम।
वहेत्स्वा ते च राजन्य. स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता. ॥ १६-४७

—आदिपुराणे, जिनसेनः

'आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रियविश.।'

—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः

सभी जन गान किया करते थे। वह वाक्य इस प्रकार है —

जगद्विख्यातसौभाग्यो वसुदेव पिता तव।
गायते यस्य सत्कीर्त्ति खेचरीभूचरीजनै ॥
—१४-१४२

इन दोनो ग्रन्थोंके अवतरणोसे ही इस बातका भले प्रकार पता चल जाता है कि वसुदेवजी कितने यशस्वी, विवेकी, प्रखर विद्वान् और धार्मिक पुरुष थे। ऐसी हालतमे उनके ये तीनों विवाह उस समयकी दृष्टिसे ज़रा भी हीन अथवा जघन्य नही समझे जा सकते। उन्हे अनुचित समझना ही अनुचित होगा। अस्तु, अब रोहिणीके स्वयवरकी ओर चलिये।

रोहिणीका स्वयंवर

रोहिणी अरिष्टपुरके राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयंवर रचाया गया था, जिसमे जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशातरोसे एकत्र हुए थे। स्वयवरमंडपमे वसुदेवजी, किसी कारण-विशेषसे अपना वेष बदल कर, 'पणव' नामका वादित्र हाथमे लिए हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन वाजन्त्री (वाजा बजानेवाला) के रूपमें उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नही था। रोहिणीने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओ तथा राजकुमारोको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेसे किसीको भी अपने योग्य वर पसद नही किया तब उसने, सब लोगोको आश्चर्य्यमे डालते हुए, वड़े ही नि सकोच भावसे उक्त वाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति-नामा व्यक्ति (वसुदेव)के गलेमे ही अपनी वरमाला डाल दी। रोहिणीके इस कृत्य पर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके

पिता तथा वसुदेवसे लडनेके लिये तैयार हो गये। उस समय विवाहनीतिका उल्लघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने वडी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार है —

कन्या वृणीते रुचितं स्वयवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयवरे ॥
—हरिवश० ११–७१

अर्थात् स्वयवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसद होता है, चाहे वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योकि स्वयवरमे इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होने-का—कोई नियम नही होता। ये वाक्य सकलकीर्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवशपुराणमे उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत हरिवशपुराणमे भी प्राय इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं। वसुदेवजीके इन वचनोसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाहकी नीतिका भी वहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वयवर-विवाह, जिसमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमे श्रीजिनसेनाचार्य्यने 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह-विधानोमे सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है[1]। युगकी आदिमे सबसे पहले जब राजा अकम्पनके द्वारा इस (स्वयवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनदन किया था। साथ ही, उन्होने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धारकर्त्ताओंको

---

१. सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयवरः ॥ ४४-३२ ॥

सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था[1] । अस्तु, विवाहकी यह सनातन विधि भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल पाई जाती है। आजकल इस प्रकारके विवाहोका प्राय. अभाव ही देखनेमे आता है, परतु आजकल कुछ ही होता रहे, उस समय वसुदेवजीका रोहिणी-के साथ इस स्वयवर-विधि से बड़े आनदपूर्वक विवाह होगया और रोहिणीका एक वाजत्रीके गलेमे वरमाला डालना भी कुछ अनुचित नही समझा गया। इस विवाहसे वसुदेवजीको वलभद्र जैसे पुत्ररत्न-की प्राप्ति हुई।

इन चारो घटनाओको लिये हुए वसुदेवजीके इस एक पुराने वहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोको आदिपुराणके उपयुक्त लिखित वाक्योके साथ मिलाकर पढनेसे विवाह-विषय पर वहुत कुछ प्रकाश पडता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुद वखुद (स्वयमेव) हल हो जाती है। इस उदा-हरणसे वे सव लोग वहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते है जो प्रच-लित रीति-रिवाजोंको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्त-वचन समझे हुए हैं, अथवा जो रूढियोके इतने भक्त हैं कि उन्हे गणितशास्त्रके नियमोकी तरह अटल सिद्धान्त समझते हैं और इसलिए उनमे जरा भी फेर-फार करना जिन्हे रुचिकर नही होता, जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेद्र भगवानकी आज्ञाका उल्लघन करना मान बैठे है, जिन्हे विवाहमे कुछ सख्याप्रमाण गोत्रोंके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जाने-

---

१. तथा स्वयवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पना. ।
क प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ५४ ॥
मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्त सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥
—आदिपु०पर्व ४५

का भय लगा हुआ है, इससे भी अधिक, जो एक ही धर्म और एक ही आचारके मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खडेलवाल आदि समान जातियोमे भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते है, पातक अथवा पतनकी शकासे जिनका हृदय संतप्त है और जो अपनी एक जातिमे भी आठ-आठ गोत्रो तकको टालनेके चक्करमे पडे हुए है। ऐसे लोगोको वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बधी वर्तमान रीति-रिवाजोका मिलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमे नही रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ और अटल सिद्धान्त नही होते, उनमे समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तनकी जरूरत हुआ करती है । इसी ज़रूरतने वसुदेवजीके समय और वर्तमान समयमे जमीन-आसमानकासा अतर डाल दिया है । यदि ऐसा न होता तो वसुदेवजीके समयके विवाहसम्वधी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य-दृष्टिसे देखे जाते जैसे कि वे उस समय देखे जाते थे । परन्तु ऐसा नही है और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नही थे और न हो सकते हैं । दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोको सर्वज्ञ-प्रणीत-सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त माना जाय तो यह कहना पडेगा कि वसुदेवजीने प्रतिकूल-आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लघन किया । ऐसी हालतमे आचार्यो-द्वारा उनका यशोगान नही होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलकित किये जानेके योग्य थे । परन्तु ऐसा नहीं हुआ और न होना चाहिये था, क्योकि शास्त्रो-द्वारा उस समयके मनुष्योकी प्राय ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजी पर कोई कलंक नही आसकता । तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकल-के सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित नही हैं ? ऐसा कहने पर आजकल-

के रीति-रिवाजोंको एकदम उठाकर उनके स्थानमे वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोंको कलंकित और दोषी भी ठहराना होगा जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमे वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तक पहुँचे। परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दु'साहस-मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। इसलिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञ-भाषित नही थे।

वास्तवमें गृहस्थोका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है, एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है[1]। 'विवाहकर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है'—लौकिक जनोकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके आधीन है—लौकिक जनोकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमे नही रहा करती। वह देशकालकी आवश्यकताओंके अनुसार, कभी पंचायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी अगतिशील व्यक्तियोके उदाहरणोको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमे प्राय. कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न भिन्न देशो, समयो और जातियोके विवाहविधानोमे बहुत बड़ा अंतर पाया जाता है। एक समय था जब इसी भारतभूमि पर सगे भाई-बहन भी परस्पर स्त्री-पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरने पर उनके लिये नियमसे देवगतिका विधान किया गया है[2]। 'फिर वह

---

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक. पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्य. परः स्यादागमाश्रयः ॥ —सोमदेव ।

२. यह कथन उस समयका है जब कि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

समय भी आया जब उक्त प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमे विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नही किन्तु म्लेच्छो तककी कन्याओसे विवाह करना भी अनुचित नही माना गया। साथ ही मामा-फूफीकी कन्याओसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके वाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोका भी निषेध प्रारभ हुआ, उनमे भी दोष निकलने लगे-पापोकी कल्पनाये होने लगी—और वे सब वदलते वदलते वर्तमानके ढाँचेमे ढल गईं। इस अर्सेमे सैकड़ों नवीन जातियों,उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना सकीर्ण वन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता वहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही है और क्षतिका अनुभव कर रही है-उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोके चगुलमे फंसकर ससारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई हैं-इसीसे अब वर्तमान रीति-रिवाजोंके विरुद्ध भी आवाज उठनी शुरू हो गई है,समय उनका भी परिवर्तन चाहता है।

सक्षेपमे, यदि सम्पूर्ण जगतके भिन्न भिन्न देशो, समयो और जातियोके कुछ थोड़े थोडेसे ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाहविधानोमे हजारो प्रकारके भेद उपभेद और परिवर्तन दृष्टिगोचर होगे और इस लिये कहना होगा कि यह सब समय-समयकी जरूरतों, देश-देशकी आवश्यकताओ और जातिके पारस्परिक व्यवहारोका नतीजा है, अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिको न समझकर एक ही स्थान पर खड़े रहते है और अपनी पोजीशन (Position)को नही वदलते,स्थितिको नही सुधारते,वे नि.सन्देह कालचक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते है। अथवा ससारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इस सब

कथनसे अथवा इतने ही सकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोका बहुत कुछ रहस्य समझमे आ जाता है । साथ ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते है। ऐसी हालतमे विवाह-जैसे लौकिक धर्मो और सासारिक व्यवहारोके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूँढ-खोज लगाना कि आगममे किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है। कहा भी है- "संसारव्यवहारे तु स्वत सिद्धे वृथागम:[१]।" अर्थात्,संसार-व्यवहार-के स्वत. सिद्ध होनेसे उसके लिये आगमकी जरूरत नही । वस्तुत. आगम ग्रन्थोमे इस प्रकारके लौकिक धर्मो और लोकाश्रित विधानो-का कोई क्रम निर्धारित नही होता। वे सब लोकप्रवृत्ति पर अवल-म्बित रहते है। हाँ, कुछ त्रिवर्णाचार-जैसे अनार्ष ग्रन्थोमे विवाह-विधानोका वर्णन जरूर पाया जाता है । परन्तु वे आगमग्रन्थ नही है। उन्हे आप्त भगवानके वचन नही कह सकते और न वे आप्त-वचनानुसार लिखे गये है,इतने पर भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेसे बिल्कुल ही जाली और बनावटी है, जैसा कि 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' और 'भद्रबाहुसंहिता' के परीक्षालेखोसे प्रगट है[२]। वास्तवमे ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ है । इनमे प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीति रिवाजोका उल्लेखमात्र समझना चाहिये अथवा यो कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्ताओको समाजमे उस प्रकारके रीतिरिवाजोको प्रचलित करना इष्ट था । इससे अधिक उन्हें और कुछ भी महत्त्व नही दिया जा सकता। वे आजकल प्राय- इतने ही कामके है । एकदेशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होने-

---

१. यह श्रीसोमदेव आचार्य्यका वचन है।

२. ये सब लेख 'ग्रन्थपरीक्षा' नामसे पहले 'जैनहितैषी' पत्रमें प्रकाशित हुए थे और अब कुछ समयसे अलग पुस्तकाकारमे भी छप गये हैं।

से उनका शासन सार्वदेशिक और सार्वकालिक नही हो सकता। अर्थात्–सर्व-देशो और सर्व-समयोके मनुष्योके लिये वे समान रूपसे उपयोगी नही हो सकते । और इसलिए केवल उनके आधार पर चलना कभी युक्ति-सङ्गत नही कहला सकता। विवाह-विषयमे आगम-का मूलविधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आमतौर पर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी जरूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन किन सम्बन्धोसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिए अथवा किस तरह पर और किस प्रकारके विधानोके साथ विवाह कर लानी चाहिये इन सब बातोमे आगम प्राय कुछ भी हस्तक्षेप नही करता। ये सब विधान लोकाश्रित है आगमसे इनका प्राय कोई सम्बन्ध-विशेष नही है । यह दूसरी बात है कि आगममे किसी घटना-विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख आ जाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय, परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नही बन जाते–अर्थात् ऐसे कोई नियम नही हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्व देशो और सर्व-समयोंके मनुष्योंके लिये बराबर जरूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना ज़रूर है कि आगम-की दृष्टिमे सिर्फ वे ही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती है जो जैन सिद्धान्तोके विरुद्ध न हो, अथवा जिनके कारण जैनियोकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोमे ही कोई दूषण लगता हो । इस दृष्टिको सुर-क्षित रखते हुए जैनी लोग प्रायः सभी लौकिक विधियोको खुशीसे स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोमे देशकाला-नुसार यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं[1]। उनके लिये इसमें कोई

---

१. सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ —सोमदेवः

वाधक नही है। अस्तु; इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीन-कालके विवाह-विधानोंकी विभिन्नता, उनका देश-कालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोंका रहस्य इन सब बातोका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमे आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञभापित ऐसे अटल सिद्धान्त नही हैं कि जिनका परिवर्त्तन न हो सके अथवा जिनमे कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो। हम अपने सिद्धान्तोका विरोध न करते हुए, देश-काल और जातिकी आवश्यकताओके अनुसार उन्हे हर वक्त बदल सकते है। वे सब हमारे ही कायम किये हुये नियम हैं और इसलिए हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है। इन्ही सब बातोको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमे यह निबन्ध लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और विवाहतत्त्वको समझ कर, जिसके समझनेके लिये 'विवाह-समुद्देश्य' नामक निबन्ध भी साथमे पढना विशेष उपयोगी होगा, अपने वर्तमान रीति-रिवाजोमे यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होगे। और इस तरह कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रक्खेगे।

१४

उपासना-तत्त्व

स्थिति और ज़रूरत

हमारी धार्मिक शिक्षा 'उपासना' से प्रारम्भ होती है। पूजा, भक्ति और आराधना ये सब उपासनाके ही नामान्तर हैं। यही धर्मकी पहली सीढ़ी है जिसका हमे बचपनसे ही अभ्यास कराया जाता है। बच्चा बोलना भी प्रारम्भ नही करता कि उसे जिनमंदिर आदिमे ले जाकर, मूर्ति आदिके सामने उसके हाथ जुड़वा कर तथा मस्तक नमवाकर उसे उपासनाका एक पाठ पढ़ाया जाता है, और ज्यो ही वह कुछ बोलने लगता है त्यो ही उससे इष्ट देवताओंके नामोका उच्चारण—'ॐ' 'जय' आदि शब्दोका उच्चारण—कराया जाता है, 'णमो अरहंताणं,' 'णमोत्थुणं' आदिके पाठ सिखलाए जाते हैं और, जितना शीघ्र बन सके उतना ही शीघ्र, परमात्माकी कुछ स्तुतियाँ भी उसे याद कराई जाती है। बच्चा, अपनी अज्ञान दशामे, यदि मूर्तिको एक खिलौना समझकर उसके लेनेके लिये हाथ पसारता है, ज़िद्द करता है, उसे 'भाई' कहकर पुकारता है, उसको चढ़ा हुआ नैवेद्य उठाकर खाने लगता है अथवा उसके सामने पीठ देकर खडा हो जाता या बैठ जाता है तो उसकी इस प्र
निषेध किया जाता है और कुछ गम्भीर स्वरके साथ

कि "नही, खबरदार ! ऐसा नही किया करते, ये भगवान हैं, इनके आगे हाथ जोडो ।" साथ ही, उसे प्रतिदिन भगवानके दर्शनादिकके लिये मंदिरमे जाने और किसी स्तुति-पाठादिकका उच्चारण करनेकी प्रेरणा भी की जाती है। इस तरह शुरूसे ही परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधनाके सस्कार हमारे अन्दर डाले जाते है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, समाजमे, ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति निकलेंगे जो उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे जानते और समझते हो। उन्हे यह बात प्राय सिखलाई ही नही जाती। अधिकाश माता-पिता स्वय इस तत्त्वसे अनभिज्ञ है—वे खुद ही अपनी क्रियाओका रहस्य नहीं जानते अथवा कुछका कुछ जानते है—और इसलिये उनकी समझमे जो बात जिस तरह पर कुलपरम्परासे चली आई होती है उसे वे अपने बच्चोके गले उतार देते है—उन्हे रटा देते अथवा सिखला देते है। इससे अधिक शायद वे अपना और कुछ कर्तव्य नही समझते। नतीजा इसका यह होता है कि हमारे अधिकाश भाई नित्य मंदिरमें जरूर जाते है, भगवानका दर्शन और पूजन करते है, स्तुतियाँ पढते है, संस्कृत-प्राकृतके भी अनेक स्तोत्रोका पाठ किया करते है, तीर्थयात्राको निकलते है, और भक्ति तथा उपासनाके नामपर और भी बहुतसे काम तथा विधि-विधान करते हुए देखे जाते है; परन्तु उन्हें प्रायः यह खबर नही होती कि यह सब कुछ क्यो किया जाता है, किसके लिये किया जाता है, क्या जरूरत है, इसका मूल उद्देश्य क्या है, हमारी इन क्रियाओसे वह उद्देश्य पूरा होता है या नही और यदि नही होता तो हमे फिर किस प्रकारसे वर्तना चाहिये, इत्यादि। हाँ, वे इतना जरूर जानते है कि ये सब धर्मके काम है, पहलेसे होते आए है और इनके द्वारा पुण्योपार्जन किया जाता है। परन्तु धर्मके काम क्योकर है, किस तरह होते आए है और इनके द्वारा कैसे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, इन सब बातोंकी उन्हें जाँच नही होती और न वे इस जाँचकी कुछ ज़रूरत ही

समझते है। उनका सम्पूर्ण आचरण,इस विषयमे, प्राय: लोक-रीति-का (रूढियोका) अनुसरण करनेवाला, एक दूसरेकी देखादेखी और ज्यादातर लौकिक प्रयोजनोको लिये हुए होता है। उपास्य और उपासनाके स्वरूपपर उनकी दृष्टि ही नही होती और न वे उपासना-के विधि-विधानोमे कभी कोई भेद उपस्थित होने पर सहजमें उसका आपसी (पारस्परिक) समझौता कर सकते हैं। उन्हें अपनी चिरप्र-वृत्तिके विरुद्ध जरासा भी भेद असह्य हो उठता है और उसके कारण वे अपने भाइयोसे ही लड़ने-मरने तकको तैयार हो जाते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुषोंके द्वारा समाजमे सूखा क्रियाकाड बढ जाता है, यान्त्रिक चारित्रकी—जड मशीनो जैसे आचरणकी—वृद्धि हो जाती है और भावशून्य क्रियाएँ फैल जाती हैं। ऐसी हालतमे उपासना उपासना नही रहती और न भक्तिको भक्ति ही कह सकते है। ऐसी प्राणरहित उपासनासे यथेष्ट फलकी कुछ भी प्राप्ति नही हो सकती। श्रीकुमु-दचन्द्राचार्यने अपने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्रमें ठीक लिखा है.—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दु खपात्रं,
यस्मात् क्रिया: प्रतिफलन्ति न भावशून्या: ॥

अर्थात्—हे लोकबन्धु जिनेन्द्रदेव! जन्मजन्मान्तरोमे मैने आपका चरित्र सुना है, पूजन किया है और दर्शन भी किया है, यह सब कुछ किया परन्तु भक्तिपूर्वक कभी आपको अपने हृदयमे धारण नही किया[1]। नतीजा जिसका यह हुआ कि मै अब तक इस ससारमे

---

१ जिनेन्द्र भगवान्को भक्तिपूर्वक हृदयमे धारण करनेसे जीवोके दृढ कर्मबधन इस प्रकार ढीले पड जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्ष पर मोरके,आनेसे उस वृक्षको लिपटे हुए साँप। अर्थात् मोरके सामीप्यसे जैसे सर्प घबराते है वैसे ही जिनेन्द्रके हृदयस्थ होने पर कर्म काँपते हैं,

दु:खोंका ही पात्र रहा—मुझे दु:खोंसे छुटकारा ही न मिला—क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ फलदायक नही होती।

एक दूसरे आचार्य लिखते हैं कि, बिना भावके पूजा आदिका करना, तप तपना, दान देना, जाप्य जपना,—माला फेरना—और यहाँ तक कि दीक्षादिक धारण करना भी ऐसा निरर्थक होता है जैसा कि बकरीके गलेका स्तन। अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन देखनेमे स्तनाकार होते है परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नही देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना भावकी पूजनादि क्रियाएँ भी देखने-ही-की क्रियाएँ होती हैं, पूजादिका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नही हो सकता। यथा :—

भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ॥

इससे स्पष्ट है कि हमारी उपासनासम्बंधी क्रियाओंमे भावकी बडी जरूरत है—भाव ही उनका जीवन और भाव ही उनका प्राण है बिना भावके उन्हे निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये। परतु यह भाव उपासना-तत्त्वको समझे बिना कैसे पैदा हो सकता है? अतः अपनेमे इस भावको उत्पन्न करके अपनी क्रियाओंको सार्थक बनानेके लिये जैनियोको, आमतौर पर, अपना उपासना-तत्त्व समझने और समझकर तदनुकूल वर्तनेकी बहुत बड़ी जरूरत है। इसी

क्योकि जिनेन्द्र कर्मोंका नाश करनेवाले हैं। उन्होने अपने आत्मासे कर्मोंको निर्मूल कर दिया है। इसी आशयको आचार्य कुमुदचन्द्रने निम्नलिखित पद्यमे प्रगट किया है:—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखंडिनि चंदनस्य ॥ —कल्याणमंदिर

जरूरतको ध्यानमें रखकर आज इस निबंध द्वारा, संक्षेपमे, उपासना-तत्त्वको समझानेका यत्न किया जाता है। इससे हमारे वे अजैन बन्धु भी ज़रूर कुछ लाभ उठा सकेंगे जिन्हे जैनियोके उपासना-तत्त्वको जाननेकी आकांक्षा रहती है, अथवा जैनसिद्धान्तोकी अनभिज्ञताके कारण जिनके हृदयमे कभी कभी यह प्रश्न उपस्थित हुआ करता है कि, जब जैन लोग किसी ईश्वर या परमात्माको जगत्का कर्ता-हर्ता नहीं मानते और न उसकी प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे किसी लाभ तथा हानिका होना स्वीकार करते हैं तो फिर वे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना क्यों करते है और उन्होने उससे क्या लाभ समझ रक्खा है ? इस प्रश्नका समाधान भी स्वतः नीचेकी पंक्तियों-से हो जायगा —

सिद्धान्त और उद्देश्य

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है—अपने स्वरूपको भुलाकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है—वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है। आत्मासे भिन्न कोई एक ईश्वर या परमात्मा नही है— आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है। अर्हंत, जिनेन्द्र, जिनदेव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठी, परंज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म इत्यादि सब उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर है अथवा दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि, परमात्मा आत्मीय अनंत गुणो-का समुदाय है, अनंत गुणोकी अपेक्षा उसके अनंत नाम है, वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसका किसीसे राग या द्वेष नही है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नही होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोपर अप्रसन्नता लाता है, धनिक श्रीमानो, विद्वानो और उच्च श्रेणी या वर्णके मनु-

व्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नही देखता और न निर्धन-कगालो, मूर्खों तथा निम्नश्रेणीके मनुष्योको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र है और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन, वह परमानंदमय और कृतकृत्य है, सासारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नही। इसलिये जैनियोकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दुओ, मुसलमानो तथा ईसाइयोकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नही होती। उसका कुछ दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे (समझदार जैनी) ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह सक्षिप्तरूपसे यों है कि.—

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनंतसुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोका आधार है। परन्तु अनादि कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित है—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा संसारमे इतना लिप्त और मोहजालमे इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोका विकास होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नही होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें संतुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप मानने लगता है। इन्ही संसारी जीवोमेसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे समस्त कर्ममलको दूर कर देता है उससे आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती है और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है और परमात्मा कहलाता है[1]। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जब तक देहका

---

१. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविन. क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,

सम्बन्ध बाकी रहता है तब तक परमात्माको सकलपरमात्मा, जीव-न्मुक्त तथा अर्हंत कहते हैं और जब देहका सम्बंध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कल-परमात्मा, विदेहमुक्त और सिद्ध नामोंसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। यह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामे अपनी दिव्य-वाणीके द्वारा,ससारी जीवो-को उनके आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है—अर्थात्, उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोसे आच्छादित है, कैसे कैसे उपायोंसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदे हो सकते हैं,ससारके अन्य समस्त पदार्थोसे इस आत्मा-का क्या सवध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोका विस्तारके साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है—जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमे उनकी प्रवृत्ति होती है[1]। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगत्का नि सीम (बेहद) उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम कहे जाते हैं। इस महोपकारके बदलेमे हम (ससारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता बतलाएँ वह सब तुच्छ है। जो सज्जन अथवा साधुजन होते हैं वे अपने उपकारीके उपकारको कभी नही भूलते, बराबर उसका स्मरण रखते है और इस उपकार-

---

चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदा ।—कल्याणमदिर ।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृश ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥—समाधितत्र ।

१ श्रेयोमार्गस्य ससिद्धि- प्रसादात्परमेष्ठिनः ।—आप्तपरीक्षा ।

स्मृतिके चिन्हस्वरूप अनेक प्रकारसे अपने उपकारीके प्रति अपना आदर सत्कार व्यक्त किया करते है, जैसा कि श्लोकवार्तिकमे, श्रीमद्विद्यानंदस्वामी द्वारा, परमात्माकी उपासनाके समर्थनमे, उद्धृत किये हुए निम्नलिखित एक प्राचीन पद्यसे प्रकट है:—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोध
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धे-
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

इस पद्यमे यह बतलाया गया है कि,'मनोवांछित फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि शास्त्रके द्वारा होती है और शास्त्रकी उत्पत्ति आप्त भगवान्से है, इसलिये वे आप्तभगवान् (परमात्मा) जिनके प्रसादसे प्रबुद्धताकी प्राप्ति होकर अभिमत फलकी सिद्धि होती है, सतजनोके द्वारा पूज्य ठहरते है। सच है, साधुजन किसीके किये हुए उपकारको कभी भूलते नही हैं।'

इससे जो लोग दूसरोके किये हुए उपकारको भुला देते हैं उन्हे असाधु तथा असज्जन समझना चाहिये। लोकमे भी उन्हे कृतघ्नी, अहसानफरामोश और गुणमेट आदि बुरे नामोसे पुकारा जाता है। ऐसे लोग, जबतक उनकी यह दशा कायम रहती है, कभी उन्नति नही कर सकते और न आत्मलाभके सम्मुख हो सकते है। इसलिये अपने महोपकारी परमात्माके प्रति आदर-सत्कार रूपसे प्रवर्तित होना हमारा खास कर्तव्य है।

दूसरे, जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना—अर्थात्, परमात्मा बनना—सब आत्माओका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिक चरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका

चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है—उसीसे आत्माको यह मालूम पड़ता है कि मै कौन हूँ (को वाऽहं) और मेरी आत्मशक्ति क्या है (का च मे शक्ति)। परमात्मस्वरूपकी भावना ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि तथा स्थितिका कारण है[1]। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपने आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमे अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते है। अपने आदर्श पुरुषके गुणोमे भक्ति तथा अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नही हो सकती। उदाहरणके लिये, यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषाका विद्वान् होना चाहे तो उसके लिये यह जरूरी है कि वह संस्कृत भाषाके विद्वानोका ससर्ग करे, उनसे प्रेम रक्खे और उनकी सेवामे रहकर कुछ सीखे, सस्कृतकी पुस्तकोंका प्रेमपूर्वक सग्रह करे और उनके अध्ययनमे चित्त लगाए। यह नही हो सकता कि, सस्कृतके विद्वानोसे तो घृणा करे, उनकी शकल तक भी देखना न चाहे, उनसे कोसो दूर भागे, सस्कृतकी पुस्तकोको छुए अथवा देखे तक नही, न सस्कृतका कोई शब्द अपने कानोमे पडने दे, और फिर सस्कृतका विद्वान बन जाय। इसलिये प्रत्येक गुणकी प्राप्तिके लिये उसमे सब ओरसे अनुरागकी बडी जरूरत है। जो मनुष्य जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदर-सत्कार करता है। क्योंकि गुणीके आश्रय बिना कही भी गुण नही होता। आदर-सत्काररूप इस प्रवृत्तिका नाम ही

---

१ सोऽहमित्यात्तसस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन.।
तत्रैव दृढसस्काराल्लभते ह्यात्मन. स्थितिम्॥
—समाधितन्त्र

पूजा और उपासना है। इसलिये परमात्मा[1] इन्ही समस्त कारणो-से हमारा परम पूज्य और उपास्य देव है। उसकी इस उपासनाका मुख्य उद्देश्य, वास्तवमे, परमात्म गुणोंकी प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणोंको प्राप्तिकी भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ और विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी। इसीसे अच्छे अच्छे योगीजन भी निरतर परमात्माके गुणोका चितन किया करते हैं। कभी कभी वे परमात्माका स्तवन करते हुए उसमे उन खास खास गुणोका उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं जिनको प्राप्त करनेकी उनकी उत्कट इच्छा होती है और उनके सम्बन्धमे यह साफ तौरसे लिख भी दिया करते हैं कि हम ऐसे परमात्मगुणो-की प्राप्तिके लिये परमात्माकी वन्दना करते है, जैसा कि सर्वार्थ-सिद्धिमे श्रीपूज्यपादाचार्यके दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है.—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी उपासना मुख्यतया उनके गुणोकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है, उसमे पर-मात्माकी कोई ग़रज़ नही होती बल्कि वह अपनी ही गरजको लिये हुए होती है और वह गरज़ 'आत्मलाभ' है जिसे परमात्माका आदर्श सामने रखकर प्राप्त किया जाता है। और इसलिये, जो लोग उपासनाके इस मुख्योद्देश्यको अपने लक्ष्यमे नही रखते और न उप-कारके स्मरण पर ही जिनकी दृष्टि रहती है उनकी उपासना वास्तवमें उपासना कहलाए जानेके योग्य नही हो सकती। ऐसी

---

१ इन्ही कारणोसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी, जिनमे आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई है और जिन्होने अपने उपदेश, आचरण तथा शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है वे सब, हमारे पूज्य है।

उपासनाको बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तनोसे अधिक महत्व नही दिया जा सकता। उसके द्वारा वर्षों क्या कोटि जन्ममे भी उपासनाके मूल उद्देश्यकी सिद्धि नही हो सकती। और इसलिये, यह जीव ससारमे दु खोका ही पात्र बना रहता है। दुःखोंसे समुचित छुटकारा तभी हो सकता है जब कि परमात्माके गुणोमे अनुराग बढाया जाय। परमात्माके गुणोमे अनुराग बढ़नेसे पापपरिणति सहजमे छूट जाती है और पुण्यपरिणति उसका स्थान ले लेती है। इसी आशयको स्वामी समन्तभद्राचार्यने, निम्न वाक्य द्वारा, बडे ही अच्छे ढगसे प्रतिपादित किया है —

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति चित्त दुरिताऽञ्जनेभ्य ॥

—स्वयभूस्तोत्र

इसमे स्वामी समन्तभद्र, परमात्माको लक्ष्य करके उनके प्रति, अपना यह आशय व्यक्त करते है कि 'हे भगवान्, पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योकि आप वीतरागी है-रागका अश भी आपके आत्मामे विद्यमान नही है जिसके कारण किसी पूजा-भक्तिसे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नही है कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नही आ सकता, क्योकि आपके आत्मासे वैरभाव, द्वेषाश, बिल्कुल निकल गया है—वह उसमे विद्यमान ही नही है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमे निन्दा और स्तुति दोनो ही आपके लिये समान है—उनसे आपका कुछ बनता या बिगड़ता नही है—तो भी आपके पुण्य गुणोके स्मरणसे हमारा चित्त पापोसे पवित्र होता है—हमारी पापपरिणति छूटती है—इसलिये हम भक्तिके साथ आपका गुणानुवाद गाते है—आपकी उपासना करते हैं।'

जब परमात्माके गुणोमे अनुराग बढाने, उनके गुणोका प्रेमपूर्वक

स्मरण और चिन्तन करनेसे शुभ भावोकी उत्पत्ति-द्वारा पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है तो नतीजा इसका यही होता है कि हमारी पापप्रकृतियोका रस सूखता और पुण्यप्रकृतियोका रस बढता है। पाप-प्रकृतियोका रस (अनुभाग) सूखने और पुण्य-प्रकृतियोमें रस बढ़नेसे अन्तराय कर्म नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पाप-प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोगोपभोग आदिमें विघ्नस्वरूप रहा करती है—उन्हे होने नही देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड जाती है और हमारे इष्टको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नही रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते है और उनका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। जैसा कि एक आचार्य महोदयके निम्नवाक्यसे प्रगट है :—

नेष्टं विहन्तु शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

ऐसी हालतमें यह कहना कि परमात्माकी सच्ची पूजा, भक्ति और उपासनासे हमारे लौकिक प्रयोजनोंकी भी सिद्धि होती है, कुछ भी अनुचित न होगा। यह ठीक है कि, परमात्मा स्वय अपनी इच्छापूर्वक किसीको कुछ देता दिलाता नही है और न स्वयं आकर अथवा अपने किसी सेवकको भेजकर भक्तजनोका कोई काम ही सुधारता है तो भी उसकी भक्तिका निमित्त पाकर हमारी कर्मप्रकृतियोमे जो कुछ उलट-फेर होता है उससे हमे बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है और हमारे अनेक बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते है। इसलिये परमात्माके प्रसादसे हमारे लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं इस कहनेमे, सिद्धान्तकी दृष्टिसे, कोई विरोध नही आता। परन्तु फलप्राप्तिका यह सारा खेल उपासनाकी प्रशस्तता, अप्रशस्तता और उसके द्वारा उत्पन्न हुए भावोकी तरतमता पर निर्भर है। अत हमें अपने भावोकी उज्ज्वलता, निर्मलता और उनके उत्कर्षसाधन पर खास तौरसे ध्यान रखना चाहिये और वह तभी बन सकता है जब

कि परमात्माकी उपासना उपासनाके ठीक उद्देश्यको समझकर की जाय और उसमे प्राय लौकिक प्रयोजनोपर दृष्टि न रक्खी जाय। जो लोग केवल लौकिक प्रयोजनकी दृष्टिसे— सासारिक विषयकषायोको पुष्ट करनेकी गरज़से - परमात्माकी उपासना करते है, उसके नाम पर तरह तरहकी बोल-कबूलत बोलते हैं और फलप्राप्तिकी शर्तपर पूजा-उपासनाका वचन निकालते हैं उनके सम्बन्धमे यह नही कहा जा सकता है कि वे परमात्माके गुणोमे वास्तविक अनुराग रखते है, बल्कि यदि यह कहा जाय कि वे परमात्माके स्वरूपसे ही अनभिज्ञ हैं तो शायद कुछ ज्यादा अनुचित न होगा। ऐसे लोगोकी इस प्रवृत्ति-से कभी कभी बडी हानि होती है। वे सासारिक किसी फल-विशेष-की आशासे – उसकी प्राप्तिके लिये —परमात्माकी पूजा करते है,परतु फलकी प्राप्ति अपने अधीन नही होती, वह कर्मप्रकृतियोंके उलट-फेरके अधीन है। दैवयोगसे यदि कर्म-प्रकृतियोका उलट-फेर, योग्य भावोको न पाकर, अपने अनुकूल नही होता और इसलिये अभीप्ट फलकी सिद्धिको अवसर नही मिलता तो ऐसे लोगोकी श्रद्धा डगमगा जाती है अथवा यों कहिये कि उस वृक्षकी तरह उखड जाती है जिसका मूल कुछ भी गहरा नही होता। उन्हे यह तो खबर नही पडती कि हमारी उपासना भावशून्य थी, उसमे प्राण नही था और इसलिये हमे सच्ची उपासना करनी चाहिये, उलटा वे परमात्माकी पूजा-भक्तिमे हतोत्साह होकर उससे उपेक्षित हो बैठते है। साथ ही, अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये दूसरे देवी-देवताओकी तलाशमें भटकते हैं, अनेक रागी-द्वेषी देवताओकी शरणमे प्राप्त होकर उनकी तरह तरहकी उपासना किया करते है और इस तरहपर अपने जैनत्वको भी कलकित करके जैनशासनकी अप्रभावनाके कारण बन जाते है।

ऐसी कच्ची प्रकृति और ढीली श्रद्धाके मनुष्योकी दशा, नि.सदेह, बडी ही करुणाजनक होती है। ऐसे लोगोंको खास तौरसे उपासना-तत्त्वको जानने और समझनेकी ज़रूरत है। उन्हे ऊपरके इस सपूर्ण

कथनसे खूब समझ लेना चाहिये कि जैनदृष्टिसे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना परमात्माको प्रसन्न करने–खुशामद-द्वारा उससे कुछ काम निकालनेके लिये नही होती और न सासारिक विषय-कषायोका पुष्ट करना ही उसके द्वारा अभीष्ट होता है। बल्कि, वह खास तौरसे परमात्माके उपकारका स्मरण करने और परमात्माके गुणोकी–आत्मस्वरूपकी–प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है। परमात्माका भजन और चिन्तन करनेसे–उसके गुणोमे अनुराग बढ़ानेसे–पापोसे निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपार्जन भी होता है, जो कि स्वत. अनेक लौकिक प्रयोजनोंका साधक है। इसलिये जो लोग परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नही करते वे अपने आत्मीय गुणोसे पराङ्मुख और अपने आत्मलाभसे वंचित रहते है, इतना ही नही, किन्तु कृतघ्नताके महान् दोषसे भी दूषित होते है। अतः ठीक उद्देश्योके साथ परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है।

मूर्ति-पूजा

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था—अर्थात्, अर्हन्त-अवस्थामे सदा और सर्वत्र विद्यमान नही रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्तनेके अवलम्बनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोका प्रतिबिम्ब होती है। उसमे स्थापना-निक्षेपसे परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योकि मूर्तिकी पूजासे किसी धातुपाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नही है। ऐसा होता तो गृहस्थोके घरोमे सैकड़ो बाट बटेहडे धडे पसेरे आदि चीजें इसी किस्मकी पड़ी रहती है; वे उनसे ही अपना मस्तक रगडा करते और उन्हें प्रणामादिक किया करते।

पर ऐसा नही है। मूर्तिके सहारेसे परमात्माकी ही पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना की जाती है। मूर्तिके द्वारा मूर्तिमानकी उपासनाका नाम ही मूर्तिपूजा है। इसीलिये इस मूर्तिपूजाके देवपूजा, देवाराधना, जिनपूजन, देवार्चन, भगवत्पर्युपासन, जिनार्चा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा :—

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥ ६-४२ ॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार

उर्दू के एक कवि शेख साहबने भी इस संबंधमे अच्छा कहा है. —

उसमे है एक खुदाई का जलवा वगर ना शेख।
सिजदा करेसे फ़ायदा पत्थरके सामने ?

अर्थात्—परमात्माकी उस मूर्तिमे खुदाईका जलवा—परमात्माका प्रकाश और ईश्वरका भाव—मौजूद है जिसकी वजहसे उसे सिजदा—प्रणामादिक—किया जाता है, अन्यथा, पत्थरके सामने सिजदा करनेसे कोई लाभ नही था। भावार्थ, परमात्माकी मूर्तिको जो प्रणामादिक किया जाता है वह वास्तवमे परमात्माको—परमात्माके गुणोको ही प्रणामादिक करना है, धातु-पाषाणको प्रणामादिक करना नही है। और इसलिए उसमे लाभ जरूर है। जैन-दृष्टिसे खुदाईका वह जलवा परमात्माके परम वीतरागता और शान्ततादि गुणोका भाव है जो जैनियोकी मूर्तियोमें साफ तौरसे झलकता और सर्वत्र पाया जाता है। परमात्माके उन गुणोको लक्ष्य करके ही जैनियोंके यहाँ मूर्तिकी उपासना की जाती है।

परमात्माकी इस परम शान्त और वीतराग मूर्तिके पूजनमे एक बडी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि, जो ससारी जीव ससारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपचमे अधिक फँसे हुए है जिनके चित्त अति चंचल है और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नही है कि

जो केवल शास्त्रोमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम विना किसी नकशेके परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदय पर खीच सकें या परमात्म-स्वरूपका ध्यान कर सके, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुःखो तथा पापोकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमे अग्रसर होते हैं।

जव कोई चित्रकार चित्र खीचनेका अभ्यास करता है तव वह सवसे प्रथम सुगम और सादे चित्रोपरसे, उनको देख देखकर, अपना चित्र खीचनेका अभ्यास वढाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नही वना सकता। जव उसका अभ्यास वढ जाता है, तव कठिन, गहन और रंगीन चित्रोको भी सुन्दरताके साथ वनाने लगता है। और छोटे चित्रको वड़ा और वड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जव अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामे पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तव वह चलती-फिरती, दौड़ती-भागती वस्तुओका भी चित्र वडी सफ़ाईके साथ वातकी वातमे खीचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अकित कर देता है। उसी प्रकार यह ससारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नही कर सकता—अर्थात् परमात्माका फोटो अपने हृदय पर नही खीच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको वढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जव उस मूर्तिकी वीतराग छबि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तव शनै शनै. एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटो अपने हृदयमें खीचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करनेपर उसका मनोबल और आत्मबल वढ़ जाता है और फिर वह इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान श्रीअर्हन्तदेवका

समवसरणादि-विभूतिसहित साक्षात् चित्र भी अपने हृदयमें खीचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम 'रूपस्थ ध्यान' है और यह ध्यान प्राय मुनि-अवस्था ही मे बनता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामे फिर उसको धातुपाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिए मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नही रहती, बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमे परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोका चित्र भी खीचने लगता है, जिसको 'रूपातीत ध्यान' कहते है। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपने आत्मासे कर्ममलको छाँटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस तरह अपने आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय इसका यह है कि, मूर्तिपूजा आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्राय प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) ही मे होती है। बल्कि, दूसरे शब्दोमे, यो कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमे है, उतना उतना ही ज्यादा उसको मूर्तिपूजाकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थका मुख्य धर्म वर्णन किया है[1]।

यह तो हुई मूर्तिविशेष और जैनियोके मूर्तिपूजा विषयक खास सिद्धान्तकी बात। अब यदि आमतौरसे मूर्तिपूजाके सिद्धान्त पर नजर डाली जाय, मूर्तिके स्वरूप पर सूक्ष्मताके साथ विचार किया जाय

---

१ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो त विणा सोवि ॥ —रयणसार
देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप.।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥ —पद्मनन्दिपचवि०

और उसके अर्थसम्बन्धमें कुछ गहरा उतरा जाय,तो मालूम होगा कि ससारकी कोई भी उपासना बिना मूर्तिके नही बन सकती—मूर्तिका अवलम्बन जरूर लेना पडता है, चाहे यह मूर्ति सूक्ष्म हो या स्थूल। आप किसीकी प्रशसा नही कर सकते जब तक कि मूर्तियोका सहारा न ले लेवे। शब्द, जिनके द्वारा परमात्माकी या किसीकी भी स्तुति की जाती है, नाम लिया जाता है और गुणानुवाद गाया जाता है, वे सब मूर्तिक हैं, मूर्तिकसे उत्पन्न होते हैं, मूर्तिक पदार्थोंसे रोके जाते है, फोनोग्राफमें भरे जाते हैं और इसलिये एक प्रकारकी सूक्ष्म मूर्तियाँ हैं। इसी तरह शब्दोके द्योतक जो अक्षर हैं वे भी शब्दोकी नाना-प्रकारकी आकृतियाँ हैं मूर्तियाँ हैं—जिन्हे भिन्न भिन्न देशो अथवा जातियोने अपने अपने व्यवहारके लिये कल्पित कर रक्खा है। हाथी-को सस्कृतमे 'गज', प्राकृतमें 'गय', फारसीमे 'फील , अरबीमे पील', और अग्रेजीमे 'एलिफेंट' (Elephant) कहते हैं। अन्यान्य भाषा-ओमे उसके दूसरे नाम है और एक एक भाषामे कई कई नाम भी है—जैसे सस्कृतमे इभ, करी इत्यादिक—और ये सब नाम अनेक लिपियोंमे भिन्न भिन्न प्रकारसे लिखे जाते हैं। इन शब्दरूप मूर्ति-योके कानोंसे टकराने पर या अक्षररूप मूर्तियोके नेत्रोके सामने आने पर जब हाथी नामके एक विशाल जन्तु (जानवर) का बोध होता है तो वह हाथीकी साक्षात् (तदाकार) मूर्तिको देखनेपर उससे कही अधिक हो सकता है और होता है। हाथीके नामसे हाथीका सामान्य ज्ञान ही होता है, परन्तु उसकी तदाकार मूर्तिके देखनेसे रङ्ग-रूप और आकार-प्रकारादिका बहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है। यही दोनोमे विशेष है, और इसी विशेषकी वजहसे आजकल विद्वान् लोग शिक्षालयोमे भी चित्रो और मूर्तियोके द्वारा बालकोको शिक्षा देना ज्यादा पसन्द करने लगे हैं।

परमात्माके सम्बन्धमे भी यही सब बाते समझ लेनी चाहिएँ। परमात्माके ईश्वर, परब्रह्म, अल्ला, .खुदा, गौड (God) आदि

नामोंके उच्चारण करनेसे अथवा इन नामोको किसी लिपिविशेषमें लिखकर सामने रखनेसे इन उभय प्रकारकी (शब्द-अक्षर-रूपवाली) मूर्तियोंके द्वारा यदि परमात्माका बोध होता है तो परमात्माकी तदाकार मूर्ति उसकी जीवन्मुक्तावस्थाकी आकृति—के देखनेसे वह बोध और भी ज्यादा स्पष्ट होता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसी मूर्तिके द्वारा परमात्माका कुछ बोध ही नही होता तो वह शब्दो और अक्षरोके द्वारा बिल्कुल नही होता, यह कहना चाहिए, क्योकि वे भी मूर्तियाँ है और अतदाकार मूर्तियाँ है। जब तदाकार मूर्तियोंसे ही, जो कि ज्यादा विशद होती है, अर्थावबोध नही होता तो फिर अतदाकार मूर्तियोंसे वह कैसे हो सकता है ? अतः उक्त कथन ठीक नही है । इसी तरह यह समझना चाहिए कि परमात्माका नाम लेनेसे, शब्दो-द्वारा परमात्माकी स्तुति करनेसे—परमात्मने नम, ईश्वराय नम, परब्रह्मणे नमो नम, ॐ नम, णमो अरहंताण, अल्हम्दोलिल्ला[1] इत्यादि मन्त्रोके उच्चारण करनेसे—या ॐ आदि अक्षरोकी आकृति सामने रखकर ध्यान करनेसे यदि किसी पुण्यफलकी प्राप्ति होती है तो वह तदाकार मूर्तिपरसे परमात्माका चिन्तन करनेसे भी जरूर होती है और ज्यादा हो सकती है। ऐसी हालतमे जो लोग परमात्माकी शब्दो और अक्षरोमे स्थापना करके उन अतदाकार मूर्तियोके द्वारा उसकी उपासना करते है उन्हे परमात्माकी तदाकार मूर्तियाँ बनाकर उपासना करनेवालोपर आक्षेप करनेकी जरूरत नही है और न वैसा करनेका कोई हक ही है, क्योकि वे स्वय ही मूर्तियो द्वारा—बल्कि अस्पष्ट मूर्तियो द्वारा– परमात्माकी उपासना करते है और उससे शुभ फलका होना मानते है। वास्तवमे यदि देखा जाय तो कोई भी चिन्तन अथवा ध्यान बिना मूर्तिका सहारा लिये नही बन सकता और न निराकारका ध्यान ही हुआ करता है।

---

१ यह अरबी भाषाका मुसलमानी मत्र है।

प्रत्येक ध्यान अथवा चिन्तनके लिये किसी न किसी मूर्ति या आकार-विशेषको अपने सामने रखना होता है, चाहे वह नेत्रोंके सामने हो अथवा मानसप्रत्यक्ष। इसी अभिप्रायको हृदयमें रखकर पं० मंगतरायजीने ठीक कहा है—

अबस यह जैनियों पर इत्तहामे बुतपरस्ती है।
बिना तसवीरके हरगिज तसव्वर हो नहीं सकता॥

अर्थात्—जैनियो पर बुतपरस्तीका—मूर्तिपूजाविषयक—जो इलजाम लगाया जाता है—यह कहा जाता है कि वे धातुपाषाणके पूजनेवाले है—वह बिल्कुल व्यर्थ और निःसार है, क्योंकि कोई भी तसव्वर—कोई भी ध्यान अथवा चिन्तन—बिना तसवीरके—बिना मूर्ति या चित्रका सहारा लिये—नही बन सकता। भावार्थ, ध्यान तथा चिन्तनकी सभीको निरन्तर जरूरत हुआ करती है, इसलिए सभीको मूर्तियोंका आश्रय लेना पड़ता है और इस दृष्टिसे सभी मूर्तिपूजक हैं। तब, जैनियोपर ही कैसे उसका दोष मढ़ा जा सकता है? उन्हें, इस विषयमें दोष देना बिल्कुल फजूल और निर्मूल है। वे अपनी मूर्तियोंके द्वारा परमात्माका ही ध्यान तथा चिन्तन किया करते हैं।

इसलिए जो लोग मूर्तिपूजाका निषेध करते है, मूर्तिको जड, अचेतन,कृत्रिम बतलाकर और यह कहकर कि वह हमारा कुछ भला नही कर सकती उससे घृणा उत्पन्न कराते हैं, यह सब उनकी बड़ी भारी भूल है। वे खुद बात बातमे मूर्तिका सहारा लिया करते हैं, जड पदार्थोंके मूर्तियोंका आदर-सत्कार करते हुए देखे जाते है[1] पीछे भटकते हैं, उनके लिए अनेक प्रकारकी दीनताएँ करते हैं,संसार-

१ वेदादि शास्त्रोका विनय और अपने महात्माओके चित्रोकी इज्जत करते हैं तथा परमात्माके नामादिकोको बडी भक्तिके साथ उच्चारण करते है।

में उनका कोई भी काम जड पदार्थोकी सहायताके बिना नही होता, वे अपने चारो ओर जड तथा कृत्रिम पदार्थोंसे घिरे रहते हैं और उनसे नाना प्रकारके काम निकाला करते हैं जड तथा कृत्रिम गाली-को सुनकर उन्हे रोष हो आता है, और वे यह भी खूब जानते है कि इस जगत्का सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार प्राय. जड तथा कृत्रिम मूर्तियोकी सहायतासे ही चल रहा है, इतनेपर भी उनका मूर्तिको जड तथा कृत्रिम बतलाकर उससे घृणा उत्पन्न करना कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक स्वय समझ सकते है। वास्तवमे यह सब साम्प्रदायिक मोह, आपसकी खीचातानी तथा पक्षपातका नतीजा है और तात्त्विक दृष्टिसे इसे कुछ भी महत्त्व नही दिया जा सकता। अथवा यो कहना चाहिए कि ऐसे लोगोको मूर्तिका रहस्य मालूम नही है, उन्हे यह खबर ही नही कि ऐसा कोई भी मनुष्य ससारमे नही हो सकता जो मूर्तिका उपासक न हो अथवा परमात्माकी उपासनामे मूर्तिकी सहायता न लेता हो, और इसलिये उन्हे ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिका रहस्य खूब समझ लेना चाहिये और यह जान लेना चाहिए कि इन स्थूल मूर्तियोकी पूजाका कोई दूसरा उद्देश्य नही है, इनके द्वारा परमात्माकी ही उपासना की जाती है। ये परमात्माके प्रतिरूप हैं, प्रतिबिम्ब हैं और इसीलिये इन्हे प्रतिमा भी कहते है। बुद्धिमान् लोग इनमें परमात्माका दर्शन अथवा इनके सहारेसे अपनी आत्माका अनुभवन किया करते हैं, जैसा कि इस निबधके शुरूमे प्रकट किया गया है। नीचेके एक पद्यसे भी पाठकोको ऐसा ही मालूम होगा, जिसमें कवि मैथिलीशरणजीने उन भावोको चित्रित किया है जो इस विषयमे एक सामतके हृदयमे उस समय उदित हुए थे जब कि उसके देशके किलेकी मूर्ति बनाकर एक राणाके द्वारा, अपनी प्रतिज्ञा[1]

---

१ प्रतिज्ञा, जो सहसा क्रोधके आवेशमे विना सोचे समझे की गई थी यह थी कि जब तक उस देशके किलेको नही तोड डालूँगा तब तक

पूरी करनेके अभिप्रायसे, तोडी जा रही थी और जिसे उस सामन्तने अपने उन भावोंके अनुसार तोडने नही दिया था बल्कि उसके लिये राणासे युद्ध किया था। वह पद्य इस प्रकार है :—

तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मानके ?
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्तिको जड़ जानके ?
अज्ञ जन उसको भले ही जड कहें अज्ञानसे।
देखते भगवानको धीमान उसमें ध्यानसे ॥

—रङ्गमें भंग

इससे पाठक मूर्तिपूजाके भावोंको और भी स्पष्टताके साथ अनुभव कर सकते है, और यह समझ सकते हैं कि इन मूर्तियोंके द्वारा परमात्माका ही पूजना अभीष्ट होता है—धातुपाषाणका नही। मूर्तिका विनय-अविनय, वास्तवमे मूर्तिमानका ही विनय-अविनय है। और यही वजह है कि जो कोई किसी महात्मा, परमात्मा, राजा या महाराजाकी लोकमे सम्प्रतिष्ठित मूर्तिका अविनय करता है वह दंडका पात्र समझा जाता है और उसे, प्रमाणित होने पर, दंड दिया भी जाता है।

यह ठीक है कि, धातुपाषाणकी ये मूर्तियाँ हमे कुछ देती-दिलाती नही हैं और इनसे ऐसी आशा रखना इनके स्वरूपकी अनभिज्ञता प्रकट करना है, तो भी परमात्माकी स्तुति आदिके द्वारा शुभ भावोंको उत्पन्न करके हम जिस प्रकार अपना बहुत कुछ हित साधन कर लेते हैं उसी प्रकार इन मूर्तियोंकी सहायतासे भी हमारा बहुत कुछ काम निकल जाता है। मूर्तियोंके देखनेसे हमे परमात्माका स्मरण होता है

अन्न जल नही ग्रहण करूँगा। परन्तु सेना सजाकर वहाँ तक पहुँचने आदिके लिये कितने ही दिनोंकी जरूरत थी और उस वक्त तक भूखा नही रहा जा सकता था, इसलिये प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मंत्रियो द्वारा मूर्तिको तोडनेकी योजना कीगई थी।

और उससे फिर आत्मसुधारकी ओर हमारी प्रवृत्ति होने लगती है। यह सब कैसे होता है, इसे एक उदाहरणके द्वारा नीचे स्पष्ट किया जाता है :—

कल्पना कीजिये, एक मनुष्य किसी स्थानपर अपनी छतरी भूल आया। वह जिस समय मार्गमे चला जा रहा था, उसे सामनेसे एक दूसरा आदमी आता हुआ नज़र पडा, जिसके हाथमें छतरी थी। छतरीको देखकर उस मनुष्यको झटसे अपनी छतरी याद आ गई और यह मालूम हो गया कि मै अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया हूँ और इसलिये वह तुरन्त उसके लानेके लिये वहाँ चला गया और ले आया। अब यहाँपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस मनुष्यको किसने बताया कि तू अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया है। वह दूसरा आदमी तो कुछ बोला नही, और भी किसी तीसरे व्यक्तिने उस मनुष्यके कानमे आकर कुछ कहा नही। तब क्या वह जड छतरी ही उस मनुष्यसे बोल उठी कि तू अपनी छतरी भूल आया है ? परन्तु ऐसा भी कुछ नही है, फिर भी यह जरूर कहना होगा कि उस मनुष्यको अपनी छतरीके भूलनेकी जो कुछ खबर पड़ी है और वहाँसे लानेमे उसकी जो कुछ प्रवृत्ति हुई है उन सबका निमित्त कारण वह छतरी है, उस छतरीसे ही उसे यह सब उपदेश मिला है और ऐसे उपदेशको 'नैमित्तिक उपदेश' कहते है। यही उपदेश हमें परमात्माकी मूर्तियोपरसे मिलता है। जैनियोकी ऐसी मूर्तियाँ ध्यानमुद्राको लिये हुए परमवीतराग और शान्त-स्वरूप होती हैं। उन्हें देखनेसे बडी शान्ति मिलती है, आत्मस्वरूपकी स्मृति होती है—यह खयाल उत्पन्न होता है कि हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप तो यह है तू इसे भुलाकर ससारके मायाजालमे और कषायोंके फन्देमे क्यों फँसा हुआ है ? नतीजा जिसका यह होता है कि, (यदि बीचमें कोई बाधा उत्पन्न नही होती तो) वह व्यक्ति यमनियमादिके द्वारा अपने आत्मसुधारके मार्गपर लग जाता है। यह दूसरी बात है कि कोई

मनुष्य नेत्रहीन (विवेकरहित) हो और उसे मूर्तिरूपी दर्पणमे परमात्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह दिखलाई ही न देता हो, अथवा उसका हृदय दर्पणके समान स्वच्छ न होकर मिट्टीके उस ढेलेके सदृश हो जो प्रतिबिम्ब (उपदेश) को ग्रहण ही नही करता और या इतना निर्बल हो कि उसे ग्रहण करके फिर शीघ्र छोड देता हो, और इस तरह अपने आत्माके सुधारकी ओर न लग सकता हो, परन्तु इसमे मूर्तिका कोई दोष नही, न इन बातोंसे मूर्तिकी उपयोगिता नष्ट होती है और न उसकी हितोपदेशकतामे ही कोई बाधा आती है। ऐसी परम हितोपदेशक मूर्तियाँ, नि सन्देह, अभिवन्दनीय ही होती है। इसीसे एक आचार्यमहोदय उनका निम्नप्रकारसे अभिवादन करते हैं

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शान्ततया भवान्तकानाम्।
प्रणमामि विशुद्धये जिनाना प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमंति ॥

— क्रियाकलाप

अर्थात्—ससारसे मुक्त श्रीजिनेन्द्रदेवकी उन तदाकार सुन्दर प्रतिमाओको मैं, अपनी आत्मशुद्धिके लिये, प्रणाम करता हूँ, जो कि अपनी परम शान्तताके द्वारा ससारी जीवोको कपायोकी मुक्तिका उपदेश देती है।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र-प्रतिमाओकी यह पूजा आत्मविशुद्धिके लिये की जाती है और जो काम आत्माकी शुद्धिके लिये—आत्माकी विभाव-परिणतिको दूर कर उसे स्वभावमें स्थित करनेके उद्देश्यसे—किया जाता हो वह कितना अधिक उपयोगी है इस बातको बतलानेकी ज़रूरत नही, विज्ञ पाठक उसे स्वयं समझ सकते है और ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिपूजाकी उपयोगिताको बहुत कुछ अनुभव कर सकते है।

विरोधका रहस्य

हाँ, जब मूर्तिपूजा इतनी अधिक उपयोगी चीज है तब कभी कभी

समाजके साक्षर व्यक्तियोके द्वारा – ऐसे विद्वानोंके द्वारा भी जो अनेक वार वडी प्रवल युक्तियो और जोरोके साथ मूर्तिपूजाका मडन कर चुके हो—इस समूची उपासना या इसके किसी एक अगका विरोध क्यों होने लगता है ? यह एक प्रश्न है जो नि सन्देह विचारणीय है। हमारी रायमे इसका सीधा सादा उत्तर यही हो सकता है कि, जव उपासना अपने उद्देश्योंसे गिर जाती हैं, अथवा लक्ष्यसे भ्रष्ट और आदर्शसे च्युत होकर कोरी बुतपरस्ती रह जाती है, उसमे भाव नही रहता वह प्राय प्राणरहित हो जाती है – उसके लिये किरायेके आदमी रखनेकी नौवत आ जाती है, उपासनाके नामपर समाजमे सूखा क्रियाकाड फैल जाता है, उसकी तहमे अनेक प्रकारके अत्याचारोकी वृद्धि होने लगती है, उसमे व्यर्थके आडम्बर वढ जाते हैं और समाजकी शक्तिका दुरुपयोग होने लगता है, तव वह उपासना तात्त्विक दृष्टिसे उपयोगी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिसे उपयोगी नही रहती और इसलिये उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है। विरोध करनेवालोका मुख्य उद्देश्य उस समय प्राय यही होता है कि, यदि समाजकी इस उपासनामें कुछ भी प्राण अवशिष्ट है तो उसे सजीवित किया जाय,–अनेक प्रकारके उपायो द्वारा–उपासना-तत्त्वकी पुटे देकर–उसमें अधिक प्राणका सचार किया जाय, और यदि प्राण बिल्कुल नही रहा है और न फिरसे उसका सचार हो सकता है तो उसके साथ उस मृतकशरीर-जैसा व्यवहार किया जाय जो अत्यन्त प्यारा और उपयोगी होते हुए भी प्राणरहित हो जानेपर घरमे नही रक्खा जा सकता। अथवा यो कहिये कि अपने विरोधके द्वारा वे यही सूचित करते हैं कि, उपासनाके शरीरमे अमुक अमुक खराबियाँ उत्पन्न हो गई हैं – उसके ढग विगड गये है—उन्हे शीघ्र दूर किया जाय—सुधारा जाय—नही तो समूचे शरीरके नष्ट हो जानेका भय है, या शरीरका अमुक अङ्ग गल गया है उसका यदि प्रतिकार नही हो सकता तो उसे अलग कर दिया जाय, नही तो उसके ससर्गसे दूसरा

अङ्ग भी खराव हो जायगा, इत्यादिक। जव समाजकी तरफसे इस विरोधकी कुछ सुनाई नहीं होती, वल्कि उलटी खीचातानी वढ जाती है—समाज अपने दोषोंपर विचार नही करता और न अपनी उपासनामे जीवन-सचार करनेका कोई उपाय करता है, बल्कि उसे ज्योका त्यो अस्वस्थ दशामे ही रखना चाहता है और इस तरह उसकी हालत खराबसे खराबतर (ज्यादा खराव) होने लगती है—तव विरोध अपना उग्ररूप धारण कर लेता है और उसके कारण हेयादेयका विचार नष्ट होकर, उपासनाके उन अच्छे अच्छे, स्वस्थ अगोको भी धक्का पहुँच जाता है जिनको धक्का पहुँचाना विरोधकारियोको कभी इष्ट नही होता, और इस तरह एक अच्छी और उपयोगी सस्था समाजके दोषसे बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और भावी संतति उसके समुचित लाभोसे वचित ही रह जाती है[1]।

उपसंहार

इसलिये, समाजके व्यक्तियोका यह खास कर्तव्य है कि वे उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे समझकर अपनी उपासनाके प्रत्येक अङ्ग और ढगकी जॉच करे, और रूढियोंके मोहको जलाञ्जलि देकर उन्हे विल्कुल उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना लेवे। ऐसा हो जानेपर समाजके फिर किसी भी समझदार व्यक्तिको उनकी इस उपासना पर आपत्ति करनेकी कोई वजह नही रह सकती।

समाज-हितैषियोको समाजमे इस उपासना-तत्त्वके फैलाने, शिक्षा-सस्थाओमें पढ़ाए जाने और इसके अनुकूल समाजकी प्रवृत्ति करानेका खास तौरसे यत्न करना चाहिए। इसीमे समाजका हित और इसीमे समाजका कल्याण है और इसी हितसाधनाकी दृष्टिसे यह निवन्ध लिखा गया है।

---

१. जैनियोमे स्थानकवासी और तारनपन्थी जैसे सम्प्रदाय ऐसे ही विरोधके परिणाम है।

१५

उपासनाका ढंग

आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष हो रही है और इसलिये समाजमे उपासनाके जितने अंग और ढग प्रचलित है उनके गुण-दोषो पर विचार करनेकी बडी जरूरत है। उन पर स्वतंत्रताके साथ अनेक लेख लिखे जा सकते हैं। एक बार 'नौकरोंसे पूजन कराना' नामका लेख अपने-द्वारा लिखा भी गया था। इस समय उपासनाके ढग-सम्बन्धमें सकेतरूपसे इतना ही कह देना काफी होगा कि, उपासनाका वही सब ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमे—उसके मूल उद्देश्योमे—कुछ बाधा न पडती हो। उसका कोई एक निर्दिष्टरूप नही हो सकता। भगवान जिनेंद्रदेवने भी, अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा उसका कोई एक रूप निर्दिष्ट नही किया। बल्कि, उन्होने यह भी नही कहा कि तुम मेरी उपासना करना, मेरी मूर्ति बनाना और मेरे लिये मदिर खड़ा करना। यह सब मदिर-मूर्तिका निर्माण और उपासनाके लिये तरह तरहके विधि-विधानोका अनुष्ठान स्वय भक्तजनो—श्रावकोंके द्वारा अपनी अपनी भक्ति तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित किया गया है, और जो समय पाकर रूढ होता गया, जैसा कि श्रीमत्पात्रकेसरी स्वामीके निम्न वाक्यसे ध्वनित है—

विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रियाः बहुविधा सुभृन्मरण-पीडना-हेतवः।

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः[1] ॥
– पात्रकेसरिस्तोत्र

और इसलिये उपासनाके जो विधिविधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमे भी प्रचलित थे ऐसा नही कहा जा सकता। उनमे देश-कालानुसार बराबर परिवर्तन होता रहा है। आज भी सपूर्ण देशोमे और सपूर्ण सम्प्रदायोमे एक ही प्रकारकी उपासना-विधि नही पाई जाती। जैनियोमे तेरह और बीसपथका भेद बहुत ही स्पष्ट है और वह बहुत कुछ आधुनिक है। एक समय था जब कि जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोसे हटाकर उन्हे अपने पूज्यके प्रति. स्तुति-पाठ करने और अंजलि जोडने आदि रूपमें, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे; जैसा कि श्रीअमितगति आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनै.॥ (उपासकाचार)

इसके बाद वह समय भी आया जब कि देशमे नैवेद्य, दीप, धूप और फल-पुष्पादिकके द्वारा देवताओकी पूजाने ज़ोर पकड़ा और वही द्रव्यपूजा कहलाई जाने लगी। हिन्दू देवताओंके सदृश जिनेंद्र-देवोंका भी आवाहन और विसर्जनादिक होने लगा और (जैनसि-

---

१. इसमे बतलाया है कि 'विमोक्ष-सुखके लिये चैत्य-चैत्यालयादिकका निर्माण, दानका देना, पूजनका करना, इत्यादि रूपसे जितनी क्रियाएँ हैं और जो अनेक प्रकारसे त्रस-स्थावर प्राणियोके मरण तथा पीडनकी कारणीभूत हैं उन सब क्रियाओका हे केवलज्ञानी भगवान! आपने उपदेश नही दिया, बल्कि आपके भक्तजन श्रावकोने स्वय ही (आपकी भक्ति आदिके वश) उनका अनुष्ठान किया है।'

द्धातोंके प्रतिकूल भी) यह समझा जाने लगा कि वे भी बुलानेसे आते, बिठलानेसे बैठते, ठहरानेसे ठहरते और पूजनके बाद रुखसत करने पर अपना यज्ञ-भाग लेकर चले जाते है,जैसा कि पूजनके अत्र अवतर अवतर तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ' इत्यादि पाठो और विसर्जनके निम्न पाठसे प्रगट है—

[1]आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रम।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथा स्थितिम् ॥

ऊपरकी यह बात जैनसिद्धान्तोंके अनुकूल न होते हुए भी समाजमे प्रचलित हो गई और किसी प्रकारसे उपासनाका एक अग बन गई। अस्तु, अब मदिरोको लीजिये। मदिरोके निर्माण करनेमे मूर्तिकी रक्षा आदिके सिवाय 'लोकसग्रह' का गहरा तत्व छिपा हुआ था, जिसे बादको लोगोने भुला दिया और अपनी अपनी मान-कषाय, नामवरीकी इच्छा या कुछ सुभीते आदिके खयालसे विना जरूरत भी एक स्थानपर बहुतसे मदिरोके निर्माण-द्वारा सघशक्तिको बाँटकर—उसके टुकडे टुकड़े करके—उक्त तत्त्वकी उपयोगिताको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसी तरह मदिरोमे छोटी छोटी मूर्तियोकी समूह-वृद्धिने उपासकोके हृदयमे यह खलबली उत्पन्न कर दी कि वे कितने समयमे किस किस मूर्तिकी उपासना करे, किसका ध्यान लगावे और किस परसे परमात्माका चिन्तन करे। अत. ऐसे स्थानो पर दो एक शब्दोको बुडबुड़ाने और आगे सरकनेका ही काम रह गया, मूर्ति परसे परमात्माके ध्यान और चिन्तनकी बात प्राय जाती रही। साथ

---

१ इस पद्यमे विसर्जन करते हुए कहा गया है कि 'जिन जिन देवो-को मैंने पहले बुलाया है वे सब भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा पूजे जाने पर अब अपने अपने यज्ञ-भागको लेकर क्रमसे अपने अपने स्थान जाओ'।

यह पद्य भी जैनेतर-हिन्दू-पूजापद्धतिका पद्य है, जो किसी तरह अपनी पूजापद्धतिमे शामिल होगया है।

ही मूर्तियोकी माँग बढनेसे उनकी निर्माण-विधिमे शिथिलता आगई। पहले मूर्ति बनानेवाला और बनवानेवाला दोनों मूर्तिके तैयार होने तक जिस यम-नियमादिके साथ रहते थे और जिस विधिविधानके साथ पाषाणको उसकी खानसे जाकर लाते थे वह सब बात उठ गई, शिल्पियोकी दुकाने खुल गई जिनमे हर समय मूर्तियाँ तैयार मिलने लगी और लोभी प्रतिष्ठाचार्य कुछ दक्षिणा लेकर या वैसे ही अपने अज्ञानादि भावोसे प्रेरित होकर उन्हे पास करने लगे। नतीजा जिसका यह हुआ कि उपासनामे वह भाव नही रहा जो होना चाहिये था और कितने ही स्थानोपर ऐसी बेडौल, भद्दी तथा अशास्त्रसम्मत मूर्तियाँ भी पाई जाने लगी जिन्हे देखकर ध्यान जमनेके बजाय उलटा उखड जाता है।

जैनियोके मंदिर, पहले आमतौर पर, बहुत कुछ सादा और आडम्बररहित होते थे और उनमें उपासनाके उद्देश्योकी सहायक तथा साम्य-भावकी पोषक सामग्री ही विशेष रहा करती थी। परंतु जब देशके दूसरे समाजोके मदिरोमे आडम्बरोकी वृद्धि हुई, शान-शौकत अथवा राजसी ठाठ-बाटोने अपना रग जमाया, उनमे अनेक प्रकारके रास, नाटक, खेल, तमाशे होने लगे और उन्हे देखनेके लिये जैनी भी खिच-खिच कर वहाँ जाने लगे, तब जैनियोंके मदिरोका भी नकशा बदल गया, उनमे भी गाने बजाने और नाचनेका सामान जोडा गया, आपसमें एक दूसरेसे मुकाबला होने लगा और प्रतिस्पर्धा बढ गई। साथमे, कुछ अदूरदृष्टता भी शामिल हो गई। नतीजा इस सबका यह हुआ कि उपासनाका भाव दिन पर दिन कम होता गया, कोरी नुमायश, लोक-दिखावा और रूढिका पालन रह गया और उसने बीतराग भगवानकी उपासनाके लिये भी नौकरोकी ज़रूरत उपस्थित करदी !! मंदिरोकी सजावट उस वक्तसे आज तक इतनी बढ गई है कि उसके कारण दर्शकोका मन मूर्तिके वीतराग-भावको ग्रहण करनेकी ओर बहुत ही कम प्रवृत्त होता है, उसे अवसर ही

नही मिलता, वह इधर उधरके सुनहरे कामो और रागवर्धक चित्रो-में ही उलझा रहता है।

पूजन-साहित्यका भी ऐसा ही हाल है। वह भी इसी चक्करमे पडकर बहुत कुछ बदल गया है। पुराने ग्रन्थ इस विषयमें आजकल बहुत ही कम उपलब्ध है और जो मिलते हैं उनके और आधुनिक पूजा-ग्रन्थोके भावोमे बहुत बडा अन्तर है। प्राचीन भक्ति-पाठोका प्रचार भी अब बहुत ही कम देखनेमे आता है। आजकल वे ही पूजा-पुस्तक ज्यादा पसंद की जाती हैं जो अपनी छन्द-सृष्टिकी दृष्टिसे गाने-बजानेमे अधिक उपयोगी होती हैं। चाहे उनका साहित्य और उसमें उपासनाका भाव कितना ही घटिया क्यो न हो, लोगोका ध्यान प्राय स्वर, ताल और लयकी ओर ही विशेष रहता है, अर्थविबोधके द्वारा परामात्माके गुणोंमे अनुराग बढ़ानेकी ओर नही। और भी कितनी ही बातें हैं जो स्वतत्र लेखो-द्वारा ही प्रगट की जा सकती है। विज्ञपाठक इतने परसे ही समझ सकते हैं कि हमारी उपासनाका ढग समय-समयकी हवाके झकोरोसे कितना बदल गया है। उसके बदलनेमे कोई हानि न थी, यदि वह उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना रहता। परतु ऐसा नही है, वह कितने ही अशोमे उपासनाके मूल सिद्धान्तो तथा उद्देश्योसे गिर गया है, और इसलिये इस समय उसको सभालने उठाने तथा उद्देश्यानुकूल बनाकर उसमे फिरसे नव-जीवनका सचार करनेकी बड़ी ज़रूरत है। समाजहितैषियोको चाहिए कि वे इस विषयमे अपना मौन भंग करे अपनी लेखनी उठाएँ, जनता-को उपासना-तत्त्वका अच्छा बोध कराते हुए उसकी उपासनाविधिके गुण-दोषोको बतलाएँ—सम्यक् आलोचना-द्वारा उन्हे अच्छी तरहसे व्यक्त और स्पष्ट करे—और इस तरह उपासनाके वर्तमान ढगमे समुचित सुधारको प्रतिष्ठित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होनेपर समाजके उत्थानमें बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी।

१६

देशकी वर्त्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य

(अंग्रेजी राज्यकालसे सम्बद्ध)

आजकल देशकी हालत बहुत ही नाजुक हो रही है। वह चारो ओर अनेक प्रकारकी आपत्तियोसे घिरा हुआ है। जिधर देखो उधर-से ही बड़े बड़े नेताओ और राष्ट्रके सच्चे शुभचिन्तकोकी गिरफ्तारी तथा जेल-यात्राके समाचार आ रहे हैं। एक विकट सग्राम उपस्थित है। सरकार (नौकरशाही) पूरे तौरसे दमन पर उतर आई है और लक्षणोसे ऐसा पाया जाता है कि वह भारतीयोकी इस बढ़ती हुई महत्वाकाक्षा (स्वराज्यप्राप्तिकी इच्छा) को दबाने और उनके संपूर्ण न्याय्य विचारोको कुचल डालनेके लिये सब प्रकारके अत्याचारोको करने कराने पर तुली हुई है। वह देशके इस महाव्रत (अहिंसा-शाति) को भंग कराकर उसे और भी ज्यादा पददलित करना और गुलामीकी जजीरोसे जकडना चाहती है और इसके लिये बुरी तरह-से उन्मत्त जान पड़ती है। इस समय सरकारका असली 'नग्न' रूप बहुत कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगा है और यह मालूम होने लगा है कि वह भारतकी कहाँ तक भलाई चाहनेवाली है। जो लोग पहले ऊपरके मायामय रूपको देखकर या बुरकेके भीतर रूपराशिकी कल्पना करके ही उस पर मोहित थे, वे भी अब पर्दा (नकाब) उठ जाने तथा आच्छादनोके दूर हो जानेसे नग्न रूपके दर्शन करके,

अपनी भूलको समझने लगे हैं. और यह देशके लिये बड़ा ही शुभ चिन्ह है।

यह देशकी अग्नि-परीक्षाका अथवा उससे भी अधिक किसी दूसरी कठिन परीक्षाका समय है। और इसी अन्तिम परीक्षा पर भारतका भविष्य निर्भर है। यदि हम इस परीक्षामे उत्तीर्ण हो गये—सब कुछ कष्ट सहन करके भी हमने शाति बनाये रक्खी और किसी प्रकारका कोई उपद्रव या उत्पात न किया तो स्वराज्य फिर हाथमे ही समझिये, उसके लिये एक कदम भी आगे बढानेकी जरूरत न होगी। और यदि दुर्भाग्यसे हम इस परीक्षामे पास न हो सके—हमने हिम्मत हार दी–तो फिर हमारी वह दुर्गति बनेगी और हमारे साथ वह बुरा सलूक किया जायगा कि जिसकी कल्पना मात्रसे शरीरके रोगटे खडे हो जाते हैं। उस समय हम गुलामोसे भी बदतर गुलाम ही नही होगे बल्कि 'जिन्दा दरगोर'[1] होगे और पशुओसे भी बुरा जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य किये जायँगे। और इस आपत्तिके स्थायी पहाडका सपूर्ण बोझ उन लोगोकी गर्दन पर होगा और वे देशके द्रोही समझे जायँगे जो इस समय देशका साथ न देकर ऐसी परिस्थितिको लानेमे किसी न किसी प्रकारसे सहायक बनेंगे।

देशकी किश्ती (नौका) इस समय भँवरमे फँसी हुई है और पार होनेके लिये सयुक्त बलके सिर्फ एक ही धक्केकी प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी हालतमे वह भँवरमे क्यो फँसी, गहरे जलमे क्यो उतारी गई और क्यो भँवरकी ओर खेई गई, इस प्रकारके तर्क-वितर्कका या किसीके शिकवे-शिकायत सुननेका अवसर नही है। पार होनेके लिये उसे गहरे जलमे उतरना ही था, दूसरा मार्ग न होनेसे भँवरकी ओर उसका खेया जाना अनिवार्य था और इसलिये भँवरमे फँसना भी उसका अवश्यम्भावी था, यही सब सोच समझकर अब हमे अपने

---

१. जीते ही कब्रमे दफन जैसी अवस्थामे

संयुक्त बलके द्वारा उसे भँवरसे निकाल कर पार लगाना चाहिए। और इसलिये प्रत्येक भारतवासीका इस समय यह मुख्य कर्तव्य है कि वह देशकी वर्त्तमान परिस्थितिको समझकर उससे देशको उबारने और ऊँचा उठानेका जी-जानसे यत्न करे। उसे अपने क्षणिक सुखोपर लात मारकर भारतमाताकी सेवामे लग जाना चाहिए और माताको पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करानेके लिए उस महामंत्रका आराधन करना चाहिए जिसे महात्मा गाधीजीने अपने दिव्य-ज्ञानके द्वारा मालूम करके एक अमोघ शस्त्रके रूपमें प्रगट किया है और जिसे भारतकी जातीय महासभा (काग्रेस) ने अपनाया ही नही बल्कि भारतके उद्धारका एकमात्र उपाय स्वीकृत किया है। और वह महामंत्र है 'असहयोग'।

हम अनेक तरीको अथवा मार्गोंसे सरकारको उसके शासन-कार्यमें जो मदद पहुँचा रहे है, उस मददसे हाथ खीच लेना और उसे बद कर देना ही 'असहयोग' है। और यह ऐसा गुरुमंत्र है कि इस पर पूरे तौरसे अमल होते ही कोई भी अन्यायी सरकार एक दिनके लिये भी नही टिक सकती। प्रजाहित-विरोधी सरकारको ठीक मार्गपर लानेके लिये इससे अच्छा दूसरा उपाय नही हो सकता। परन्तु इस पर अमल करनेवालोको स्वयं अहिंसक, अत्याचार-रहित, निष्पाप और प्रेमकी मूर्ति बन जाना होगा, तभी उन्हे सफलता मिल सकेगी। यह नही हो सकता कि हम स्वय तो अन्याय, अत्याचार और पापकी मूर्ति बने रहें और दूसरोके इन दोषोंको छुड़ानेका दावा करे। यदि हम खुद दूसरोंपर अन्याय और अत्याचार करते हैं तो हमे इस बातकी शिकायत करनेका कोई अधिकार नही है कि हमारे ऊपर क्यों अन्याय और अत्याचार किये जाते है। यदि हमारा आत्मा स्वय पापोंसे मलिन है तो हम दूसरोके पाप-मलको दूर करानेके पात्र नही हो सकते। इसीसे असहयोगका यह सग्राम आत्मशुद्धिका एक यज्ञ माना गया है, जिसमे हमे अपने उन सपूर्ण दोषो, त्रुटियो और कमजोरियोकी आहुतियाँ देनी होगी जिनसे लाभ उठाकर ही सरकार

हम पर शासन कर रही है और हमें काठकी पुतलियोंकी तरहसे नचा रही है। और यही वजह है कि कांग्रेसने इस महामन्त्रकी साधनाके लिये, साधनोपायके तौरपर, चार मुख्य शर्तें रक्खी हैं, जिन्हे चार प्रकारके व्रत अथवा तप कहना चाहिए और जिनका पालन करना प्रत्येक असहयोगी तथा देशप्रेमीका प्रथम कर्तव्य है। वे चार शर्तें है १ अहिंसा-शांति, २ स्वदेशी, ३ हिन्दू-मुसलिम-एकता और ४ अछूतोद्धार। इनमे भी अहिंसा तथा शांति सबसे प्रधान है और वही इस समय खसूसियतके साथ कसौटी पर चढ़ी हुई है।

हमे कसौटीपर सच्चा उतरने और वर्तमान परीक्षामे पास होनेके लिये इस वक्त देशके सर्वप्रधान नेता महात्मा गाधीकी उन उदार और महत्वपूर्ण शिक्षाओंपर पूरी तौरसे ध्यान देनेकी खास जरूरत है जो बराबर उनके पत्रो-यग इडिया, नवजीवन और हिन्दी नवजीवनमे प्रकाशित हो रही है। हमारा इस समय यही खास एक व्रत हो जाना चाहिए कि हम जैसे भी बनेगा, सब कुछ सहन करके शातिकी रक्षा करेंगे, सरकारकी ओरसे शांति भग करानेकी चाहे जितनी भी उत्तेजना क्यो न दी जाय और चेष्टाएँ क्यो न की जायँ, परन्तु हम शातिको जरा भी भँग न होने देंगे—अपनी तरफसे कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे जिसका लाजिमी नतीजा शाति-भँग होता हो—और बराबर अपने निर्दिष्ट मार्गमे आगेकी ओर कदम बढाते हुए अमन कायम रक्खेंगे। इसीमे सफलताका सारा रहस्य छिपा हुआ है।

सकटकी जो घटाएँ इस समय देश पर छाई हुई है वे सब क्षणिक है और हमारी जाँचके लिये ही एकत्र हुई जान पडती है। उनसे हमे जरा भी घबराना और विचलित होना नही चाहिए। मन्त्रो तथा विद्याओंके सिद्ध करनेमे उपसर्ग आते ही है। जो लोग उन्हे धैर्य और शातिके साथ झेल लेते हैं वे ही सिद्धि-सुखका अनुभव करते हैं। असहयोग-मंत्र और स्वराज्य-निधिकी सिद्धिके लिये हमे भी कुछ उपसर्गों तथा सकटोंको धैर्य और शातिके साथ सहन करना होगा,

तभी हम स्वराज्य-सिद्धिके द्वारा होनेवाले अगणित लाभोसे अपनेको भूषित कर सकेंगे। बिना कष्ट-सहनके कभी कोई सिद्धि नहीं होती।

सरकारको पहले असहयोगकी साधनामे विश्वास नही था। वह उसकी चर्चाको महज एक प्रकारकी बकवाद और बच्चोकासा खेल समझती थी। परतु अबतक इस दिशामे जो कुछ काम हुआ है, उससे जान पडता है कि सरकारका आसन डोल गया है और वह उसे थामनेके लिये अब बिल्कुल ही आपेसे बाहर हो गई है। उसने इस बातको भुला दिया है कि प्रजा पर ही राज्यका सारा दारोमदार (आधार) है। प्रजाको असतुष्ट रखकर उसपर शासन नही किया जा सकता और न डरा-धमकाकर किसीको सत्यकी सेवासे बाज रक्खा जा सकता है। उसकी हालत बहुत ही घबराई[1] हुई पाई जाती है और ऐसा मालूम होता है कि वह इस समय 'मरता क्या न करता' की नीतिका अनुसरण कर रही है। यही वजह है कि उसने अपनी इस घबराहटकी हालतमे मनमाने कानून बनाकर, कानूनोका मनमाना अर्थ लगाकर और मनमानी आज्ञाएँ जारी करके, देशके प्रायः सभी सेवको, शुभचिन्तको, सहायको और बडे बडे पूज्य नेताओ तकको बडी तेजीके साथ गिरफ्तार करना और मनमानी सजा देकर जेलमे भेज देना प्रारभ कर दिया है। इस कार्रवाईसे सरकारकी बड़ी ही कमजोरी पाई जाती है और इससे उसने अपनी रही सही श्रद्धाको भी प्रजाके हृदयोसे चलायमान कर दिया है। शायद सरकारने यह समझा था और अब भी समझ रक्खा है कि इस प्रकारकी पकड़-धकड़के द्वारा वह प्रजाको भयकम्पित बनाकर और उसपर अपना अनुचित रौब जमाकर उसे अपने पथसे भ्रष्ट कर देगी, और इस तरहपर देशमें स्वराज्य तथा स्वाधीनताकी जो आग सुलग

---

१ लार्ड रीडिंगने स्वय अपनी घबराहटको स्वीकार किया है। देखो, 'वन्देमातरम्' ता० १६-१२-१९२१

रही है वह या तो एकदम बुझ जायगी और या जनता उत्तेजित होकर अशांति धारण करेगी, कुछ उपद्रव तथा उत्पात मचावेगी और तब उसे पशु-बलके द्वारा कुचल डाला जायगा। परन्तु परिणाम इन दोनोमेसे एक भी निकलता हुआ मालूम नही होता। सरकारके निष्ठुर व्यवहार और निरपराधियोकी इस पकड़-धकड़ने उन लोगोके वज्र-हृदयको भी द्रवीभूत कर दिया है और वे भी सरकारकी इस घातक पालिसीकी निन्दा करने लगे है, जो अभी तक इस आन्दोलनमे शरीक नही थे और बिल्कुल ही तटस्थ रहते थे अथवा सरकारके सहायक बने हुए थे। स्वराज्यकी आग बुझने अथवा दबनेके बजाए (स्थानमे) और अधिकाधिक प्रज्वलित हो रही है और सरकारके इस दमनने उस पर मिट्टीका तेल छिड़कनेका काम किया हे। लोगोका उत्साह बराबर बढ़ रहा है और वे स्वराज्य-सेनामे भरती होकर खुशी खुशी हजारोकी सख्यामे झुडके झुड जेल जा रहे है और ऐसी जेल-यात्राको अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं, जो देशके उद्धार और उसे गुलामीसे छुडानेके उद्देश्यसे कीजाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अशातिका कही पता नही। ला० लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, मौ० अबुलकलाम आज़ाद और देशबन्धु सी० आर० दास जैसे बड़े-बड़े नेताओ तथा कुछ प्रतिष्ठित महिलाओके पकड़े जाने और जेल भेजे जानेपर भी लोग शात रहे। लार्ड रीडिंगने, शातिके इस यज्ञके समय, तलवारसे स्वराज्य मिलना बतलाया! और इस तरह पर, प्रकारातरसे हिंसाको उत्तेजना दी। परन्तु फिर भी किसीने तलवार उठाकर हिंसा करना नही चाहा और न शातिको भग करना पसद किया। यह सब, अधिकाशमे महात्मा गाधीजीके उस महान् उपवासका फल है जो उन्होने बम्बईकी अशातिके समय धारण किया था। इस उपवासने देशवासियोके हृदयमे शाति और अहिंसाकी उस ज्योतिको, जो पहले कुछ दुर्बल और कम्पित अवस्थामे थी, बहुत कुछ दृढ और बलाढ्य बना दिया है। [ऐसी हालतमे यदि यह कहा

जाय कि सरकारने, इस कृत्यके द्वारा, अपने पैरमे आप ही कुल्हाडी मारी है, तो शायद कुछ अनुचित न होगा। यह इस अनुचित दमन-का अथवा इन बेजा और बेमौका सख्तियोका ही नतीजा है जो भारतमें प्रिन्स आफ वेल्सका उतना भी स्वागत नही हो रहा है जो कि दूसरी हालतमे जरूर होता। उच्चाधिकारियोने शायद यह सोचा था कि बडे बडे लीडरोको जेलमे भेज देनेसे हम जनताके द्वारा शाहजादे साहबका अच्छा स्वागत करा सकेंगे। परन्तु मामला उस-से बिल्कुल उलटा निकला और वे पहली खट्टी छाछसे भी गये।

हमारी रायमे यदि सरकार सचमुच ही भारतका हित चाहने-वाली है, तो उसका यह कार्य बहुत ही अदूरदर्शिता और नासमझी-का हुआ है। इस समय सरकार अधिकार-मदसे उन्मत्त है। वह किसीकी कुछ सुनती नही और न स्वय उसे कुछ सूझ पड़ता है। तो भी प्रजाकी ओरसे बराबर शाति-जल छिडका जानेपर जब उस-का नशा उतरकर उसे होश आवेगा तो वह जरूर अपनी भूल मालूम करेगी और उसे अपनी वर्त्तमान कृति (कर्तूत) पर घोर पश्चा-त्ताप होगा।

परन्तु सरकारके इस चक्करमे पडकर कही हमे भी भूल न कर बैठना चाहिए। हमे समझना चाहिए कि जिसका आसन डोलता है, वह उसके थामनेकी सभी कुछ चेष्टाएँ किया करता है। घबराया हुआ मनुष्य क्या कुछ नही कर बैठता ? और यही सब सोच समझ कर हमे अपने कर्तव्यके पालनमे बहुत ही सतर्क और सावधान रहने की जरूरत है। ऐसा न हो कि सरकारके किसी घृणितसे घृणित कार्य पर उत्तेजित होकर, कष्टोको सहन करनेमे कायर बनकर और इष्ट-मित्रादिकोके वियोगमे पागल होकर, हम अशाति कर बैठे और हिंसा पर उतर आवे। यदि ऐसा हुआ तो सर्वनाश हो जायगा। सारी करी कराई पर पानी फिर जायगा और सरकारका काम बन जायगा, क्योकि सरकार इस आन्दोलनको बन्द करके हमारे चुप

न बैठनेकी हालतमे, ऐसा चाहती ही है और इसीमे अपना कल्याण समझती है। परंतु हमारे लिये यह बिल्कुल ही अकल्याणकी बात होगी। हम पशुबलके द्वारा सरकारको जीत नही सकते—इस विषयके साधन उसके पास हमसे वहुत ही ज्यादा है—औरन इस प्रकारकी जीत हमे इष्ट ही है, क्योंकि वास्तवमे ऐसी जीत कोई जीत नही हो सकती। उसमे हृदयका काँटा बराबर वना रहता है। हाँ, आत्मवलके द्वारा हम उसपर जरूर विजय पा सकते है, और यही सच्ची तथा स्थायी जीत होगी। सरकार यदि पशुबलका प्रयोग करती है तो उसे करने दीजिए । हमारी नीति उसके साथ 'शठ प्रति शाठ्य' की न होनी चाहिए—हमे पशुबलका उत्त र आत्मबलके द्वारा सहनशीलतामे देना होगा और इसीमे हमारी विजय है। हमे क्रोधको क्षमासे, अन्यायको न्यायसे, अशातिको शातिसे और द्वेषको प्रेमसे जीतना चाहिए,तभी स्वराज्य-रसायन सिद्ध हो सकेगी। हमारा यह स्वतन्त्रताका युद्ध एक धार्मिक युद्ध है और वह किसी खास व्यक्ति अथवा जातिके साथ नही बल्कि उस शासन-पद्धतिके साथ है जिसे हम अपने लिये घातक और अपमान-मूलक समझते है। हम इस शासन-पद्धतिको उलट देना अथवा उसमे उचित सुधार करना जरूर चाहते हैं,परतु ऐसा करनेमे किसी जाति अथवा शासन-विभागके किसी व्यक्तिसे घृणा (नफरत) करना या उसके साथ द्वेष रखना हमारा काम नही है । हमे बुरे कामोसे जरूर नफरत होनी चाहिए परतु बुरे कामोके करनेवालोसे नही। उन्हे तो प्रेमपूर्वक हमे सन्मार्ग पर लाना है। नफरत करनेसे वह बात नही बन सकेगी।

यदि हम किसी व्यक्तिको प्रेमके साथ समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर नही ला सकते हैं तो समझना चाहिए कि इसमे हमारा ही कुछ खोट है, अभी हम अयोग्य है, और इसलिये हमे अपने उस खोट तथा अयोग्यताको मालूम करके उसके दूर करनेका सबसे पहले यत्न करना चाहिए। उसके दूर होते ही आप देखेगे कि वह कैसे सन्मार्ग

पर नही आता है । जरूर आवेगा। सच्चे भावो, सच्चे हृदयसे निकले हुए वचनों और सच्चे आचरणोंका असर हुए बिना नही रह सकता । इसी बातको दूसरे शब्दोंमे यों समझना चाहिए कि यदि हम देखते हैं कि हमारा एक भाई विदेशी कपड़ा पहनना और विदेशी कपडोका व्यापार करना नही छोडता—उस पर आग्रह रखता है–अथवा सरकारको उसके अन्याय और अत्याचारोंमें किसी न किसी तौरपर (सेवामें रहकर या दूसरे तरीकोसे) मदद दे रहा है तो, हमे उसको एक प्रकारसे पतित अथवा अनभिज्ञ समझना चाहिए—मार्ग भूला हुआ मानना चाहिए—और उसके उद्धारके लिये, उसे यथार्थ वस्तुस्थितिका ज्ञान कराने और ठीक मार्गपर लानेके वास्ते हर एक 'जायज (समुचित) तरीकेसे समझानेका यत्न करना चाहिए। और जब तक वह न समझे तब तक अपने भावो और आचरणोंमें त्रुटि समझकर—अपने ज्ञानको उस कामके लिये अपर्याप्त मानकर—आत्मशुद्धि और स्वज्ञान-वृद्धि आदिके द्वारा अपनी त्रुटियोको दूर करते हुए बराबर उसको प्रेमके साथ समझाने और उसपर अपना असर डालनेकी कोशिश करते रहना चाहिए। एक दिन आवेगा जब वह जरूर समझ जायगा और सन्मार्गको ग्रहण करेगा। चुनाँचे ऐसा बराबर देखनेमे आ रहा है । जो भाई पहले विदेशी कपडेको नही छोडते थे वे आज खुशी-खुशी उसका त्याग कर रहे हैं।

परंतु जो लोग अपनी बात न माननेवाले भाइयो पर कुपित होते है , नाराजगी जाहिर करते है, उन्हे कठोर शब्द कहते है, धमकी देते है, उनके साथ बुरा सलूक करते है, उनका मजाक उडाते हैं, अपमान करते है,बायकाट करके अथवा धरना देकर उन पर अनुचित दबाव डालते है, अनेक प्रकारकी जबरदस्ती और जब्रसे काम लेते है, और इस तरह दूसरोंकी स्वतंत्रताको हरण करके उन्हे उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करने या न करनेके लिये मजबूर करते

है, वे सख्त गलतीमे है और बहुत बडी भूल करते हैं। उनका यह सब व्यवहार (तर्ज-तरीका) स्वतन्त्रताके इस सग्रामकी नीतिके बिल्कुल विरुद्ध है और हिसाके रगमे रगा हुआ है। जान पडता है ऐसे लोगोने स्वतन्त्रताके इस धर्म-युद्धका रहस्य नही समझा । वे अभी क्रोधादिक अन्तरग-शत्रुओसे पीडित है, उन्होने अपने कषायोको (जजबातको) दमन नही किया, अपनी कमजोरियो पर काबू नही पाया, और इसलिये उन्हे निर्बल समझना चाहिए। ऐसे निर्बल और गुमराह (मार्ग भूले हुए) सैनिकोंसे स्वतन्त्रताका यह मैदान नही लिया जा सकता। ऐसे लोग बहुधा कार्य-सिद्धिमे उलटे विघ्नस्वरूप हो जाते हैं। बम्बईका हगामा (दगा) और मोपलोका उपद्रव ऐसे ही लोगोकी कर्तूतोके फल है। इसलिये यदि हम स्वराज्य चाहते है तो हमे अपनी और अपने भाइयोकी इन त्रुटियो और कमजोरियोको भी दूर करना चाहिए। इनके दूर हुए बिना हम बलवान नही हो सकते, न साधारण जनताकी सहानुभूतिको अपनी ओर खीच सकते हैं और न आगे ही बढ़ सकते है।

हमारा मुख्य कर्तव्य इस समय यही होना चाहिए कि हम विश्वप्रेमको अपनाएँ, उसे अपना मूल-मत्र बनाएँ, सर्वत्र प्रेमकी ज्योति जगाएँ, जो कुछ काम करे उसमे ढोग या पक्षपात न हो और जो काम दूसरोसे कराएँ वह भी उसी प्रेमके आधार पर कराएँ—उसमे जरा भी जब्र, सख्ती या जबरदस्तीका नाम न हो। साथ ही, हमे स्वराज्यकी नीतिको, स्वराज्यसे होनेवाले लाभोको, वर्तमान असहयोग आन्दोलनके असली मंशा व मानी (आशय तथा अर्थ) को और अहिंसाके गहरे तत्त्वको बहुत खुले शब्दोमे समझाकर साधारण जनता पर प्रगट करना चाहिए, जिससे कोई भी शख्स किसी प्रकारके धोखेमे न रह सके । और अपने आचार-व्यवहारके द्वारा हमे पवलिकको इस बातका पूरा विश्वास दिलाना चाहिए कि उनकी वजहसे कोई भी भारतवासी—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान'

अगरेज, पारसी, ईसाई और यहूदी आदि कोई भी क्यो न हो—अपने जानमालको जरा भी खतरे (जोखो) मे न समझे। हमे गुंडों बदमाशो तथा उपद्रवी लोगोसे नफरत करके उन्हे बिल्कुल ही स्वतत्र न छोड देना चाहिए, बल्कि उनसे मिलकर उन्हे सेवा-सुश्रूषा और सद्व्यवहारादिकके द्वारा अपने बनाकर काबूमे रखना चाहिए। और अपने असरसे उनके दुष्कर्मो तथा बुरी आदतोको छुडा कर शाति-स्थापनके कार्यको और भी ज्यादा दृढ बनाना चाहिए, प्रत्येक नगर और ग्राममे ऐसा सुप्रबध करना चाहिए जिससे कही कोई चोरी, डकैती अथवा लूटमार न हो सके, कोई बलवान किसी निर्बल-को न सता सके, आपसके झगड़े-टटे सब पचायतो द्वारा तै (फैसल) हुआ करे, सबका जान-माल सुरक्षित रहे और इस तरह पर लोगो-को स्वराज्यके आनंदका कुछ अनुभव होने लगे और वे यह समझने लगें कि, सरकारकी सहायताके बिना भी हम अपनी रक्षा आदिका प्रबध स्वय कर सकते है और उससे अच्छा कर सकते हैं।

लोकमतके इतना शुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ होनेपर स्वतत्रता-देवी अवश्य ही भारतके गलेमे वरमाला डालेगी,इसमे जरा भी सदेह नहीं है। अत हम सबको मिलकर सच्चे हृदयसे इसके लिये प्रयत्न करना चाहिए। इस समय आपसके झगडे टटो, मतभेदो और धार्मिक-विस-वादोका अवसर नही है। उन्हे भुलाकर प्रत्येक भारतवासीको देशके मामलेमे एक हो जाना चाहिए और देशके उद्धार-विषयक कामोमे यथाशक्ति भाग लेना चाहिए। जो लोग अपनी किसी कमज़ोरीकी वजहसे ऐसे कामोमे कुछ हिस्सा नही ले सकते और न अपनी कोई ख़ास सेवा देशको अर्पण कर सकते है, उन्हे कमसे कम इस ओर अपनी सहानुभूति ही रखनी चाहिए और बिगाडका तो ऐसा कोई भी काम उनकी तरफ़से न होना चाहिए जिससे देशके चलते हुए काममे रोड़ा अटक जाय। यदि उनका कोई इष्ट-मित्रादिक अथवा देशका प्यारा नेता देशके लिये, बिना कोई अपराध किये, जेल जाता

है तो उसे खुशीसे जाने दिया जाय। हाँ, यदि वे उससे सच्चा प्रेम रखते है तो उसके उस शुभ कामको सभाले और खुद उसको करना प्रारभ करे, जिसको करते हुए वह महामना जेल गया है। और यदि करनेके लिये असमर्थ हैं तो कृपया उसके नाम पर हुल्लड मचाकर अथवा दगा फिसाद करके व्यर्थ ही ससारकी शातिको भंग न करे। उनकी इतनी भी सेवा स्वराज्य-प्राप्तिके इस महायज्ञके लिये काफी होगी।

हालके समाचारोसे हमे यह मालूम करके बहुत ही आनद होता है कि देशने इस वक्त, जब कि गिरफ्तारियो और जेल-यात्राओका समुद्र चारो ओरसे बेहद मौजे मारता हुआ उमड़ रहा है, बहुत ही धैर्य और शाँतिसे काम लेकर अपनी साबितकदमीका परिचय दिया है। और यह उसके लिये बहुत बड़े गौरवकी बात है और उसकी कामयाबीका एक अच्छा खासा सबूत है। यदि हमारे भाई कुछ दिनो तक और इसी तरह शातिके साथ कष्टोको सहन करते हुए निर्भय होकर अपने कार्यक्रमको बराबर आगे बढाते रहे तो सरकार-को नि सन्देह देशके सामने शीघ्र ही नतमस्तक होना पडेगा। प्यारे वीरो! और भारत-माताके सच्चे सपूतो!! घबराने की कोई बात नही है। महात्मा गाँधी जैसे सातिशय योगीका हाथ आपके सिर पर है। हिम्मत न हारना, कदम बराबर आगेको बढ़ता रहे, समझ लो 'यह शरीर नश्वर है, हमारी इच्छासे यह हमें प्राप्त नही हुआ और न हमारे रक्खे रह सकेगा। कुटुम्ब, परिवार और धनादिककी भी ऐसीही हालत है,उनका सयोग हमारी इच्छानुसार बना नही रहेगा। इसलिये इन सबके मोहमे पड कर आपको अपने कर्तव्यसे ज़रा भी विचलित न होना चाहिए। इस समय स्वराज्यका योग आ रहा है, स्वतन्त्रतादेवी वरमाला हाथम लिये हुए खडी है, सिर्फ आपकी कुछ कठिन परीक्षा और बाकी है, उसके पूरा उतरते ही भारतके गलेमे वरमाला पड़ जायगी। आशा है, आप सब इस परीक्षाम जरूर पूरे उतरेंगे और अब भारतको पूर्ण स्वाधीन बनाकर ही छोडेगे। इसीमे सब कुछ श्रेय और इसीमें देशका सारा कल्याण है।

१७

अपमान या अत्याचार ?

कल शुक्रवारको, कोई पहर रात गये खुली छतके मध्यमे शय्या पर लेटा हुआ, मैं स्त्रियोकी पराधीनता और उनके साथ पुरुषजाति-ने जो अब तक सलूक किया है उसका गहरा विचार कर रहा था। एकाएक शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनके झोकोने मुझे निद्रादेवीकी गोद-मे पहुँचा दिया और इस तरह मेरा वह सूक्ष्म विचारचक्र कुछ देरके लिये बद हो गया ।

निद्रादेवीके आश्रयमे पहुँचते ही अच्छे अच्छे सुन्दर और सु-मनोहर स्वप्नोने मुझे आ घेरा। उस स्वप्नावस्थामे मै क्या देखता हूँ कि, एक प्रौढा स्त्री, जिसके चेहरेसे तेज छिटक रहा है और जो अपने रग-रूप, वेष-भूषा तथा बोल-चालसे यह प्रकट कर रही है कि वह 'अखिल भारतीय महिला महासभा' के सभापतिके आसन पर आसीन होकर आ रही है, अपनी कुछ सखियोके साथ मुझसे मिलनेके लिये आई। अभी कुशलप्रश्न भी पूरी तौरसे समाप्त नही हो पाया था कि उस महिलारत्नने एकदम बड़ी ही सतर्क-भाषामे मुझसे यह प्रश्न किया कि आप लोग स्त्रियोंसे घूँघट निकलवाते हो—उन्हे पर्दा करनेके लिये मजबूर करते हो—इसका क्या कारण है ?'

मै इस विलक्षण प्रश्नको सुनकर कुछ चौक उठा और उत्तर

सोचना ही चाहता था कि वह विदुषी स्त्री स्वत' ही बोल उठी—'या तो यह कहिये कि आप लोगोका स्त्रियोपर विश्वास नही है। आप यह समझते है कि स्त्रियाँ पुरुषोको देखकर कामबाणसे विकल हो जाती है, उनके मनमे विकार आजाता है और व्यभिचारकी ओर उनकी प्रवृत्ति होने लगती है। उसीकी रोकथामके लिये यह घूँघटकी प्रथा जारी की गई हे। यदि ऐसा है तो यह स्त्री-जातिका घोर अपमान है। स्त्रियाँ स्वभावसे ही पापभीरु तथा लज्जाशील होती है, उनमें धार्मिक निष्ठा पुरुषोसे प्राय अधिक पाई जाती है। चित्त भी उनका सहज हीमे विकृत होनेवाला नही होता। उन्हे व्यभिचारादि कुमार्गोंकी ओर यदि कोई प्रवृत्त करता है तो वह प्राय पुरुषोकी स्वार्थपूर्ण चेष्टाएँ और उनकी विवेकशून्य क्रियाएँ तथा निरकुश प्रवृत्तियाँ ही है, जिससे किसी भी विचारशील तथा न्यायप्रिय व्यक्तिको इनकार नही हो सकता। और अब तो प्राय सभी विवेकी तथा निष्पक्ष विद्वान इस सत्यको स्वीकार करते जाते हैं। ऐसी हालतमे स्त्रियोपर उपर्युक्त कलकका लगाया जाना बिल्कुल ही निर्मूल प्रतीत होता है। और वह निर्मूलता और भी अधिकताके साथ सुदृढ तथा सुस्पष्ट हो जाती है जबकि भारत और भारतसे बाहरकी उन दक्षिणी गुजराती, पारसी तथा जापानी आदि उच्च जातियोके उदाहरणोको सामने रक्खा जाता है जिनमे घूँघटकी प्रथा नही है और जिनकी स्त्रियोके चरित्र बहुत कुछ उज्ज्वल तथा उदात्त पाये जाते है। आपका भी नित्य ही ऐसी कितनी ही स्त्रियोसे साक्षात्कार होता है और वे खुले मुँह आपको देखती है। बतलाइये, उनमेसे आज तक कितनी स्त्रियाँ आपपर अनुरक्त हुईं और उन्होने आपसे प्रेम-भिक्षाकी याचना की ? उत्तर 'कोई नही' के सिवाय और कुछ भी न होगा। आपने स्वत ही दृष्टिपातके अवसर पर इस बातका अनुभव किया होगा कि उनमे कितना सकोच और कितनी लज्जाशीलता होती हैं। विकारकी रेखा तक उनके चेहरे पर नही आती। पर्दा उनकी अ ...

ही समाया रहता है, जिस पर उन्हे स्वतंत्रताके साथ अधिकार होता है और वे यथेष्ट रीतिसे उक्त अधिकारका प्रयोग करती हैं। उन्हे कृत्रिम पर्देकी—उस बनावटी पर्देकी जिसमे लालसा भरी रहती है और जो चित्तको उद्विग्न तथा शकातुर करनेवाला है-ज़रूरत ही नही रहती। और इसलिये यह कहना कि पुरुषोको देखकर स्त्रियोका मन स्वभाव से ही विकृत होजाता है—वे दुराचारकी ओर प्रवृत्ति करने लगती है-कोरी कल्पना और स्त्रीजातिकी अवहेलनाके सिवाय और कुछ भी नही है। इस प्रकारकी बातोसे स्त्रीजातिके शीलपर नितान्त मिथ्या आरोप होता है और उससे उसके अपमानकी सीमा नही रहती। साथ ही, इस बातकी भी कोई गारटी नही है कि जो स्त्रियाँ पर्देमे रहती हैं वे सभी उज्ज्वल-चरित्रवाली होती हैं, ऐसी बहुतसी स्त्रियोके बड़े ही काले चरित्र पाये गये हैं। अत, घूँघटकी प्रथाको जारी रखनेके लिये उक्त हेतुमे कुछ भी सार अथवा दम नज़र नही आता।'

जरासी देर रुककर और मेरे मुखकी ओर कुछ प्रतीक्षा-दृष्टिसे देखकर वह उदारचरिता फिर बोली—

'यदि आप ऐसा कहना नही चाहते और न उक्त हेतुका प्रयोग करना ही आपको इष्ट मालूम देता है तो क्या फिर आप यह कहना चाहते हैं कि—'पुरुषोका मन स्त्रियोको देखकर द्रवीभूत हो जाता है, पुरुष नवनीतके समान और स्त्रियाँ अगारेके सदृश है—"अगार-सदृशी नारी नवनीतसमा नरा."—अगारोंके समीप जिस प्रकार घी पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्रियोके दर्शनसे पुरुषोका मन चलायमान होजाता है विकृत हो उठता है। उसी मनोविकारको रोकनेके लिये—उसे उत्पन्न होनेका अवसर न देनेके लिये—ही यह घूँघट निकलवाया जाता है अथवा पर्दा कराया जाता है। यदि ऐसा है तो यह स्त्रियोपर घोर अत्याचार है। स्त्रियोको देखकर पुरुषोकी यदि सचमुच ही लार टपक जाती है, उनमे इतना ही नैतिक बल है और वे इतनेही पुरुषार्थके धनी हैं कि अपनी प्रकृतिको स्थिर भी नही रख

सकते तो यह उन्हीका दोष है। उन्हे उसका परिमार्जन अपनेही मुँह पर बुर्का डालकर अथवा घूँघट निकालकर क्यो न करना चाहिये ? यह कहाँका न्याय है कि अपराध तो करे पुरुष और सजा उसकी दी जाय स्त्रियोको ? यह तो 'अधेर नगरी और चौपट राजा' वाली कहावत हुई – एक मोटा अपराधी यदि फाँसीकी रस्सीमे नही आता तो किसी पतले-दुबले निरपराधीको ही फाँसीपर लटका दिया जाय ! कैसा विलक्षण न्याय है !! क्या स्त्रियोको अबला और कमजोर समझकर ही उनके साथ यह सलूक (न्याय) किया गया है ? और क्या न्यायसत्ता पानेका यही उपयोग है और यही मनुष्यका मनुष्यत्व है ? मैं तो इसे मानव-जाति और उच्च सस्कृतिके लिये महान् कलक समझती हूँ।'

'स्त्रियाँ पर्देमे रहनेकी वजहसे अपने स्वास्थ्य, अपनी, जानकारी अपनी सस्कृति और अपनी आत्मरक्षा वगैरहकी कितनी हानियाँ उठाती है, क्या इसका आपने कभी अनुभव नही किया ? मैने तो ऐसी सैकडों स्त्रियोको देखा है जो घूँघट निकाले हुए अधोकी तरहसे चलती है, मार्गमे घोडा, गाडी, आदमी तथा दर-दीवार और वृक्षसे टकरा जाती है इंट पत्थर लकडीसे ठोकर खाजाती है, मार्ग भूलकर इधर उधर भटकने लगती है, किसी आक्रमणकारीसे अपनी रक्षा नही कर सकती, और इस तरह बहुत कुछ दु ख उठाती हुई अपनी उस घूँघटकी प्रथा पर खेद प्रकट करती है । उन्हे यह भी मालूम नही होता कि ससारमे क्या हो रहा है और देश तथा राष्ट्रके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है। वे प्राय मकानकी चारदीवारीमे बन्द रह कर उच्च सस्कारोके विकासके अवसरसे वचित रह जाती है, इतना ही नही बल्कि अपने स्वास्थ्यको भी खो बैठती है। ऐसी स्त्रियाँ अपनी सतानका यथेष्ट रीतिसे पालन-पोषण भी नही कर सकती और न उसे ठीक तौरसे शिक्षित ही बना सकती हैं। मै तो जेलखानेके एक आजन्म कैदीकी और उनकी हालतमे कुछ भी अन्तर नही देखती।

यह सब कितना अत्याचार है ! विना अपराध ही स्त्रियाँ ये सब दु:ख कष्ट तथा हानियाँ उठाती है और अपने मनुष्योचित अधिकारो तथा लाभोसे वंचित रक्खी जाती है, इस अन्याय और अंधेरका भी कही कुछ ठिकाना है !! अब बतलाइये दोनोमेसे आप अपनी इस मनहूस प्रथाका कौनसा कारण ठहराते है ? पहला कारण बतलाकर व्यर्थ ही स्त्रीजातिका अपमान करना चाहते है या दूसरे कारणको मानकर स्त्रियोपर अपने अत्याचारोको स्वीकार करते हैं ? दोनोमेसे कोई एक कारण जरूर मानना और बतलाना पड़ेगा अथवा दोनोको ही स्वीकार करना होगा। परतु वह कारण चाहे कोई हो, पुरुषोंके लिये यह बात कलककी, लज्जाकी और सभ्यससारमे उनके गौरवको घटानेवाली जरूर है कि उन्हे प्रकृति तथा न्याय-नियमोंके विरुद्ध अपनी स्त्रियोको पर्देमे रखना पड़ता है।'

मै उस वीरागनाके इस दिव्यभाषणको सुनकर दंग रह गया और मुझसे उस वक्त यही कहते बना कि, जरा सोचकर आपके प्रश्नका समुचित उत्तर फिर निवेदन करूँगा।

मेरा इतना कहना ही था कि, आकाशमें मेघोकी गर्जना और वर्षाकी कुछ बूँदोने मेरा वह स्वप्न भग कर दिया और मै अपनेको पूर्ववत् शय्या पर लेटा हुआ ही अनुभव करने लगा। परन्तु अभी कुछ मिंनिट पहले जो अद्भुत दृश्य देखा था और जो दिव्य भाषण सुना था उसकी याद चित्तको बेचैन किये देती थी कि या तो इसे स्त्रीजातिका अपमान कहना चाहिये और या यह कहना चाहिये कि वह स्त्रियो पर पुरुषोका अत्याचार है। अथवा यो कहना होगा कि उसमें दोनोका ही अपमान और अत्याचारका—सम्मिश्रण है। विचारोकी इसी उधेडबुनमे सबेरा हो गया और मै अपना स्वप्न--समाचार दूसरोंको सुनाने लगा।

सभव है कि पाठकोमेसे भी कुछ महानुभाव उस दिव्य-स्त्रीके प्रश्न पर अच्छा विचार कर सके और उत्तरमे तीसरे ही किसी निर्दोष

हेतुका विधान कर सके। इसीलिये स्वप्नकी यह सपूर्ण घटना आज पाठकोके सामने रक्खी जाती है। विद्वानोको चाहिये कि वे इस पर गहरा विचार करके अपने अपने विचार-फलको युक्तिके साथ प्रगट करे। यदि उन्हे भी उक्त प्रथाकी उपयुक्तता मालूम न दे और वे उसे जारी रखनेमे पुरुषोका ही दोष अनुभव करें तो उनका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे पुरुषजातिको इस कलंक तथा पापसे मुक्त कराने-का भरसक प्रयत्न करे[1]।

---

१ यह स्वप्न मुझे आजसे कोई ३८ वर्ष पहले नानौता (जि० सहारनपुर) मे आया था और आनेके बाद ही १ मई सन् १९२४ को वर्तमान रूपमे लिख लिया गया था। एक-दो पत्रोमे उस समय इसे प्रकाशित भी किया था, जैसे जुलाई सन् १९२४ के 'परवारबन्धु' मे।

१८

जातिभेद पर अमितगति आचार्य

जैनसमाजमे 'अमितगति' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। इनके बनाये हुए उपासकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह और धर्म-परीक्षा आदि कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं और वे सब आदरकी दृष्टिसे देखे जाते है। ये आचार्य आजसे कोई ९५० वर्ष पहले—विक्रमकी ११वी शताब्दीमें—राजा मुंजके समयमें हुए है और इन्होंने धर्म-परीक्षा ग्रन्थको विक्रम संवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रन्थके १७वे परिच्छेदमें आपने जातिभेद पर कुछ महत्वके विचार प्रकट किये है, जो सर्व साधारणके जानने योग्य है। अत. नीचे पाठकोको उन्हीका कुछ परिचय कराया जाता है :—

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभि.।
सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥ २३ ॥

'जो लोग सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित है उन्हे जातिमात्रसे—महज किसी ऊँची जातिमे जन्म लेलेनेसे—धर्मका कोई लाभ नही हो सकता।'

भावार्थ- धर्मका किसी जातिके साथ कोई अविनाभावी सबध नही है, किसी उच्च जातिमे जन्म लेलेनेसे ही कोई धर्मात्मा नही वन जाता। अथवा यो कहिये कि सत्य-शौचादिकसे रहित व्यक्तियोको उनकी उच्च जाति धर्मकी प्राप्ति नही करा सकती। प्रत्युत इसके,

जो सत्य, शौचादि गुणोसे विशिष्ट है वे हीन जातिमे उत्पन्न होने पर भी धर्मका लाभ प्राप्त कर सकते है और इसलिये जो लोग किसी उच्च कहलानेवाली जातिमे उत्पन्न होकर सत्य-शौचादि धर्मों-का अनुष्ठान न करते हुए भी अपनेको ऊँचा, धर्मात्मा, धर्माधिकारी या धर्मका ठेकेदार समझने है और अपनेसे भिन्न जातिवालोका तिरस्कार करते है, यह उनकी वडी भूल है।

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेद-कल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥२४॥

'जातियोकी जो यह ब्राह्मण-क्षत्रियादि रूपसे भेदकल्पना है वह आचारमात्रके भेदसे है—वास्तविक नही। वास्तविक दृष्टिसे कही भी कोई नियता—शाश्वती—ब्राह्मण जाति नही है। (इसी तरह क्षत्रिय आदि जातियाँ भी तात्त्विक और शाश्वती नही हैं।)'

भावार्थ—ये मूल जातिया भी (अग्रवाल खडेलवाल आदि उप-जातियोकी तो बात ही क्या) गौ-अश्वादि जातियोकी तरह वास्त-विक नही है, किन्तु काल्पनिक है और उनकी यह कल्पना आचार-मात्रके भेदसे की गई है। अत· जिस जातिका जो आचार है उसे जो नही पालता वह उस जातिका व्यक्ति नही—उसकी गणना उस जातिके व्यक्तियोमे की जानी चाहिये जिसके आचारका वह पालन करता है। ऐसी दशामे ऊँची जातिवाले नीच और नीची जातिवाले उच्च हो जानेके अधिकारी है। इसीसे भीलो तथा म्लेच्छो आदिकी जो कन्याएँ उच्च जातिवालोसे विवाही गई वे आचारके बदल जाने-से उच्च जातिमे परिणत होकर उच्चत्वको प्राप्त हो गई, और उनके कितने ही उदाहरण 'विवाहक्षेत्र-प्रकाश'मे दिये गये है।

ब्राह्मणक्षत्रियादीना चतुर्णामपि तत्त्वत।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ॥ २५ ॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारोकी वास्तवमे एक ही मनुष्य जाति है, वही आचारके भेदसे भेदको प्राप्त हो गई है—जो

भेद अतात्त्विक है।

भावार्थ—सब मनुष्य मनुष्यजातिकी अपेक्षा समान है—एक ही तात्त्विक जातिके अग है—और आचार अथवा वृत्तिके बदल जाने पर एक अतात्त्विक जातिका व्यक्ति दूसरी अतात्त्विक जातिका व्यक्ति बन सकता है। अतः एक जातिके व्यक्तिको दूसरी जातिके व्यक्तिसे कभी घृणा नही करनी चाहिये और न अपनेको ऊँचा तथा दूसरेको नीचा ही समझना चाहिये। ऊँच-नीचकी दृष्टिसे यह भेद-कल्पना ही नही है।

भेदे जायेत विप्रायां क्षत्रियो न कथचन।
शालिजातौ मया दृष्टः कोद्रवस्य न सभवः॥ २६॥

'यदि इन ब्राह्मणादि जातियोके भेदको तात्त्विक भेद माना जाय तो एक ब्राह्मणीसे कभी क्षत्रिय-पुत्र पैदा नही हो सकता, क्योंकि चावलोंकी जातिमें मैने कभी कोदोको उत्पन्न होते हुए नही देखा।'

भावार्थ—इन जातियोमें चावल और कोदो-जैसा तात्त्विक भेद मानने पर एक जातिकी स्त्रीसे दूसरी जातिका पुत्र कभी पैदा नही हो सकता—ब्राह्मणीके गर्भसे क्षत्रिय-पुत्रका और क्षत्रियाके गर्भसे वैश्य अथवा ब्राह्मण-पुत्रका उत्पाद नही बन सकता। परन्तु ऐसा नही है, ब्राह्मणोमे अथवा ब्राह्मणियोके गर्भसे कितने ही वीर-क्षत्रिय पैदा हुए है और क्षत्रियोमे अथवा क्षत्राणियोके गर्भसे अनेक वैश्य-पुत्रोका उद्भव हुआ है जिनके उदाहरणोसे शास्त्र भरे हुए हैं और प्रत्यक्षमे भी ऐसे दृष्टान्तोकी कमी नही है। अग्रवाल जो किसी समय क्षत्रिय थे वे आज प्राय. वैश्य बने हुए है। ऐसी हालतमे यह सुनिश्चित है कि इन जातियोमें कोई तात्त्विक अथवा प्राकृतिक भेद नहीं है—सबकी एक ही मनुष्य जाति है। उसीको प्रधानतः लक्ष्यमें रखना चाहिये।

ब्राह्मणोऽवाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा।
विप्रायां शुद्धशीलायां जनिता नेदमुत्तरम्॥२७॥

न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता ।
कालेनाऽनादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते ॥ २८ ॥

'यदि यह कहा जाय कि पवित्राचारधारी ब्राह्मणके द्वारा शुद्ध-शीला ब्राह्मणीके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे ब्राह्मण कहा गया है—तुम ब्राह्मणाचारके धरनेवालेको ही ब्राह्मण क्यो कहते हो ?—तो यह ठीक नही है । क्योकि यह मान लेनेके लिये कोई कारण नही है कि उन ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनोमे सदा कालसे शुद्धशीलताका अस्तित्व (अक्षुण्णरूपसे) चला आता है । अनादि-कालसे चली आई हुई गोत्रसन्ततिमे कहाँ स्खलन नही होता ?—कहाँ दोष नही लगता ?—लगता ही है ।

भावार्थ—इन दोनो श्लोकोमे आचार्यमहोदयने जन्मसे जाति माननेवालोकी बातको नि.सार प्रतिपादन किया है—जन्मसे जाती-यताके एकातपक्षपाती जिस रक्तशुद्धिके द्वारा जाति,कुल अथवा गोत्र-शुद्धिकी डुगडुगी पीटा करते है उसीकी नि सारताको घोषित किया है और यह बतलाया है कि वह अनादि प्रवाहमे बन ही नही सकती—बिना किसी मिलावटके अक्षुण्ण रह ही नही सकती । इन पद्योंमे कामदेवकी दुर्निवारता और उससे उत्पन्न होनेवाली विकारताका वह सब आशय सन्निहित जान पडता है जिसे प०आशाधरजीने,कुल-जाति-विषयक अहङ्कृतिको मिथ्या, आत्मपतनका हेतु और नीच गोत्रके बन्धका कारण ठहराते हुए, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञटीकामे प्रकट किया है[1] और जिसका उल्लेख लेखक-द्वारा 'विवाहक्षेत्र-प्रकाश'[2]के 'असवर्ण और अन्तर्जातीय

---

१. प० आशाधरजीके उस कथनका एक वाक्य इस प्रकार है:—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जाति-परिकल्पना ॥

२. यह १७५ पृष्ठकी पुस्तक ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ, दरीबा कलाँ देहली ने प्रकाशित की है ।

'विवाह' नामक प्रकरणमे किया गया है। गोत्रोंमें अन्य प्रकारसे कैसे स्खलन होता है, उनकी धारा कैसे पलट जाती है और वे कैसी विचित्र स्थितिको लिये हुए है, इस बातको सविशेष रूपसे जाननेके लिये विवाहक्षेत्रप्रकाशका 'गोत्रस्थिति और सगोत्रविवाह' नामका प्रकरण देखना चाहिये।

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥२९॥

'सत्पुरुषोकी दृष्टिमे वह जाति ही बड़ी अथवा ऊँची है जिसमे संयम, नियम शील, तप, दान, दम (इन्द्रियादिनिग्रह) और दया ये गुण वास्तविक रूपसे विद्यमान होते है—बनावटी रूपसे नही।'

भावार्थ—इन गुणोका यथार्थमे अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोके समूहको ही ऊँची जाति कहते है। और इसलिये जो व्यक्ति सचाई-के साथ इन धर्मगुणोंका पालन करता है उसे ऊँची जातिका अंग समझना चाहिये—भले ही वह नीच कहलानेवाली जातिमे ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो। उपर्युक्त गुण ऐसे हैं जिन्हें सभी जातियोंके व्यक्ति धारण कर सकते है और वे धारण करनेवाले व्यक्ति ही उस महती जातिका निर्माण करते है जो आचार्यमहोदयकी कल्पनामे स्थित है।

दृष्टा योजनगन्धादि प्रसूतानां तपस्विनाम्।
व्यासादीनां महापूजा तपसि क्रियतां मतिः ॥३०॥

(धीवरादि नीच जातियोकी) योजनगंधादि स्त्रियोसे उत्पन्न व्यासादिक तपस्वियोंकी लोकमे महापूजा देखी जाती है—यह सब तप-संयमादि गुणोका ही माहात्म्य है। अतः तप संयमादि गुणोकी प्राप्तिका ही यत्न करना चाहिये—उससे जाति स्वयं ऊँची उठ जायगी।

भावार्थ—नीच जातिकी स्त्रियोसे उत्पन्न व्यक्ति यदि नीच जातिके ही रहते और नीच ही समझे जाते तो व्यासजी जैसे तपस्वी,

जो कि एक धीवर-कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुए थे, लोकमें कभी इतनी पूजा और प्रतिष्ठाको प्राप्त न कर सकते। इससे साफ जाहिर है कि नीच जातिके व्यक्ति भी सद्गुणोके प्रभावसे ऊँच जाति-के हो जाते हैं। अथवा यो कहिये कि नीच जातियोमे भी अच्छे-अच्छे रत्न उत्पन्न होते हैं और हो सकते है। इसलिये उनकी उपेक्षा की जानी योग्य नही—उन्हे ऊँचे उठानेका यत्न करना चाहिये।

शीलवन्तो गता' स्वर्गे नीचजातिभवा अपि।
कुलीना नरक प्रापा: शील-सयम-नाशिन: ॥३१॥

'नीच जातियोमे उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त हुए हैं और ऊँच जातियोंमें जन्म लेनेवाले असदाचारी—शीलसंयमादिसे रहित—कुलीन लोग भी नरकमें गये हैं।'

भावार्थ—ऊँच जातिवाले जब नीच गतिको और नीच जाति-वाले ऊँची गतिको प्राप्त हुए है—और हो सकते हैं—तब वास्तवमे इन ऊँच-नीच गिनी जानेवाली जातियोका कुछ भी महत्त्व नही रहता। उच्चत्व और नीचत्वका अथवा अपने उत्कर्ष और अपकर्षका सारा खेल गुणोके ऊपर अवलम्बित है। अत. सद्गुणोकी प्राप्ति करने-करानेका ही यत्न होना चाहिये। उनकी प्राप्तिमे वस्तुत. कोई नीच कही जाने वाली जाति बाधक नही है।

गुणै सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादर: पर ॥३२॥
जातिमात्रमद: कार्यो न नीचत्वप्रवेशक:।
उच्चत्वदायक: सद्भि: कार्य. शीलसमादर: ॥३३॥

'उत्तम गुणोसे ही उत्तम जाति बनती है और उत्तम गुणोंके नाशसे वह जाति नष्ट हो जाती है—नीचत्वको प्राप्त हो जाती है। इसलिये बुद्धिमानोको सबसे अधिक गुणोका ही आदर करना चाहिये (बाह्य जाति पर दृष्टि रखकर या उसके भुलावेमे भूलकर उसीको सब कुछ न समझ लेना चाहिये)। साथ ही, अपनी जातिका कभी

मद नही करना चाहिये।(अपनी जातिको ऊँचा और दूसरेकी जाति को नीचा समझने रूप) यह मद आत्मामे नीचत्वका प्रवेश करानेवाला है—उसे नीचे गिरानेवाला अथवा नीच बनानेवाला है । उच्चत्वका देनेवाला—आत्माको ऊपर उठानेवाला—शीलसंयमादि गुणोके प्रति आदरभाव है—भले ही उन गुणोका प्रादुर्भाव किसी नीच जातिके व्यक्तिमें ही क्यो न हुआ हो—और इसलिये सत्पुरुषोको उसी आदरभावसे काम लेना चाहिये—जातिभेदके चक्करमे पड कर गुणियो अथवा गुणोका तिरस्कार नही कर देना चहिये ।'

भावार्थ—इन ब्राह्मणादिक जातियोका बनना और बिगडना सब गुणोपर ही मुख्य आधार रखता है—उनका मूल जन्म नही किन्तु गुणसमुदाय है । गुणोके आविर्भावसे एक नीच जातिवाला ऊँचजातिका और गुणोंके अभावसे एक ऊँच जातिवाला नीचजातिका व्यक्ति बन जाता है । किसीकी जाति अटल या शाश्वती नही है—अटल है तो एक मनुष्यजाति है, जो जीवनभर तक छूट नही सकती,उसी पर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। इसीलिये महज़ जन्मकी वजहसे दूसरोंके व्यक्तित्वका तिरस्कार करना उचित नही—उचित है दूसरोके गुणोका आदर करना, उनके गुणोके आविर्भावकी भावना रखना,और उसका सब ओर से प्रयत्न करना,यही दोनोके लिये उत्कर्षका साधक है । इसीसे आचार्यमहोदय ग्रन्थके अन्तिम भागमे लिखते है —

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ पटिष्ठो
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ वरिष्ठः ।
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ कुलीनो
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ न दीन' ॥७७॥

'जो मनुष्य सम्यक्त्व गुणका धारक है वह अत्यन्त चतुर है, श्रेष्ठ है, कुलीन है और अदीन है ।'

भावार्थ—जैनधर्मके अनुसार नीचसे नीच जातिका मनुष्य भी सम्यक्त्वगुणका धारण कर सकता है—एक चाण्डालका पुत्र भी

सम्यग्दृष्टि हो सकता है। स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार-मे ऐसे चाण्डाल-पुत्रको 'देव' लिखा है—आराध्य[1] वतलाया है। अत ऐसे सम्यग्दर्शनप्राप्त नीच जातिके पुरुषोको भी अमितगति आचार्य श्रेष्ठ, कुलीन और अदीन लिखते हैं। यह है गुणोका आदर-भाव, गुणोके आविर्भावकी सद्भावना और सत्प्रेरणा।

आचार्यमहोदयके इन सब उद्गारो पर अधिक टीकाटिप्पणीकी जरूरत नही। वे इन जातिभेदोको किस दृष्टिसे देखते थे और उन्हे क्या महत्त्व देते थे यह सब ऊपरके कथनोंसे बिल्कुल स्पष्ट है। और इसलिये जो लोग समानवर्ण, समानधर्म, और समानगुण-शीलवाली उपजातियोमें भी अनुचित भेदभावकी कल्पना किये हुए है—परस्परमे रोटी-बेटीका सम्बन्ध एक करते हुए हिचकिचाते हैं—उन्हे आचार्यमहाराजके इन उद्गारोंसे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उस कदाग्रहको छोड देना चहिये जो धर्म तथा समाजकी उन्नतिमे बाधक है। जो लोग कदाग्रहको छोड कर अन्त-र्जातीय विवाह करने लगे है उनकी यह उदार तथा विवेक-परिणति नि सन्देह प्रशंसनीय और अभिनदनीय है।

---

१ यह 'देव' का 'आराध्य' अर्थ प्रभाचन्द आचार्यने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीकामे दिया है।

१६

गोत्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह

जैनसिद्धान्तमे—जैनियोकी कर्मफिलोसोफीमें—'गोत्र' नामका भी एक कर्म है और उसके ऊँच, नीच ऐसे कुल दो ही भेद किये है। गोम्मटसार ग्रन्थमे बतलाया है कि सन्तान'-क्रमसे चले आए जीवोंके आचरण-विशेषका नाम गोत्र' है। वह आचरण ऊँचा और नीचा दो प्रकारका होनेसे गोत्रके भी सिर्फ दो भेद है, एक उच्चगोत्र और दूसरा नीचगोत्र। यथाः—

सतानकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्च णीचं चरणं उच्च णीचं हवे गोद॥

परन्तु आजकल जैनियोमे जो सैकड़ो गोत्र प्रचलित है—उनकी ८४ जातियोमे प्राय. सभी जातियाँ, समान आचरण होते हुए भी, कुछ न कुछ गोत्र-सख्याको लिये हुए है - वे सब गोत्र उक्त सिद्धान्त-प्रतिपादित गोत्र-कथनसे भिन्न है, उनमें 'उच्च और 'नीच' नामके कोई गोत्र है भी नही, और न किसी गोत्रके भाई ऊँच अथवा नीच समझे जाते हैं। इन गोत्रोके इतिहास पर जब दृष्टि डाली जाती है तो वह बडा ही विचित्र मालूम होता है और उससे यह बात सहज ही समझमे आ जाती है कि ये सब गोत्र कोई अनादिनिधन नहीं है—वे भिन्न-भिन्न समयोपर भिन्न भिन्न कारणोको पाकर उत्पन्न हुए और इसी तरह कारण-विशेषको पाकर किसी न किसी समय

नष्ट हो जानेवाले है। अनेक गोत्र केवल ऋषियोंके नामों पर प्रतिष्ठित हुए, कितने ही गोत्र सिर्फ नगर-ग्रामादिकोके नामो पर रक्खे गये और बहुतसे गोत्र वशके किसी प्रधानपुरुष, व्यापार, पेशा अथवा किसी घटनाविशेषको लेकर ही उत्पन्न हुए हैं। और इन सब गोत्रोकी उत्पत्ति या नामकरणसे पहले पिछले गोत्र नष्ट हो गये यह स्वत सिद्ध है—अथवा यो कहिये कि जिन जिन लोगोंने नवीन गोत्र धारण किये उनमे और उनकी सततिमें पिछले गोत्रोका प्रचार नही रहा। यहाँ पर इन गोत्रोकी कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताका कुछ दिग्दर्शन करा देना उचित मालूम होता है और उसके लिये अग्रवाल खडेलवाल तथा ओसवाल जातियोके गोत्रोंको उदाहरणके तौरपर लिया जाता है। इस दिग्दर्शन परसे पाठकोको यह समझनेमे आसानी होगी और वे इस बातका अच्छा निर्धार कर सकेंगे कि आजकल इन गोत्रोको जो महत्त्व दिया जाता है अथवा विवाह-शादीके अवसरो पर इनका जो आग्रह किया जाता है वह कहाँ तक उचित तथा मान्य किये जानेके योग्य है.—

(१) अग्रवाल जातिके इतिहाससे मालूम होता है कि अग्रवाल-वशके आदिपुरुष राजा अग्रसेन थे। वे जिस गोत्रके व्यक्ति थे वही एक गोत्र, आजकलकी दृष्टिमे, उनकी सततिका—सम्पूर्ण अग्रवालो-का—होना चाहिये। परन्तु ऐसा नही है। अग्रवाल जातिमे आज १८ गोत्र प्रचलित है और ये गोत्र राजा अग्रसेनके अठारह पुत्रो-द्वारा धारण किये हुये गोत्र है, जिनकी कल्पना उन्होने अपनी सततिके विवाह-सकटको दूर करनेके लिये की थी। इनमेसे गर्ग आदि अधि-काश गोत्रोका नामकरण तो उन गर्गादि ऋषियोके नामो पर हुआ है जो पुष्पदेवादि राजकुमारोंके अलग अलग विद्यागुरु थे और बाकीके वृन्दल, जैत्रल (जिंदल) आदि कुछ गोत्र वृन्ददेवादि राज-कुमारोंके नामों परसे ही निर्धारित किये गये अथवा प्रचलित हुए जान पडते हैं। ऐसी हालतमे यह स्पष्ट है कि राजा अग्रसेनका गोत्र

उनके साथ ही समाप्त हो गया था—वह उनकी संततिमें प्रचलित नही रहा—और १८ नये गोत्रोकी सृष्टि भी हो सकी। साथ ही, यह बतलानेकी कोई ज़रूरत नही रहती कि पहले जमानेमे पिताके गोत्र-को छोड़कर नये गोत्र भी धारण किये जा सकते थे और इस नई गोत्र-कल्पनाके अनुसार अपने विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बनाया जा सकता था। यदि अग्रवालोकी इस पिछली गोत्र-कल्पनाको हटा दिया जाय तो, राजा अग्रसेनकी दृष्टिसे, सब अग्रवाल एकगोत्री हैं और वे परस्पर—अग्रवालोमे ही—विवाह करके सगोत्र-विवाह कर रहे हैं यह कहना चाहिये।

(२) खडेलवाल जातिके जैन इतिहाससे पता चलता है कि एक समय राजा खंडेलगिरकी राजधानी खडेलानगर और उसके शासनाधीन ८३ ग्रामोंमें महामारीका बडा प्रकोप हुआ और वह नरमेध यज्ञ तक कर देने पर भी शात न हुआ, बहुत कुछ हानि पहुँचाकर, अन्तको श्रीजिनसेनस्वामीके प्रभावसे शात हुआ। इस अतिशयको देख कर ८४ ग्रामोंके राजा-प्रजा सभी जन जैनी हो गये और श्रीजिनसेनस्वामीने उनके ८४ गोत्र नियत किये। गोत्रोमे 'सहा' गोत्रको छोड़कर, जो खंडेलानगरके निवासियो तथा राजकुलके लिये नियत किया गया था, शेष ८३ गोत्रोका नाम-करण ग्रामोके नामो पर हुआ—अर्थात् एक एक ग्रामके रहनेवाले सभी जैनियोका एक एक गोत्र स्थापित किया गया। जैसे पाटनके रहनेवालोका गोत्र 'पाटनी', अजमेरके रहनेवालोका 'अजमेरा', बाकली ग्रामके निवासियोका 'बाकलीवाल' और कासली गाँवके निवासियोका गोत्र कासलीवाल नियत हुआ। इन गोत्रोमे सोनी, लुहाड्या, चौधरी आदि कुछ गोत्रोंके विषयमे विद्वानोंका यह भी मत है कि वे व्यापार, पेशा या पदस्थकी दृष्टिसे रक्खे हुए नाम है—सोनेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'सोनी', लोहेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'लुहाड्या' और चौधरीके पद पर प्रतिष्ठित 'चौधरी' कहलाये। परन्तु कुछ

भी सही, इतना तो स्पष्ट है कि इन सब लोगोंके पुराने गोत्र कायम नही रहे और ८४ नये गोत्रोंकी सृष्टि हुई। एक गोत्रके लोग प्राय. अनेक ग्रामोमें रहते है और एक ग्राममे अक्सर अनेक गोत्रोके लोग रहा करते है। जब गोत्रोका नामकरण ग्रामोके नामो पर हुआ एक ग्राम-के रहनेवाले जैनियोका एक गोत्र कायम किया गया और अपने अपने उस गोत्रको छोडकर खडेलवाल लोग दूसरे गोत्रमे विवाह सम्बन्ध करते हैं[1] तब उनके पिछले गोत्रोकी दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि वे सगोत्र-विवाह भी करते हैं; क्योकि यह प्राय. असभव है कि उन सब नगर-ग्रामोमे पहलेसे एक-दूसरेसे भिन्न अलग अलग गोत्र-के ही लोग निवास करते हो। राजमलजी बडजात्याने खडेलवाल जैनोंका जो इतिहास लिखा है उससे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि कितने ही वशोंके लोग अनेक ग्रामोमें रहते थे. जैसे चौहान वंश-के लोग खडेलानगर, पापडी, भैंसा, दरड्यो, गदयो, पहाडी, पाडणी, छावडा, पागुल्यो, भूलाणी, पीतल्यो, बनमाल, अरडक, चिरडकी, साँभर और चोवण्यामे रहते थे। इन नगर ग्रामोंके निवासियोके लिये क्रमश सहा, पापडीवाल भैंसा (बडजात्या), दरड्यो, गदैया, पहाड्या, छावडा, पागुल्या, भूलण्या, पीतल्या, बनमाली, अर्डक, चिरडक्या, सामर्या और चौवाण्या गोत्रोकी सृष्टि की गई। इन गोत्रोंके खडेलवाल क्या आपसमें विवाह-सम्बध नही करते? यदि करते हैं तो चौहानवशके मूलगोत्रकी दृष्टिसे कहना होगा कि वे एक

---

१. यह दूसरी बात है कि कुछ रिश्तेदारोके गोत्र भी टाले जाते हैं। परन्तु उससे किसी खास नामके गोत्रोका नियमित रूपसे टाला जाना लाजिमी नही आता। हो सकता है कि एक विवाहके अवसर पर किसी रिश्तेदारका जो गोत्र टाला गया वह कालान्तरमे न टाला जाय अथवा उसी गोत्रमे कोई दूसरा विवाह भी कर लिया जाय; क्योकि रिश्तेदारीकी वह स्थिति उत्तरोत्तर सतन्मि बदलती रहती है।

ही गोत्रमें विवाह करते है अथवा यों कहिये कि पिछली गोत्रकल्पनाको निकाल देने पर उनके वे विवाह सगोत्रविवाह ठहरते हैं। दूसरे गोत्रोंकी भी प्राय' ऐसी ही हालत है। इसके सिवाय, ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि पहले एक नगर-ग्रामके निवासी आपसमे विवाह-सम्बध नही किया करते थे। और यदि कही ऐसा होता भी हो तो आजकल जब वह प्रथा नही रही और एक ही नगर-ग्रामके निवासी खडेलवाल परस्परमें विवाह कर लेते हैं तब उनके लिये एक ही नगर-ग्रामके निवासियोसे बने हुए अपने एक गोत्रमें विवाह सम्बध कर लेने पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे कौन बाधा आती है अथवा उसका न करना कहाँ तक युक्तियुक्त हो सकता है, इसका विचार पाठकजन स्वय कर सकते है।

(३) 'जैनसम्प्रदायशिक्षा[1]' मे यति श्रीपालचन्द्रजीने ओसवाल वशकी उत्पत्तिका जो इतिहास दिया है उससे मालूम होता है कि रत्नप्रभसूरि ने, 'महाजन वश' की स्थापना करते हुए, 'तातहड' आदि अठारह गोत्र और 'सुघड' आदि बहुतसे नये गोत्र स्थापित किये थे। और उनके पीछे„वि० स० सोलहसौ तक बहुतसे जैनाचार्योंने राजपूत, महेश्वरी, वैश्य और ब्राह्मण जातिवालोंको प्रतिबोध देकर—उन्हे जैनी बना कर – महाजन वंशका विस्तार किया और उन लोगोमे अनेक नये गोत्रोकी स्थापना की। इन सब गोत्रोंका यतिजीने जो इतिहास दिया है और जिसे प्रामाणिक तथा अत्यन्त खोजके बाद लिखा हुआ इतिहास प्रकट किया है उसमेसे कुछ गोत्रोके इतिहासका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है.—

१ कुकुडचोपडा आदि गोत्र—जिनवल्लभसूरि (वि०स०११५२)ने मंडोरके राजा 'नानुदे' पडिहारके पुत्र धवलचद्रके गलितकुष्ठको कुकडी गायके घीको मंत्रित करके तीन दिन चुपडवाने द्वारा नीरोग

---

१. यह पुस्तक वि० स० १९६७ मे वम्बईसे प्रकाशित हुई है।

किया। इससे राजाने कुटुम्ब-सहित जैनधर्म ग्रहण किया और सूरिजीने उसका महाजन वश तथा 'कुकडचोपडा' गोत्र स्थापित किया। मन्त्रीने भी धर्म ग्रहण किया और उसका गोत्र 'गणधर चोपडा' नियत किया गया। कुकडचोपडा गोत्रकी बादको चार शाखाएँ हुईं जिनमे से एक 'कोठारी' शाखा भी है जो इस वशके एक 'ठाकरसी' नामक व्यक्तिसे प्रारम्भ हुई। ठाकरसीको राव चुंडेने अपना कोठारी नियत किया था तभीसे ठाकरसीकी सतानवाले 'कोठारी' कहलाने लगे।

२ धाडीवाल गोत्र- डीडो नामक एक खीची राजपूत धाड़ा मारता था। उसको वि० स० ११५५ मे जिनवल्लभसूरिने प्रतिबोध देकर उसका महाजन वंश और 'धाडीवाल' गोत्र स्थापित किया।

३ *लालाणी आदि गोत्र – लालसिंहको जिनवल्लभसूरिने प्रति-*बोध देकर उसका 'लालाणी' गोत्र स्थापित किया और उसके पाँच बेटोसे फिर वाठिया, जोरावर, विरमेचा, हरखावत, और मल्लावत्त गोत्र चले। इसी तरह एक 'काला' व्यक्तिकी औलादवाले काला' गोत्री कहलाये।

४ पारख गोत्र—पासूजीने एक हीरेकी परख की थी उसी दिनसे राजा द्वारा 'पारख' कहे जानेके कारण उनकी संतानके लोग पारख-गोत्री कहे जाने लगे।

५ लूणावत आदि गोत्र—'लूणे' के वशज 'लूणावत' गोत्री हुए परन्तु बादको उसके किसी वशजके युद्धसे न हटने पर उसकी सततिका गोत्र 'नाहटा' होगया। और एक दूसरे वशजको किसी नव्वाबने 'रायजादा' कहा। इससे उसका गोत्र 'रायजादा' प्रसिद्ध हुआ।

६ रतनपुरा और कटारिया गोत्र—चौहान राजपूत रतनसिंह-को, जिसने रतनपुर वसाया था, जिनदत्तसूरिने जैनी बनाकर उस-का 'रतनपुरा' गोत्र स्थापित किया। इसके वशमे झाझणसिंह

नामका व्यक्ति अपने पेटमें कटार मारकर मर गया था। इससे उसकी सततिका गोत्र 'कटारिया' प्रसिद्ध हुआ।

७ राँका तथा सेठिया गोत्र—'काकू' नामका एक व्यक्ति बहुत दुर्बल शरीरका था इससे लोग उसे 'राँका' पुकारने लगे। उसे नगर-सेठका पद मिला और इसलिये उसकी सतानका गोत्र 'राँका' तथा 'सेठिया' प्रसिद्ध हुआ।

गोत्रोंकी ऐसी कृत्रिम, विचित्र और क्षणिक स्थितिके होते हुए पूर्व पूर्व गोत्रोकी दृष्टिसे सगोत्र-विवाहोका होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इसके सिवाय, प्राय: सभी जैनजातियोमें गोद लेने अथवा दत्तकपुत्र ग्रहण करनेका रिवाज है, और दत्तकपुत्र अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रका भी लिया जाता है। साथ ही, यह माना जाता है कि उसका गोत्र दत्तक लेनेवालेके गोत्रमे परिणत हो जाता है—उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नही रहती—इसीसे विवाहके अवसर पर उसके गोत्रका प्राय: कोई खयाल नही किया जाता और यदि कही कुछ खयाल किया भी जाता है तो वह प्राय. उस दत्तकपुत्रके विवाह तक ही परिमित रहता है—उसके विवाहमें ही उसका पूर्व गोत्र बचा लिया जाता है—आगे होनेवाली उसकी उत्तरोत्तर संततिमें फिर उसका कोई खयाल नही रक्खा जाता और न रक्खा जा सकता है, क्योंकि एक एक वशमे न मालूम कितने दत्तक दूसरे वशों तथा गोत्रोके लिये जा चुके हैं उन सबका किसीको कहाँ तक स्मरण तथा खयाल हो सकता है। यदि उन पर खयाल किया जाय - विवाहोंके अवसर पर उन्हें टाला जाय—तो परस्परमे विवाहोका होना ही प्राय. असभव हो जाय। इसी तरह पर स्त्रियोंके गोत्र भी उनके विवाहित होने पर बदल जाते है और उनकी प्राय. कोई स्वतंत्र सत्ता नही रहती। यदि उनकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाय तब तो एक कुलमे कितने ही गोत्रोका संमिश्रण हो जाता है और सबको बचाते हुए विवाह करना और भी ज्यादा असंभव ठहरता है। साथ ही, यह

कहना पड़ता है कि भिन्न भिन्न गोत्रके स्त्री-पुरुषोके सम्बधसे सकर-गोत्री सतान उत्पन्न होती है और इस सकरताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेसे किसी भी गोत्रका अपनी शुद्ध-स्थितिमे उपलब्ध होना प्राय असभव है। गोत्रोकी इस कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताकी कितनी ही सूचना भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे भी मिलती है और उससे यह साफ मालूम होता है कि जैनधर्ममे दीक्षित होने पर—जैनोपासक अथवा श्रावक बनते हुए—अजैनोके गोत्र और जाति आदिके नाम प्राय बदल जाते थे—उनके स्थानमे दूसरे समयोचित नाम रक्खे जाते थे। यथा —

जैनोपासकदीक्षा स्यात्समय' समयोचितम् ।
दधतो गोत्रजात्यादिनामान्तरमतः परम् ॥ ५६ ॥
—आदिपुराण, ३९ वाँ पर्व

ऐसी हालतमे गोत्रोकी क्या असलियत है—उनकी स्थिति कितनी परिकल्पित और परिवर्तनशील है—और उन्हें विवाह शादियोके अवसर पर कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पहले जमानेमें गोत्रोको इतना महत्त्व नही दिया जाता था जितना कि वह आज दिया जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिन-सेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे जहाँ यह पाया जाता है कि देवकी और वसुदेव दोनो यदुवशी थे, एक कुटुम्बके थे, दोनोमें चचा-भतीजीका सम्बन्ध था और इसलिये उनका पारस्परिक विवाह सगोत्र-विवाहका एक बहुत बड़ा प्रमाण है, वहाँ यह भी मालूम होता कि हरिवशी राजा 'वसु' के एक पुत्र 'वृहद्ध्वज' की संततिमे यदुवशी राजा उग्रसेन हुआ, दूसरे पुत्र 'सुवसु' की संततिमें जरासध हुआ और जरासंधकी बहन पद्मावती उग्रसेनसे व्याही गई। इससे जाहिर है कि राजा वसुके एक वंश और एक गोत्रमें होनेवाले दो व्यक्तियोका परस्पर विवाह-सम्बंध हुआ। और इससे यह जाना जाता है कि ७

समय एक गोत्रमे विवाह होनेका रिवाज था। साथ ही, उक्त पुराण-से इस बातका भी पता चलता है कि पहले सगे भाई बहनोकी औलादमे जो परस्पर विवाह-सम्बन्ध हुआ करता था उसका एक कारण अथवा उद्देश्य 'गोत्रप्रीति' भी होता था। यथा—

नीलस्तस्य सुतः कन्या मान्या नीलांजनाभिधा।
कुमारकन्ययोर्वृत्ता सकथा च तयोरिति॥ ४॥
पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयोः।
अविवादे विवाहोऽत्र गोत्रप्रीत्यै परस्परम्॥ ५॥
—२३ वाँ सर्ग

इन पद्योमे नील और नीलांजना नामके दो सगे भाई बहनोंके इस ठहरावका उल्लेख किया गया है कि 'यदि मेरे पुत्र और तुम्हारे पुत्री होगी तो गोत्रमें प्रीतिकी वृद्धिके लिये उन दोनोका निर्विवाद रूपसे परस्परमे विवाह कर देना होगा।'

परन्तु आजकल गोत्र-प्रीतिकी बात तो दूर रही, एक गोत्रमे विवाह करना 'गोत्र-घात' अथवा 'गोत्रघाव' समझा जाता है। जैनियोकी कितनी ही जातियोमें तो, विवाहके अवसरपर, पिताके गोत्रके अतिरिक्त माता, माताके मामा, और पिताके मामा आदि तकके गोत्रोको भी टालनेकी फिकर की जाती है—कही चार चार और कही आठ आठ गोत्र बचाये जाते हैं—और इसतरह पर मामा-फूफीकी कन्याओसे विवाह करनेके प्राचीन प्रशस्त विधानसे इनकार ही नही किया जाता बल्कि उनके गोत्रो तकमें विवाह करनेको अनुचित ठहराया जाता है। मालूम नही इस सब कल्पनाका क्या आधार है—वह किस सिद्धान्त पर अवलम्बित है—और इन गोत्रोके बचाने-से उस सिद्धान्तकी वस्तुतः कोई रक्षा हो जाती है या कि नही। शायद सगोत्र-विवाहको अच्छी तरहसे टालनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता हो, परन्तु गोत्रकी वर्तमान स्थितिमे, वास्तविक दृष्टिसे, सगोत्र विवाहका टालना कहाँ तक बन सकता है, इसे पाठक

ऊपरके कथनसे भले प्रकार समझ सकते है। हो सकता है कि इस कल्पनाके मूलमे कोई प्रौढ सिद्धान्त न हो और वह पीछेसे कुछ कारणोको पाकर निरी कल्पना ही कल्पना बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि यह कल्पना प्राचीन कालके विचारो और उस वक्तके विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाजोसे बहुत कुछ विलक्षण तथा विभिन्न है—इसमे निराधार खीचातानीकी बहुलता पाई जाती है—और उसके द्वारा विवाहका क्षेत्र अधिक सकीर्ण हो गया है। समझमे नही आता,जब बहुत प्राचीन कालसे गोत्रोमे बराबर अलटा-पलटी होती आई है, अनेक प्रकारसे नवीन गोत्रोकी सृष्टि होती रही है, एक पुत्र भी पिताके गोत्रको छोडकर अपनेमे नये गोत्रकी कल्पना कर सकता था और इस तरह अपने अथवा अपनी संततिके विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बना सकता था तब वे सब बातें आज क्यो नही हो सकती—उनके होनेमे कौनसा सिद्धान्त बाधक है ? गोत्र-परिपाटीको कायम रखते हुए भी, प्राचीन पूर्वजोके अनुकरण-द्वारा विवाह-क्षेत्रको बहुत कुछ विस्तीर्ण बनाया जा सकता है। अत. समाजके शुभचिंतक सहृदय विद्वानोको इस विषय पर गहरा विचार करके गोत्रोंकी वर्तमान समस्याको हल करना चाहिये और समाजको उस-की उन्नतिका साधक कोई योग्य तथा उचित मार्ग सुझाना चाहिये।

२०

असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह

'वर्ण' के चार भेद है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण इसी क्रमको लिये हुए हैं, और इनकी सत्ता यहाँ युगकी आदिसे चली आती है। इन्हे 'जाति' भी कहते है। यद्यपि 'जाति' नामक नामकर्मके उदयसे मनुष्यजाति एक ही है और उस मनुष्यजातिकी दृष्टिसे सब मनुष्य समान है—मनुष्योंके शरीरमे ब्राह्मणादि वर्णोंकी अपेक्षा आकृति आदिका कोई खास भेद न होनेसे और शूद्रादिकोंके द्वारा ब्राह्मणी आदिमे गर्भकी प्रवृत्ति भी हो सकनेसे उनमे जातिकृत कोई ऐसा भेद नही है जैसा कि गौ और अश्वादिकमें पाया जाता है[1]—फिर भी वृत्ति अथवा आजीविकाके भेदसे मनुष्यजातिके उक्त चार भेद माने गये है। जैसा कि भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे सूचित होता है:—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ४५ ॥

—आदिपुराण, पर्व ३८ वाँ।

---

१. वर्णाकृत्यादिभेदाना देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणा गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥४९२॥

—उत्तरपुराण, ७४ वाँ पर्व

इन चार प्रधान जातियो अथवा वर्णोंमेसे ही अग्रवाल, खंडेलवाल, आदि नवीन जातियोकी सृष्टि हुई है और इसीसे उन्हें उपजातियाँ कहते हैं। उनमे भी वृत्तिकी दृष्टिसे वर्ण भेद पाया जाता है। अस्तु।

इन वर्णोंमेंसे प्र येक वर्णका व्यक्ति जब अपने ही वर्णकी स्त्रीसे विवाह करता है तो उसे 'सवर्णविवाह' और जब अपनेसे भिन्न वर्णके साथ विवाह करता है तो उसे 'असवर्णविवाह' कहते है। असवर्णविवाहके 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' ऐसे दो भेद हैं। अपनेसे नीचे वर्णवालोकी कन्याओंसे विवाह करना 'अनुलोमविवाह' और अपनेसे ऊपरके वर्णवालोंकी कन्याओसे विवाह करना 'प्रतिलोमविवाह' कहलाता है। यद्यपि इन दोनों प्रकारके असवर्ण विवाहोंमें अनुलोमविवाह अधिक मान्य किया गया है परन्तु फिर भी सवर्ण विवाहके साथ भारतवर्षमे दोनों ही प्रकारके असवर्णविवाहोका प्रचार रहा है और उनके विधि-विधानो अथवा उदाहरणोंसे जैन तथा जैनेतर हिन्दू साहित्य भरा हुआ है।

भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराणमें, अनुलोमरूपसे असवर्णविवाहका विधान करते हुए, स्पष्ट लिखते हैं:—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥

अर्थात्- शूद्रका शूद्रास्त्रीके सिवाय और किसी वर्णकी स्त्रीके साथ विवाह न होना चाहिये, वैश्य अपने वर्णकी और शूद्रवर्णकी स्त्रीसे भी विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्णकी और वैश्य तथा शूद्रवर्णकी स्त्रियाँ व्याह सकता है और ब्राह्मण अपने वर्णकी तथा शेष तीन वर्णोंकी स्त्रियोका भी पाणिग्रहण कर सकता है।

श्रीसोमदेवसूरि भी, नीतिवाक्यामृतमें, ऐसा ही विधान करते हैं। यथा :—

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः।

अर्थात्--अनुलोमविवाहकी रीतिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः चार, तीन और दो वर्णोंकी कन्याओंसे विवाह करनेके अधिकारी हैं।

इन दोनों उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि जैनशास्त्रोमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये असवर्णविवाह ही नही किन्तु शूद्रा तकसे विवाह कर लेना भी उचित ठहराया है। हिन्दुओकी मनुस्मृतिमे भी प्रायः ऐसा ही विधान पाया जाता है। यथा :—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥

—अ० ३, श्लो० १३ वाँ

यह श्लोक आदिपुराणके उक्त श्लोकसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसमे प्रत्येक वर्णके मनुष्योंके लिये भार्याओ (विवाहित स्त्रियो) का जो विधान किया गया है वह वही है जो आदिपुराणके उक्त श्लोकमें पाया जाता है। अर्थात् शूद्रकी शूद्रा, वैश्यकी वैश्या और शूद्रा, क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा; और ब्राह्मणकी ब्राह्मणी, क्षत्रिय, वैश्या और शूद्रा, ऐसे अनुलोम-क्रमसे भार्याएँ मानी गई हैं।

मनुस्मृतिके ९ वे अध्यायमे दो श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाये जाते हैं :—

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥२३॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥२४॥

इन श्लोकोमे यह बतलाया गया है कि—"अधम-योनिसे उत्पन्न हुई – निकृष्ट (अछूत) जातिकी – अक्षमाला नामकी स्त्री वसिष्ठ ऋषिसे और शारङ्गी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होने पर पूज्यताको प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी

ही हीन जातियोकी स्त्रियाँ उच्च जातियोंके पुरुषोंके साथ विवाहित होने पर—अपने अपने भर्तारके शुभ गुणोके द्वारा इस लोकमें उत्कर्षको प्राप्त हुई हैं।" और उन दूसरी स्त्रियोंके उदाहरणमे टीकाकार कुल्लूक भट्टजीने "अन्याश्च सत्यवत्यादयो' इत्यादि रूपसे 'सत्यवती' के नामका भी उल्लेख किया है। यह 'सत्यवती,' हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार, एक धीवरकी—कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी—कन्या थी। इसकी कुमारावस्थामे पराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो 'कानीन' कहलाते है। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनुसे व्याही गई और इस विवाहसे 'विचित्र-वीर्य' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराजकी पुत्रियोंसे हुआ। विचित्रवीर्यके मरने पर उसकी विधवा स्त्रियोंसे व्यासजीने, अपनी माता सत्यवतीकी अनुमतिसे, भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये, जिनसे पाण्डवो आदिकी उत्पत्ति हुई।

इस तरह पर हिन्दूशास्त्रोमे हीन-जातिकी अथवा शूद्रा स्त्रियोंसे विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं और उनकी सततिसे अच्छे अच्छे पुरुषो तथा वशोका उद्भव होना भी माना गया है। और जैनशास्त्रोसे म्लेच्छ, भील तथा वेश्या-पुत्रियों जैसे हीनजातिके विवाहोके उदाहरण विवाहक्षेत्र-प्रकाशके 'म्लेच्छोसे विवाह' आदि प्रकरणोमे दिये गये हैं। इन सब उल्लेखोंसे प्राचीनकालसे अनुलोम-रूपसे असवर्णविवाहोका होना स्पष्ट पाया जाता है।

अब प्रतिलोमविवाहको भी लीजिये। धर्मसग्रहश्रावकाचारके ९वे अधिकारमे लिखा है —

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनम्।
कर्तव्य न च शूद्रैस्तु शुद्राणा शूद्रकै सह ॥२५६॥

अर्थात्—प्रथम तीन वर्णवालो (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) को आपसमे एक दूसरेके साथ विवाह और पंक्ति-भोजन करना चाहिये

किन्तु शूद्रोंके] साथ नहीं करना चाहिये। शूद्रोंका विवाह और पंक्ति-भोजन शूद्रोंके साथ होना चाहिये।

इस वाक्यके द्वारा यद्यपि, श्रीजिनसेनाचार्यके उक्त कथनसे भिन्न प्रथम तीन वर्णोंके लिये शूद्रोंसे विवाहका निषेध किया गया है और उसे मत-विशेष कह सकते हैं, जो बहुत पीछेका मत है[1]—हिन्दुओंके यहाँ भी इस प्रकारका मत-विशेष पाया जाता है[2]—परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमे तीन वर्णोंके लिये परस्पर रोटी-बेटीका खास तौरपर विधान किया गया है। और इससे अनुलोमविवाहके साथ साथ प्रतिलोमविवाहका भी खासा विधान पाया जाता है। अर्थात् क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी और वैश्यके लिये क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनोंकी कन्याओंसे विवाहका करना उचित ठहराया गया है। जैनकथा ग्रन्थोसे भी प्रतिलोमविवाहका बहुत कुछ पता चलता है, जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते है.—

(१) वसुदेवजीने, जो स्वयं क्षत्रिय थे, विश्वदेव ब्राह्मणकी क्षत्रिय-स्त्रीसे उत्पन्न 'सोमश्री' नामकी कन्यासे—उसे वेदविद्यामें जीतकर—विवाह किया था। जैसा कि श्रीजिनसेनचार्यकृत हरिवंशपुराण (२३ वे सर्ग) के निम्न वाक्योसे प्रकट है.—

> अन्वये तत्तु जातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका।
> सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेवद्विजन्मिनः ॥४६॥

---

१ क्योकि धर्मसंग्रहश्रावकाचार' वि० सं० १५४१ मे बनकर समाप्त हुआ है और इसलिये वह जिनसेनके हरिवंशपुराण से ७०१ वर्ष बादका बना हुआ है।

२. अत्रि आदि ऋषियोके इस मत-विशेपका उल्लेख मनुस्मृतिके निम्न वाक्यमे भी पाया जाता है :—

> शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
> शौनकस्य सुतोत्पत्या तदपत्यतया भृगो.॥ ३-१६ ॥

करालब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा ।
वेदे जेतु समादिष्टा महत. सहचारिणी ॥५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तमः ।
जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानत ॥५१॥

इन वाक्योसे अनुलोम और प्रतिलोम दोनो प्रकारके विवाहोंका उल्लेख मिलता है।

(२) श्रीकृष्णने अपने भाई गजकुमारका विवाह, क्षत्रिय राजाओकी कन्याओके अतिरिक्त, सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री 'सोमा'से भी किया था, जिसका उल्लेख जिनसेनाचार्य और जिनदास ब्रह्मचारी दोनोके हरिवशपुराणोमे पाया जाता है । यहाँ जिनदास ब्र० के हरिवश पुराणसे एक पद्य नीचे दिया जाता है —

मनोहरतरां कन्यां सोमशर्माग्रजन्मनः।
सोमाख्यां वृत्तवाश्चक्री क्षत्रियाणां तथा पराः ॥३४-२६॥

(३) उज्जयिनीके वैश्य-पुत्र 'धन्यकुमार' का विवाह राजा श्रेणिककी पुत्री 'गुणवती' के साथ हुआ था । अपना कुल पूछा जाने पर इन्होने राजा श्रेणिकसे साफ कह दिया था कि मै उज्जयिनीका रहनेवाला एक वैश्यपुत्र हूँ और तीर्थयात्राके लिये निकला हुआ हूँ। इस पर श्रेणिकने गुणवती आदि १६ कन्याओके साथ इनका विवाह किया था। जैसा कि रामचन्द्र-मुमुक्षु-कृत 'पुण्यास्त्रवकथाकोश'से प्रकट है —

राजा (श्रेणिक.) ऽभयकुमारादिभिरर्द्ध पथमाययौ ।
राजभवन प्रवेश्य किं कुलो भवानिति पप्रच्छ ॥
कुमारो ब्रूते उज्जयिन्या वैश्यात्मजो तीर्थयात्रिकः ।
ततो नृपो गुणवत्यादिभि. षोडशकन्याभिस्तस्य विवाह चकार ॥

इसी पुण्यास्त्रवकथाकोशमे 'भविष्यदत्त' नामके एक वैश्यपुत्रकी भी कथा है, जिसने हरिपुरके अरिजय राजाकी पुत्री 'भविष्यानुरूपा से और हस्तिनापुरके राजा भूपालकी कन्या 'स्वरूपा'से विवाह

किया था और जिसके उल्लेखोको विस्तार-भयसे यहाँ छोडा जाता है।

(४) इसी तरह पर हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंमे भी प्रतिलोमविवाहके उदाहरण पाये जाते है जिसका एक नमूना 'ययाति' राजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की 'देवयानी' कन्यासे विवाह है। यथा'—

तेषां ययातिः पच'नांविजित्य वसुधामिमाम्।
देवयानीमुशनस' सुतां भार्यामवाप स्नः॥

—महाभा० हरि० अ० ३० वां

इसी विवाहसे यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदु-वंश चला।

इन सव उल्लेखोसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमे अनुलोमरूपसे ही नही किन्तु प्रतिलोम रूपसे भी असवर्ण-विवाह होते थे। दाय-भागके ग्रन्थोंसे भी असवर्णविवाहकी रीतिका वहुत कुछ पता चलता है—उनमें ऐसे विवाहोसे उत्पन्न होने वाली संतानके लिये विरासतके नियम दिये है, जिनके उल्लेखोको भी यहाँ विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है। अस्तु; वर्णोंकी 'जाति' संज्ञा होने से असवर्ण विवाहो-को अन्तर्जातीय विवाह भी कहते है। जव भारतकी इन चार प्रधान जातियोमें अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे तव इन जातियोंसे वनी हुई अग्रवाल, खडेलवाल, पल्लीवाल, ओसवाल और परवार आदि उपजातियोमे, समान वर्ण तथा धर्मके होते हुए भी, परस्पर विवाह न होना क्या अर्थ रखता है और उसके होनेमे कौन सा सिद्धान्त बाधक है यह कुछ समझमे नही आता। जान पड़ता है यह सव आपसकी खीचातानी और परस्परके ईर्षाद्वेषादिका परिणाम है—वास्तविक हानि-लाभ अथवा किसी धार्मिक सिद्धान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नही है। वर्णोंकी दृष्टिको छोड़कर यदि उपजातियोकी दृष्टि को ही लिया जाय तो उससे भी यह नही कहा जा सकता कि पहले उपजातियोमे विवाह नही होता था। आर्य-जातिकी अपेक्षा म्लेच्छ-

जाति भिन्न है और म्लेच्छोंमे भी भील, शक, यवन, शवरादिक कितनी ही जातियाँ हैं। जब आर्योका म्लेच्छो अथवा भीलादिकोसे विवाह होता था तो वह भी अन्तर्जातीय विवाह था और बहुत बड़ा अन्तर्जातीय विवाह था। उसके मुकावलेमे तो यह आर्यो-आर्योकी जातियो अथवा उपजातियोके अन्तर्जातीय-विवाह कुछ भी गणनामे गिने जानेके योग्य नही है। इसके सिवाय पहले भूमिगोचरियोके साथ विद्याधरोंके विवाह-सम्बंधका आम दस्तूर था, और उनकी कितनी ही जातियोका वर्णन शास्त्रोमे पाया जाता है। वसुदेवजीने भी अनेक विद्याधर-कन्याओसे विवाह किया था, जिसमे एक 'मदन-वेगा' भी थी और वह श्रीजिनसेनाचार्यके कथनानुसार गौरिक जातिके विद्याधरकी कन्या थी। वसुदेवजी स्वय गौरिक जातिके नही थे और इसलिये गौरिक जातिकी विद्याधर-कन्यासे विवाह करके उन्होने उपजातियोकी दृष्टिसे भी स्पष्ट रूपसे अन्तर्जातीय विवाह किया था, इसमे सदेह नही है। आबूके तेजपाल-वस्तुपालवाले जैन मदिरमे एक शिलालेख सवत् १२९७ का लिखा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि प्राग्वाट (पोरवाड) जातिके तेजपाल जैनका विवाह 'मोढ' जातिकी सुहडादेवीसे हुआ था। इस लेखका एक अश जो जैनमित्र (ता० २३ अप्रैल सन १९२५) मे प्रकाशित हुआ, इस प्रकार है —

"ॐ सवत १२९७ वर्ष वैशाख सुदी १४ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीन चड प्रचड प्रसादमह श्री सोमान्वये मह श्रीअसराज सुत मह श्रीतेज-पालेन श्रीमत्पत्तन वास्तव्य मोढ ज्ञातीय ठ० जाल्हण सुत ठ० आस-सुताया ठकुराज्ञी संतोषा कुक्षिसभूताया महश्री तेज पाल द्वितीय भार्या महश्री सुहडादेवया श्रेयाथ ·· "

यह आधुनिक उपजातियोमें, आजसे करीव ७०० वर्ष पहलेके अन्तर्जातीय-विवाहका एक नमूना है और तेजपाल नामके एक बड़े ही प्रतिष्ठित तथा धर्मात्मा पुरुष-द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी

तरहके और भी कितने ही नमूने खोज करने पर मिल सकते हैं। कुछ उपजातियोमे तो अब भी अन्तर्जातीय विवाह होता रहता है।

ऐसी हालतमे इन अग्रवाल, खडेलवाल आदि जातियोमे परस्पर विवाह न होनेके लिये सिद्धान्तकी दृष्टिसे, क्या कोई युक्तियुक्त कारण प्रतीत होता है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते है। साथ ही, यह भी जान सकते हैं कि दो जातियोमे परस्पर विवाह सम्बंध होनेसे उन जातियोका लोप होना अथवा जाति-पाँतिका मेटा जाना कैसे बन सकता है ? क्या दो भिन्न गोत्रोमे विवाह सम्बन्ध होनेसे वे मिट जाते है या उनका लोप हो जाता है ? यदि ऐसा कुछ नही होता तो फिर दो जातियोमें परस्पर विवाहके होनेसे उनके नाशकी आशका कैसे की जा सकती है ? अत. इस प्रकारकी चिन्ता व्यर्थ है। जहाँ तक हम समझते हैं एक ही धर्म और आचारके मानने तथा पालनेवाली प्राय. इन सभी उपजातियोमे परस्पर विवाहके होनेसे कोई हानि मालूम नही होती। प्रत्युत इसके, विवाह-क्षेत्रके विस्तीर्ण होनेसे योग्य सम्बन्धोके लिये मार्ग खुलता है पारस्परिक प्रेम बढता है, योग्यताके बढानेकी ओर प्रवृत्ति होती है और मृत्युशय्यापर पड़ी हुई कितनी ही अल्पसख्यक जातियोकी प्राणरक्षा भी होती है। वास्तवमे ये सब जातियाँ परिकल्पित और परिवर्तनशील हैं—एक अवस्थामे न कभी रही और न रहेंगी—इनमे गो-अश्वादि जातियो-जैसा परस्पर कोई भेद नही है और इसलिये अपनी जातिका अहकार करना अथवा उसे श्रेष्ठ तथा दूसरी जातिको अपनेसे हीन मानना मिथ्या है। प० आशाधरजीने भी, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामे कुल-जाति-विषयक ऐसी अहंकृतिको मिथ्या ठहराया है और उसे आत्म-पतनका हेतु तथा नीचगोत्रके बन्धका कारण बतलाया है। साथ ही, अपने इस मिथ्या ठहरानेका यह हेतु देते हुए कि 'परमार्थसे जाति-कुलकी शुद्धिका कोई निश्चय नही बन सकता'—यह नही कहा जा सकता कि अमुक जाति अथवा

कुलकी रक्त-शुद्धि विना किसी मिलावटके, अक्षुण्ण चली आती है–उसकी पुष्टिमे नीचे लिखा वाक्य उद्धृत किया है.—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनी-मूले का जाति-परिकल्पना ॥

और इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया है कि 'जब ससारमें अनादिकालसे कामदेव दुर्निवार चला आता है और कुलका मूल भी कामिनी है, तब किसी 'जाति-कल्पना' को क्या महत्व दिया जा सकता है और उसके आधार पर किसीको क्या मद करना चाहिये?' अत जाति-विषयक मद त्याज्य है। उसके कारण कमसे कम साधर्मियो अथवा समान आचारको पालनेवाली इन उपजातियोमे पारस्परिक (अन्तर्जातीय) सद्विवाहोके लिये तो कोई रुकावट न होनी चाहिये।

२१

जाति-पंचायतोंका दंड-विधान

आजकल हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारोंके कारण जरा जरासी बात पर अपने जाति-भाइयोको, जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज करके उनके धार्मिक अधिकारोंमे भी हस्तक्षेप करके उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं, और इस तरह अपनी जातीय तथा सघ-शक्तिको निर्बल और नि सत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोको बुलानेके लिये कमर कसे हुए है। लोगोको, चारुदत्त सेठके उदाहरण पर ध्यान देते हुए—उसके साथ उस वक्तकी बिरादरीके किए हुए सलूक और उसके सत्फलको देखते हुए—दडविधानके ऐसे अवसरों पर बहुत ही सोच-समझ और गहरे विचार तथा दूरदृष्टिसे काम लेना चाहिए । यदि वे पतितोका स्वयं उद्धार नही कर सकते हो तो उन्हे कमसे कम पतितोंके उद्धार-मे बाधक तो नही बनना चाहिये और न ऐसा अवसरही देना चाहिये जिससे पतितजन और भी अधिकताके साथ पतित हो जाँय । किसी पतित भाईके उद्धारकी चिन्ता न कर उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोको भी छीन लेना ऐसा कर्म है जिससे वह पतित भाई सुधारका अवसर न पाकर और भी ज्यादा पतित हो जाय अथवा यो कहिये कि वह डूबतेको ठोकर मारकर शीघ्र डुबो देनेके समान है । तिरस्कारसे प्रायः कभी किसीका सुधार नही होता

उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ हो जाता है और तिरस्कारीके प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ़ जाती है जो जन्म-जन्मान्तरोमे अनेक दु खो तथा कष्टोका कारण होती हुई दोनोके उन्नति-पथमे बाधा उपस्थित कर देती है। हाँ, सुधार होता है, प्रेम उपकार और सद्व्यवहारसे। यदि चारुदत्तके कुटुम्बीजन अपने इन गुणो और उदार-परिणतिके कारण, बसन्तसेनाको चारुदत्तके पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते बल्कि यह कहकर दुतकार देते कि 'इस पापिनीने हमारे चारुदत्तका सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नहीं देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वार पर खडे ही होने देना चाहिये' तो बहुत सभव था कि वह निराश्रित-दशामे मजबूर होकर अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्तिके लिये मजबूर होती, और तब उसका वह सुन्दर श्राविकाका जीवन न बन पाता जो उन लोगोंके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका था। इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहारको अपनाना चाहिये, इसकी नितान्त आवश्यकता है। पापीसे पापीका भी सुधार हो सकता है, परन्तु सुधारक होना चाहिये। ऐसा कोई भी पुरुष नही है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगानेवाला 'योजक' होना चाहिये, उसीका मिलना कठिन है। नीतिकारोने कहा है—

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभ.।

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह उसके व्यक्तित्वके प्रति भारी घृणा और तिरस्कारके भाव प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये कि वह स्वयं उसका सुधार करनेके लिये असमर्थहै,अयोग्य है और उसमे योजक-शक्ति नही है साथही,इस कृतिके द्वारा वह सर्वसाधारणमे अपनी अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है—इतना ही नही,बल्कि अपनी स्वार्थ-साधुताको भी प्रगट कर रही है। ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका,

जो अपनेको थाम भी नही सकती,क्रमश पतन होना कुछ भी अस्वाभाविक नही है। पापीका सुधार वही करसकता है जो पापीके व्यक्तित्वसे घृणा नही करता बल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करनेवाला पापीके पास नही फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोके बीच मीलोकी गहरी खाई पड़ जाती है। इससे वह पापीका कभी भी कुछ सुधार या उपकार नही कर सकता। प्रत्युत इसके, जो पापसे घृणा करता है वह सद्वैद्यकी तरह हमेशा पापीके (रोगीके) निकट होता है और बराबर उसके पाप (रोग) को दूर करने का यत्न करता रहता है। यही दोनोमें भारी अन्तर है। आजकल अधिकाश जन पापसे तो घृणा नही करते परन्तु पापीसे घृणाका भाव जरूर दिखलाते है, अथवा घृणा करते है। इसीसे ससारमें पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और उसकी शान्ति होनेमे नही आती। बहुधा जाति-बिरादरियो अथवा पचायतियोकी प्रायः ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति-भाइयोको पापकर्मसे तो नही रोकती और न उनके मार्गमे कोई अर्गला ही उपस्थित करती है, बल्कि यह कहती है कि 'तुम सिगल-इकहरा पाप मत करो,बल्कि डबल-दोहरा पाप करो, डबल पाप करनेसे तुम्हे कोई दंड नहीं मिलेगा, सिगल पाप करने पर तुम जातिसे खारिज हो जाओगे। अर्थात् वे अपने व्यवहारसे उन्हे यह शिक्षा दे रही हैं कि 'तुम चाहे जितना बडा पाप करो, हम तुम्हे पाप करनेसे नही रोकती, परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नही किया,पापको छिपाकर करो और उसे छिपानेके लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य-भाषणादि दूसरा पाप करना पड़े उसकी तुम्हे छुट्टी है, तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो, परन्तु वह स्थूलरूपमे किसी पर जाहिर न हो; भले ही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमे किसी स्त्रीको रखलो परन्तु इसमे अपना अनुचित सम्बन्ध मत ज़ाहिर होने दो और यदि तुम्हारे फेल (कर्म)से किसी विधवाको गर्भ रह जाय तो

खुशीसे उसकी भ्रूण-हत्या कर डालो, अथवा वालक प्रसव करा-कर उसे कही जंगल आदिमे डाल आओ या मार डालो, परन्तु खुले रूपमे जाति-विरादरीके सामने यह वात न आने दो कि तुमने उस विधवाके साथ सम्बन्ध किया है इसीमे तुम्हारी खैर है—मुक्ति है और नही तो जातिसे खारिज कर दिए जाओगे। जाति-विरादरियो अथवा पंचायतियोकी ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आज कल भारतवर्षका और उसमे भी उच्च कहलानेवाली जातियोका वहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो रहा है। ऐसी हालतमे पापियोका सुधार और पतितोंका उद्धार कौन करे,यह एक वडी कठिन समस्या उपस्थित है।

एक वात और भी नोट किए जाने योग्य है और वह यह कि यदि कोई मनुष्य पापकर्म करके पतित होता है तो उसके लिए इस वातकी खास जरूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये अधिक धर्म करे, उसे ज्यादह धर्मकी ओर लगाया जाय और अधिक धर्म करनेका मौका दिया जाय, परन्तु आजकल कुछ जैन जातियो और जैन पंचायतोकी ऐसी उल्टी रीति पाई जाती है कि वे ऐसे लोगोको धर्म करनेसे रोकते हैं—उन्हे जिनमन्दिरोमे जाने नही देते अथवा वीतराग भगवानकी पूजा-प्रक्षाल नही करने देते; और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारोपर खड़ी कर देते हैं। समझमे नही आता यह कैसी पापोसे घृणा और धर्मसे प्रीति, अथवा पतितोके उद्धारकी इच्छा है !! और किसी बिरादरी या पचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोमे हस्तक्षेप कर-नेका क्या अधिकार है ?

जैनियोमे अविरत-सम्यग्दृष्टिका भी एक दर्जा (चतुर्थ गुणस्थान) है। और अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते है जो इन्द्रियोके विषयो तथा त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसासे विरक्त नही होता—अथवा यो कहिये कि इन्द्रियसयम और प्राणिसयम नामक दोनो संयमोमेसे किसी

भी संयमका धारक नहीं होता, परन्तु जिनेन्द्र भगवानके वचनोमे श्रद्धा जरूर रखता है[1]। ऐसे लोग भी जब जैनी होते हैं और सिद्धान्ततः जैनमन्दिरोमे जाने तथा जिनपूजनादि करनेके अधिकारी है[2] तब एक श्रावकसे, जो जैनधर्मका श्रद्धानी है, चारित्रमोहनीय कर्मके तीव्र-उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत-सम्यग्दृष्टिसे और ज्यादह क्या खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे मन्दिरमे जाने आदिसे रोका जाता है। जान पड़ता है कि इस प्रकारके दड-विधान केवल नासमझी और पारस्परिक कषाय-भावोंसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्यथा, जैनधर्ममे तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चाण्डालके पुत्रको भी 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। और उसकी दशा उस अगारके सदृश प्रतिपादन की है जो बाह्यमे भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अंतरगमें तेज तथा प्रकाशको लिए हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नही होता[3]। इसीसे बहुत प्राचीन समयमे,जब जैनियोका हृदय सच्ची धर्मभावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रछायाके नीचे सभी लोग एकत्रित थे, मातंग (चाण्डाल) भी जैन मन्दिरोमे जाया करते थे और भगवानका दर्शन-पूजन करके अपना

---

१ णोइंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहइ जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥
—गोम्मटसार

२ जिन-पूजाके कौन कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजनाऽधिकार-मीमासा' से जानना चाहिये ।

३. सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढागारान्तरोजसम् ॥
—रत्नकरंडे, स्वामिसमन्तभद्र.

जन्म सफल किया करते थे । इस विषयका अच्छा उल्लेख श्री-जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराण (सर्ग २६) मे पाया जाता है और वह इस प्रकार है :—

"सस्त्रीका खेचरा याताः सिद्धकूट-जिनालयम् ।
एकदा वंदितुं सोपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तंभानमाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तम्भमाश्रितः ।
कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥ ४ ॥
पृष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया ।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिता ॥ ५ ॥"
"अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः ।
मातंगानामपि स्वामिन्निकायान् शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥
नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्रजः ।
अमी मातगनामानो मातगस्तभ-सगताः ॥ १५ ॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसराः ।
श्मशाननिलयास्त्वेते स्मशानस्तभमाश्रिताः ॥ १६ ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयन्त्यंबराणि ये ।
पाण्डुरस्तभमेत्यामी स्थिता पांडुकखेचराः ॥ १७ ॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः ।
कानीलस्तभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥ १८ ॥
पिंगलैर्मूर्धजैर्युक्तास्तप्तकाचनभूषणाः ।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रिता स्तभ श्वपाकिनः ॥ १९ ॥
पत्रपर्णांशुकच्छन्न--विचित्र-मुकुट-स्रजः ।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वतस्तंभमाश्रिताः ॥ २० ॥
वंशीपत्र कृतोत्तंसाःसर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वंशस्तमाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥ २१ ॥

महाभुजगशोभांकसंदष्टवरभूषणाः ।
वृक्षमूलमहास्तंभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः ॥ २२ ॥
अनेकपतृणसंचाराः स्वचिन्हकृतभूषणा ।
समासेन समाख्याता निकाया खचरोद्गताः ॥ २३ ॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तरः ।
शौरिर्यातो निजं स्थानं खेचराश्च यथायथम् ॥ २४ ॥"

इन पद्योंका अनुवाद प० गजाधरलालजीने अपने भाषा हरिवंश-पुराण[1] मे निम्नप्रकार दिया है :—

'एक दिन समस्त विद्याधर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ सिद्धकूट चैत्यालयकी वन्दनार्थ गये । कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदनवेगाके साथ चल दिये ॥२॥ सिद्धकूटपर जाकर चित्र-विचित्र वेषोंके धारण करनेवाले विद्याधरोने सानन्द भगवानकी पूजा की, चैत्यालयको नमस्कार किया एव अपने अपने स्तभोका सहारा लेकर जुदे-जुदे स्थानोपर बैठ गये । कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोंके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजा की और अपनी गौरी विद्याओंके स्तभका सहारा लेकर बैठ गए । कुमारको विद्याधरोकी जातिके जाननेकी उत्कठा हुई, इसलिये उन्होने उनके विषयमे प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरोंकी जातियोंका इस प्रकार वर्णन करने लगी:—"

"प्रभो ! ये जितने विद्याधर है वे सब आर्यजातिके विद्याधर है । अब मैं मातगजातिके विद्याधरोको बतलाती हूँ आप ध्यानपूर्वक सुने ।"

"नीलमेघके समान श्याम नीली माला धारण किये, मातगस्तंभके सहारे बैठे हुए ये मातगजातिके विद्याधर है ॥ १४-१५ ॥ मुर्दोंकी हड्डियोके भूषणोसे भूषित, भस्म (राख) की रेणुओसे मटमैले

---

१. देखो, सन् १९१६ का छपा सस्करण पृष्ठ २८४, २८५ ।

और श्मशान (स्तभ) के सहारे बैठे हुए ये श्मशान-जातिके विद्याधर है ॥१६॥ वैडूर्यमणिके समान नीले नीले वस्त्रोंको धारण किए पाँडुर-स्तभके सहारे बैठे हुए ये पाडुकजातिके विद्याधर है ॥१७॥ काले काले मृगचर्मोको ओढे, काले चमड़ेके वस्त्र और मालाओको धारे कालस्तभका आश्रय लेकर बैठे हुए ये कालश्वापाकी जातिके विद्याधर है ॥१८॥ पीले वर्णके केशोसे भूषित, तप्तस्वर्णके भूषणोके धारक श्वपाकविद्याओके स्तभके सहारे बैठनेवाले ये श्वपाकजातिके विद्याधर है ॥१६॥ वृक्षोके पत्तोके समान हरे वस्त्रोको धारण करनेवाले, भाति-भातिके मुकुट और मालाओके धारक पर्वतस्तभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्वतेयजातिके विद्याधर है ॥२०॥ जिनके भूषण बासके पत्तोके बने हुए हैं, जो सब ऋतुओके फूलोकी मालाएं पहिने हुए है और वशस्तभके सहारे बैठे हुए है वे वंशालयजातिके विद्याधर है ॥२१॥ महासर्पके चिन्होसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोको धारण करनेवाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलकजातिके विद्याधर है ॥२२॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा-द्वारा अपने अपने वेष और चिन्ह-युक्त भूषणोसे विद्याधरोका भेद जानकर कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थान चले आए, एव अन्यविद्याधर भी अपने अपने स्थान चले गए।"

इस उल्लेखपरसे इतना ही स्पष्ट मालूम नही होता कि मातग जातियोंके चाडाल लोग भी जैन मन्दिरोमे जाते और पूजन करते थे, बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशानभूमिकी हड्डियोके आभूषण पहने हुए तथा मृगछाल ओढे, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथमे लिये हुए भी जैनमन्दिरोमे जा सकते थे[1]।

---

१. यहाँ किसीको यह समझने की भूल न करना चाहिये कि लेखक आजकल ऐसी अपवित्र दशामे मन्दिरोमे जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजाकरनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके लिये स्थान भी नियत था, जिससे उनका जैन मन्दिरमे जानेका और ज्यादा नियत अधिकार पाया जाता है[1]। जान पड़ता है उस समय सिद्धकूट-जिनालयमे प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बड़ा विशाल मडप होगा और उसमे स्तभोके विभागसे सभी आर्य-अनार्य-जातियोके लोगोके बैठनेके लिये जुदा जुदा स्थान नियत कर रक्खे होगे। आजकल जैनियोमे उक्त सिद्धकूट-जिनालयके ढंगका, उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला, एक भी जैन मन्दिर नही है[2]। लोगोने बहुधा जैन मन्दिरोंको देव-सम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें अपनी ही चहल-पहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है। वे प्राय उन महौदार्य-सम्पन्न लोक-पिता वीतराग भगवानके मन्दिर नही जान पडते, जिनके समवसरणमे पशु तक भी जाकर बैठते थे। और न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, औदार्य तथा साम्यभावादि गुणोका कही कोई आदर्श ही नजर आता है। इसीसे वे लोग उनमे चाहे जिस जैनीको आने देते

---

१. श्रीजिनसेनाचार्यने ९ वी शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे लोगोका जैनमन्दिरमे जाना आदि आपत्तिके योग्य नही ठहराया और न उससे मदिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होने ऐसी प्रवृतिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नही समझा ?

२ चादनपुर श्रीमहावीरजीके मन्दिरमे तो वर्षभरमे दो एक दिन के लिये यह हवा आ जाती है कि सभी ऊँच-नीच जातियोंके लोग बिना किसी रुकावटके अपने प्राकृत वेषमे—जूते पहने और चमड़े-के ढोल आदि चीजे लिए हुए वहाँ चले जाते है, और अपनी भक्तिके अनुसार दर्शन पूजन तथा परिक्रमण कर वापिस आते है।

है और चाहे जिसको नही। कई ऐसे जैन मन्दिर भी देखनेमे आए है जिनमे ऊनी वस्त्र पहिने हुए जैनियोको भी घुसने नही दिया जाता! इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कही कुछ ठिकाना है! ऐसे सब लोगोको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोंके धर्म-साधनमे विघ्न करना, वाधक होना, उनका मन्दिर जाना वन्द करके उन्हे देव-दर्शनादिसे विमुख रखना और इस तरह पर उनकी आत्मोन्नतिमे रुकावट डालना बहुत बडा भारी पाप है। अजनासुन्दरीने अपने पूर्व जन्ममे थोडे ही कालके लिये जिनप्रतिमाको छिपाकर अपनी सौतके दर्शन-पूजनमे अन्तराय डाला था, जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममे २२ वर्ष तक पतिका दु सह वियोग सहना पडा और अनेक सकट तथा आपदाओंका सामना करना पडा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'रयणसार' ग्रन्थमे यह स्पष्ट वतलाया है कि 'दूसरोके पूजन और दान-कार्यमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्म-जन्मान्तरमे क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगदर जलोदर, नेत्रपीड़ा शिरोवेदना आदि रोग तथा शीत-उष्णके आताप और कुयोनियोमे परिभ्रमण आदि अनेक दु खोकी प्राप्ति होती है। यथा :—

खय-कुट्टसूलमूलो लोयभगदरजलोदरक्खिसिरो।
सीदुण्हवह्मराई पूजादाणतराय-कम्मफल ॥ ३३ ॥

इसलिये जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमे न जाने अथवा जिनपूजादि धर्म-कार्योंसे वञ्चित रखनेका दड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लघन ही नही करती, वल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वय अपराधिनी वनती है। ऐसी जाति-बिरादरियोके पचोकी निरकुशताके विरूद्ध आवाज उठनेकी जरूरत है और उसका वातावरण ऐसे ही लेखोके द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन पचायतोने 'जाति-

बहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और बिना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बलादिक और देश-कालकी स्थितिको पहचाने जहाँ तहाँ यद्वा तद्वा रूपमे उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयंकर तथा हानिकारक है। इस विषयमे श्रीसोमदेवसूरि अपने 'यशस्तिलक' ग्रन्थ (शक स० ८८१) में लिखते है :—

नवै· संदिग्ध-निर्वाहै र्विदध्याद्गणवर्धनम्।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नर ॥
यतः समयकार्यार्थो नाना-पंचजनाश्रयः।
अत सम्बोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नर.।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥

इन पद्योंका आशय इस प्रकार है · -

'ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्धनिर्वाह है—अर्थात् जिनके विषयमे यह सन्देह है कि वे जातिके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे।(और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है ? चूँकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्मकार्योंका प्रयोजन नाना पंचजनोके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है—अत. समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जातिसे पृथक न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वानकी – उपेक्षा कीजाती है—उसे जातिमे रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे पृथक किया जाता है— तो इस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पडता है। तत्त्वसे दूर जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है—समाजके साथ साथ धर्मको भी भारीहानि उठानी पड़ती है, उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नही हो पाता।'

आचार्यमहोदयने अपने इन वाक्यो-द्वारा जैन जातियो और जैन पचायतोको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। जब जब इस प्रकारके सदुपदेशो और सत्परामर्शों पर ध्यान दिया गया है तब तब जैन समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछसे कुछ होती रही है—इसमे अच्छे अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए और जैनियोने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमे यथेप्ट प्रगति की, साथ ही जैनधर्मका भी अच्छा अभ्युत्थान हुआ। परन्तु जबसे उन उपदेशों तथा परामर्शोकी उपेक्षा की गई तभीसे जैनसमाजका पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतितावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धिकी प्राय: सभी बाते स्वप्न-जैसी मालूम होती हैं, और यदि कुछ पुरातत्त्वज्ञो अथवा ऐतिहासिक विद्वानो-द्वारा थोड़ासा प्रकाश न डाला जाता तो इन पर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था। ऐसी हालतमे, अब जरूरत है कि जैनियोकी प्रत्येक जातिमे ऐसे वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हों जो बड़े ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पचो तथा मुखियाओको उनके कर्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित-विरोधिनी निरकुश प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करे। ऐसा होने पर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमे फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद, जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा जिसका बहना अब बन्द हो रहा है और उसके कारण समाजका सास घुट रहा है। आशा है समाजके सभी शुभचिन्तक अपने वर्त-मान कर्त्तव्यको समझेगे और बड़ी दृढताके साथ उसके पालनमें दत्तचित्त होगे।

२२

हम दुखी क्यों हैं ?

दुखभरी हालत

इसमे कोई सन्देह नही और न किसीको कुछ आपत्ति है कि आज कल हमे सुख नही, आराम नही और चैन नही। हमारी बेचैनी, परेशानी और घबराहट दिन पर दिन बढती जाती है, तरह तरहकी चिन्ताओने हमको घेर रक्खा है, रात दिन हम इसी उधेड़-बुनमे रहते है कि किसी तरह हमको सुख मिले, हम सुखकी नींद सोएँ, हमारे दुख-दर्द दूर हो, हमारी गर्दनसे चिन्ताओका भार उतरे और हमारी आत्माको शान्तिकी प्राप्ति हो । इसी सुख-शान्तिकी खोजमे—उसकी प्राप्तिके लिये— हम देशविदेशोमे मारे मारे फिरते है,जंगल बियावानोकी खाक छानते हैं, पर्वत-पहाड़ोसे टक्करे लेते है, नदी-नालो और समुन्द्रो तकको लाँघने या उनकी छाती पर मूंग दलनेकी कोशिश करते है। इसके सिवाय, दिन रात तेलीके बैलकी तरह घरके धन्धोकी पूर्तिके पीछे ही चक्कर लगाते रहते है, उन्हीके जालमे फँसे रहते हैं, उनका कभी ओड़ (अन्त) नही आता, उनकी पूर्ति और झूठी मान-बडाईके लिये धनकी चिन्ता हरदम सिर पर सवार रहती है, हरवक्त यही रट लगी रहती है कि 'हाय टका! हाय टका! टका कैसे पैदा हो! क्या करे कहाँ जाँय और कैसे करे!! किसी भी तरह क्यो न हो, टका पैदा होना चाहिये, तभी काम

चलेगा, तभी दुख मिटेगा। और इसलिये हर जायज नाजायज तरीके-से—उचिताऽनुचितरूपसे—हम रुपया पैदा करनेके पीछे पडे हुए है, उसीकी एक धुन और उसीका एक खब्त (पागलपन) हमारे सिरपर सवार है और उसकी सम्प्राप्तिमे इतना सलग्न रहना होता है कि हमे अपने तन-बदनकी भी पूरी सुध नही रहती। फिर इन बातोको तो कौन सोचे और कौन उनपर गहरा विचार करे कि 'हम कौन है, कहाँ से आए हैं, क्यो आए हैं, कैसे आए है, कहाँ जायँगे, कब जायँगे कैसे जायँगे, हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है, उसे पूरा करनेके लिये हमने कोई कार्रवाई की या नही, और हमे इस मनुष्य-शरीरको पाकर ससारमे क्या क्या काम करने चाहिये'। इन सब बातोको सोचने और विचारनेका हमारे पास समय ही नही है। हमको इतनी फुर्सत कहाँ जो इस प्रकारके विचारोंके लिए भी कुछ वक्त दे सके या ऐसे विचारोके साहित्यको ही पढ़-सुन सकें ? हमारी इधर प्रवृत्ति ही नही होती। गरज यह कि अपने सुखकी सामग्रीको एकत्र करने अथवा जुटानेके लिये हमे रात-दिन खडी अँगुलियो नाचना पडता है और पूर्णरूपसे उसीमे सलग्न रहना होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—धन-दौलत और झूठी इज्जत पैदा करनेके यत्नमे इतनी अधिक तत्परता होते हुए और उसे बहुत कुछ प्राप्त करते हुए भी—हमे सुख नही मिलता, शान्ति नसीब नही होती। चारो तरफ जिधर भी आँख उठाकर देखते हैं दु ख ही दु ख नजर आता है—हमारे स्वजन परिजन, इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी, यार दोस्त, अडौसी-पडौसी, नगर और देहातके प्रात्र सभी लोग दुख-दर्द-से पीड़ित हैं, हर ओरसे दुखदर्दभरी आवाजे ही सुनाई पडती है। अपना ही दुख दूर नही होता तब दूसरोंके दुखको मालूम करने और दूर करनेकी फिक्र कौन करे ? कौन किसी पर दया अथवा रहम करे ? कौन किसीको मदद करे ? और कैसे कोई किसीके दुखदर्दमे काम आवे ? हर एकको अपनी अपनी पडी है, अपने ही मतलबसे

मतलब है, अपनी स्वार्थसिद्धिके सामने दूसरोकी जान, माल, इज्जत और आबरू (प्रतिष्ठा) कोई चीज नही—उसका कुछ भी मूल्य नही है। इस तरह और ऐसी हालतमें हमारा दुख घटनेकी जगह उल्टा दिनपर दिन बढ़ रहा है और हमे चैन या सुख-शाति नही मिलती।

धार्मिक पतन

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसा क्यो हो रहा है ? हमारा दु ख क्यों बढ़ रहा है ? इसका सीधा सादा उत्तर, यद्यपि, यह दिया जा सकता है कि हममेसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जा रहा है उसीका यह नतीजा है कि हम दु खी है और हमारा दु ख बढ रहा है। और इस उत्तरकी यथार्थता अथवा उपयुक्ततापर कोई आपत्ति भी नहीं की जा सकती; क्योंकि धर्म सुखका कारण है और कारणसे ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसे सबही मतमतान्तरके लोग मानते है। बडे बडे ऋषियो मुनियों और महात्माओंने धर्मको ही लोक-परलोकके सभी सुखोका कारण बतलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि वह जीवोको ससारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोमे धारण करनेवाला है। और वही अकेला एक ऐसा मित्र है जो परलोकमे भी साथ जाकर इस जीवके सुखका साधन बनता है— उसे सुखकी सामग्री प्राप्त कराता है—इसीसे आत्माका अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। धर्मके स्वरूप पर विचार करनेसे भी ऐसा ही मालूम होता है—उसकी महिमा तथा शक्तिमें कुछ भी विवाद नही है। प्रत्युत इसके, अधर्म या पाप दुःखका कारण है, हरएक जिल्लत-मुसीबतका सबब अथवा दुर्गति-विपत्तिका निदान है। अत. हमारी मौजूदा दुखभरी हालत हमारे पापी आचरणकी दलील है, बुरे कर्मोंका नतीजा है और इस बातको जाहिर करती है कि हममें धर्मका आचरण प्राय. नही रहा।

वास्तवमे, हम धर्म-कर्मसे बहुत गिर गये है और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्राय: पीतल या मुलम्मा मालूम होता है। हमारी पूजा, भक्ति सामायिक व्रत, नियम उपवास, दान, शील, तप और सयम आदिकी जो भी क्रियाएँ धर्मके नामसे नामाकित हैं—जिनको हम 'धर्म' कहकर पुकारते हैं—उनमे भी धर्म प्राय नही रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमे लटकते हुए थनोके समान है[1]। बकरीके गलेके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते है—उनका आकार थनो जैसा होता है—परन्तु वे थनोका काम नही देते, उनसे दूध नही निकलता। ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओ-की हो रही हैं। वे देखने-दिखानेके लिये ही धार्मिक क्रियाएँ है, परन्तु उनमे प्राण नही, जीवन नही, धर्मका भाव नही और न हमे उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्राय एक दूसरेकी देखादेखी, रीति-रिवाज-की पाबन्दी अथवा रूढिका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यश कीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरे ही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती है। उनके मूलमे प्राय अज्ञानभाव, लोकदिखावा, रूढिपालन, मानकषाय और दुनियासाजीका भाव भरा रहता है, यही उनकी फूक और यही उनकी चाबी-कुजी है। उन क्रियाओको सम्यकचारित्र नही कह सकते, सम्यक्चारित्रके लिये सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाज़िमी है और वह लौकिक प्रयोजनोसे रहित होता है। जो क्रियाएँ सम्यक्ज्ञानपूर्वक अपना आत्मीय कर्तव्य समझ कर नही की जाती, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ है, मिथ्याचारित्र हैं, और अन्त मे ससारके दु खोका कारण है। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे प्रसिद्ध होनेवाली

---

१. भावहीनस्य पूजादि-तपो-दान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिक च स्यादजाकठस्तनाविव ॥

वर्तमान क्रियाओको 'सम्यक्चारित्र' न कहकर 'यात्रिक चारित्र' अथवा जड-मशीनो-जैसा आचरणक हना चाहिये। उनसे धर्म-फल-की प्राप्ति नही हो सकती, क्योंकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नही होती[१]।

इसके सिवाय, जिधर देखिये उधर ही हिंसा, झूठ, चोरी, लूट-खसोट मारकाट सीनाजोरी विश्वासघात, रिश्वत—घूस, व्यभिचार, बलात्कार, विलासप्रियता विषयाशक्ति और फूटका बाजार गर्म है, छल-कपट, दभ-मायाचार, धोखा, दगा, फरेब, जालसाजी और चालबाजीका दौरदौरा है; जूआ भी कुछ कम नही, और सट्टे ने तो लोगोका बधना-बोरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है, लोगोके दिलोमे ईर्षा, द्वेष, घृणा और अदेखसकाभावकी अग्नि जल रही है, आपस-के वैर-विरोध, मनमुटाव और शत्रुताके भावसे सीने स्याह अथवा हृदय काले हो रहे है, भाई भाईमे अनबन, बाप-बेटेमे खिचावट, मित्रो-मित्रोमें वैमनस्य और स्त्री-पुरुषोमे कलह है, चारो ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है, लोग क्रोधके हाथोसे लाचार है, झूठे मानकी शानमे हैरान व परेशान हैं और लोभकी मात्रा तो इतनी बढी हुई है तथा बढ़ती जाती है कि दयाधर्मके माननेवाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोको बेचने लगे है, उन्हे अपनी छोटी छोटी सुकुमार कन्याओंका हाथ बूढे बाबाओको पकड़ाते हुए जरा भी संकोच नही होता, जरा भी तरस या रहम नही आता और न उनका वज्र हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए धड़कता या काँपता है। फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो बात ही क्या है ? वह तो उनके पास भी नही फटकती। प्राय सभी जातियोंमें कन्याविक्रयका व्यापार

---

१ यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ।
—कल्याणमदिर

बढा हुआ है, खूव सौदे होते है, असतोष फैल रहा है और तृष्णाकी कोई हद नही। लोग मदिर-मूर्तियो और धार्मिक सस्थाओ तकका माल हजम कर जाते है, देवद्रव्यको खा जाने और तीर्थोंका माल उडा जानेमे उन्हे कोई सकोच नही होता। इधर झूठी मान-वडाई-के लोलुपी अथवा मिथ्या प्रतिष्ठाके उपासक.विधवाओके गर्भ गिरा-कर या उनके नवजात बच्चोको, प्रसव गुप्त रखनेके अभिप्रायसे, वन-उपवन, कूप-बावडी नदी-सरोवर या सडास आदिमे डालकर अथवा जीता गाडकर, गर्भपात और बालहत्यादिकके अपराधोकी सख्या बढा रहे हैं। और अब तो कही कहीसे रोगटे खडे करनेवाले ऐसे दुराचार भी सुननेमे आने लगे है कि एक प्रतिष्ठित पुरुष अपनी स्त्री-के पेटसे लडका पैदा करनेकी धुनमे, नही नही पागलपनमे, दूसरे मनुष्यके निर्दोष बच्चेको मारकर उसके गर्म गर्म खूनसे अपनी गर्भ-वती स्त्रीको नहलाता और खुश होता है। ओह! कितना भयकर दृश्य है!! कितनी सगदिली अथवा हृदयकी कठोरता है!! धर्मका, श्रद्धाका, मनुष्यताका कितना दिवाला और आत्माका कितना अधिक पतन है!!! खुदगरजीकी भी हद हो गई!!! ये सब बातें धर्मके पतन और उसकी हममे अनुपस्थितिको दिनकर-प्रकाशकी तरहसे प्रकट कर रही है। ऐसी हालतमे 'हममेसे धर्म उठ गया' यह कहना कुछ भी अनुचित या बेजा नही है।

परतु फिर यह सवाल पैदा होता है कि धर्म क्यो उठ गया? किन कारणोसे हम उसे छोड़ने अथवा उसकी तरफ पीठ देनेके लिए मजबूर हो रहे हैं? क्यो उसके धारण या पालन करनेमे हमारी प्रवृत्ति नही होती? और इसलिये हमारा दु ख क्यो बढ रहा है इस प्रश्नका यह उत्तर कि 'हममेसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जाता है' ठीक होते हुए भी पर्याप्त नही है—काफी नही है। इतने परसे ही हमारी सतुष्टि अथवा भरपाई नही होती—हमारे ध्यानमें अपने दु खोके कारणोका नकशा पूरी तौरसे नही बैठता—

हमे स्पष्टताके साथ यह जाननेकी ज़रूरत है कि हमारा दु:ख क्यों बढ रहा है ? वास्तवमे जो कारण हमारे दु:खके बढनेका है वही हममेसे धर्मके उठ जानेका है। एकके मालूम होनेपर दूसरेको मालूम करनेकी जरूरत नही रहती। एक सवालके अच्छी तरहसे हल हो जाने पर दूसरा ख़ुद-ब-ख़ुद (स्वयमेव) हल हो जाता है, और इसलिये हमे वह ख़ास कारण मालूम करना चाहिये जिसकी वजहसे हमारा दु ख बढ रहा है या हममे से धर्म उठ गया और उठता जाता है।

आवश्यकताओंकी वृद्धि

जहाँ तक मैने इस मामलेपर गौर तथा विचार किया और उसके हर पहलू पर नज़र डाली, हमारे दु खोका प्रधान कारण सिवाय इसके और कुछ प्रतीत नही होता कि 'हमने अपनी जरूरियातको—आवश्यकताओको—फिजूल बढा लिया है, वैसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणतिको बिगाड़ लिया है और दिनपर दिन उनमे और वृद्धि करते चले जाते हैं। फिजूलकी जरूरियातका बढा लेना ऐसा ही है जैसा कि अपनेको ज़ंजीरोसे बाँधते जाना। एक हाथी पैरमे ज़ंजीरके पड जानेसे ही पराधीन हो जाता है—अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे घूम-फिर नही सकता—उसको वह सुख नसीब नही होता जो स्वाधीनतामे मिलता था। पराधीनतामे सुख है ही नही। कहावत भी प्रसिद्ध है—'पराधीन सुपनेहु सुख नाही'। फिर जो लोग चारो तरफसे जंजीरोमे जकड़े हुए हो—फिजूलकी जरूरियातके बन्धनोमे बँधे हो—उनकी पराधीनताका क्या ठिकाना है ? और उन्हे यदि सुख न मिले—शाँति नसीब न हो—तो इसमे आश्चर्य तथा विस्मयकी बात ही क्या है ? व्यर्थकी जरूरियातको बढ़ा लेना वास्तवमे दु खोको निमन्त्रण देना ही नही, उन्हे मोल ले लेना है।

एक मनुष्य छह सौ रुपये मासिक वेतन (तनख्वाह) पाता है

और दूसरा पचास रुपये मासिक। पचास रुपये पानेवाले भाईकी तरक्की (वृद्धि) होकर सौ रुपये मासिक हो गये और छह सौ रुपये मासिक पानेवाले भाईकी तनज्जुली (पदच्युति) ने एकदम दो सौ रुपयेकी रकम कम कर दी, और उनकी तनख्वाह सिर्फ चार सौ रुपये मासिक रह गई। पचास रुपये पानेवाला भाई अपनी उन्नति तथा पदवृद्धिके समाचार पाकर खुश हो रहा है, आनद मना रहा है, अगमे फूला नही समाता और इष्टमित्रोमे मिठाइया बाँटता है। प्रत्युत इसके, छह सौ रुपये माहवारका तनख्वाहदार (वेतन-भोगी) अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी खबर पाकर रो रहा है, झीक रहा है, दु खितचित्त और शोकातुर हुआ सोच रहा है कि 'मुझसे कौनसी खता अथवा चूक हुई ? क्या अपराध बन गया ? मैने कौनसा बिगाड किया, जिससे मेरा दर्जा घटा दिया गया ? किसने मेरी चुगली की ? किसने आफीसर (हाकिम) के सामने मेरी झूठी-सच्ची बाते ज़ाहिर की ? हाय ! मेरी तकदीर फूट गई ! भाग्य उलट गया ! ! अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे करूँ ! ! बडा दु ख है ! ! !'

इन दोनो भाइयोके अन्त करणकी हालतको यदि ठीक तौरसे देखा जा सके, तो इसमे सदेह नही कि बड़ी तनख्वाहवाला दुखी और छोटी तनख्वाहवाला सुखी मिलेगा। परतु यह क्यो ? रुपयेकी कमी-बेशी ही यदि सुख-दुखका कारण हो, तो बड़ी तनख्वाहवाले को, जिसकी तनख्वाह घट जानेपर भी दूसरे तरक्की पानेवाले भाईसे चौगुनी रहती है, ज्यादा सुखी होना चाहिये—उसके सुखकी मात्रा दूसरेसे चौगुनी नही तो तिगुनी या दुगुनी तो जरूर होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नही देखा जाता, वह दूसरेके बराबर भी अपनेको सुखी अनुभव नही करता। इसकी वजह है और वह यह है कि, पचास रुपये पाने वाले भाईने तो अपनी जरूरियातको पचास रुपयेकी बना रक्खा था—पचास रुपयेके भीतरही अपने सम्पूर्ण खर्चोंको परिमित

कर रक्खा था—वेतन आते ही आटा, दाल, घी, तेल, नमक मिरच, मसाला, कपड़ा लत्ता, जेवर और रिज़र्व फंड वगैरह सब विभागोमे वह उसका बटवारा कर देता था। अब वेतनके बढ जानेपर एकदम पचास रुपयेकी बचत होने लगी और खर्च प्राय ज्योका त्यो रहा, इससे उसे आनद ही आनंद मालूम होने लगा। परन्तु छह सौ रुपये वाले भाईकी हालत दूसरी थी—उसकी जरूरियात पचास रुपये या सौ दोसौ रुपयेकी नही थी बल्कि छह सौ रुपये मासिकसे भी बढ़ी हुई थी। उसने अपनी जाहिरी हैसियत अथवा स्थितिको छह सौ रुपये से भी अधिककी बना रक्खा था—नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, बाग बगीचे, फूल फुलवाडी, कमरेकी शोभा सजावट वगैरह सब तरहका साज सामान था, रोजाना हजामत बनती थी, तीसरे दिन पोशाक बदली जाती थी; हर साल घरभरके लिये अच्छे नये नये कपड़े सिलते थे और दो चार बार पहनकर ही रद्दी कर दिये जाते थे, मेहमानोकी सेवा-शुश्रूषा भी खूब दिल खोलकर होती थी; घरमे मेवा, मिठाई, फल, फूल और नाना प्रकारके भोजनोंकी हरदम रेल पेल अथवा चहल पहल रहती थी, स्त्रियाँ देवांगनाओं जैसे वस्त्राभूषणोंसे भूषित नज़र आती थी, उनके जेवरोकी कोई संख्या अथवा सीमा न थी, और बच्चे मखमल, कीमख्वाब, अतलस तथा रेशमसे घिरे हुए और जरी तथा सलमासितारेके कामोंसे जड़े हुए मालूम होते थे, नाटक थियेटरका भी शौक चलता था, प्राय दो चार मित्रोको साथ लेकर और उनका भी खर्च स्वयं उठाकर ही वह उन तमाशोंको देखने जाया करता था; बाकी विवाह-शादीके खर्चोंका तो कोई परिमाण अथवा हिसाब ही नही था—उनके लिये तो अकसर क़र्ज भी ले लिया जाता था और साथ ही पूर्वजोकी पैदा की हुई सम्पत्ति (जायदाद) का भी सफाया बोल दिया जाता था। अब एकदम दोसौ रुपये मासिककी आमदनी कम हो जानेसे उसको फिक्र पड़ी और चिन्ताने आघेरा। वह सोचने लगा कि 'किसी नौकरको हटा दूँ, गाड़ी टमटम

वगैरहमेसे किसीको अलग कर दूँ, कमरेकी शोभा-सजावट और अपने मनोविनोद (दिल बहलाव)का सामान कम करदूँ, महमानोकी सेवा-सुश्रूषामे आनाकानी करने लगूँ या उसमे कमी करदूँ, स्त्रियो तथा बच्चोका पहनावा बदलदूँ या उसे कुछ घटिया करदूँ, इष्ट-मित्रोंसे आँखे चुराने लगूँ, नाटक-थियेटरमे जाना या वहाँ खास सीटोका रिजर्व कराना बन्द करदूँ, खाने-पीनेकी सामग्री जुटानेमे किफायत और अहतियातसे काम लेने लगूँ और या विवाह-शादी वगैरहके खर्चोंमे कोई आदर्श कमी करदूँ'। गरज, जिस चीजको कम करने, घटाने या बदलने वगैरहकी बात वह सोचता है उसीसे उसके दिलको धक्का लगता है, चोट पहुँचती है हैसियत अथवा पोजोशनके बिगडने और शानमे बट्टा लग जानेका खयाली भूत सामने आकर खडा हो जाता है, वह जिस ठाट-बाट, साज-सामान और आन बानसे अब तक रहता आया है, उसीमे रहना चाहता है, अभ्यासके कारण वे सब बाते उसकी आदत और प्रकृतिमे दाखिल हो गई है, उनमे जरा भी कमी या तबदीली उसे बहुत ही अखरती है और इस तरह वह दुःख ही दु.ख महसूस (अनुभव) करता है। दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि अधिक धनके नशेमे जिन जरूरियातको फिजूल बढा लिया था वे ही अब उसके गलेका हार बनी हुई है, उन्हे न तो छोड़ सकता है और न पूरा किये बनता है, दोनो पाटोके बीच जान अन्दर अजाबमे अथवा सकटापन्न हे। और इससे साफ जाहिर है कि जरूरियातको फिजूल बढा लेना अपने हाथो खुद दु.खोको मोल ले लेना है—जो जितना ज्यादा अपनी जरूरियातको बढाता है वह उतना ही ज्यादा अपनेको दु खोके जालमे फँसाता है।

लघुपुत्र-सहित खड़ी हुई प्रेमभरे शब्दोंमें प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ! कुछ थोड़ासा भोजन तो जरूर कर लीजिये'। परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमें कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नहीं होता, वह बड़ी उपेक्षा बेरुखी अथवा झुंझलाहटके साथ उत्तर देता है कि 'तुम्हें भोजनकी पड़ी है यहाँ जानको बन रही है, दस बज गये, रेलका वक्त हो गया, मुकद्दमेकी पेशी पर जाना है!!' इससे साफ जाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—फिक्रात वगैरहके गालिब आने पर—बाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूति और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नहीं बना सकती—वह प्रायः दुःखोंसे ही घिरा रहता है। अनेक कवियोंने तो चिन्ताको चिताके समान बतलाया है¹। दोनोंमें भेद भी क्या है? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है। उर्दूमें लिखिये तो चितापर चितासे एक नुक्ता ( ) ज्यादा आएगा और हिन्दीमें लिखनेसे एक बिंदी अधिक लगानी होगी। परन्तु इस नुक्ते या बिन्दीने गजब ढा दिया! चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिंता जीवितको भस्म कर देती है!! जिस शरीररूपी वनमें यह चिंता-ज्वाला दावानलकी तरहसे खेल जाती है, उसमें प्रकटरूपसे धुँआ नजर न आते हुए भी भीतर ही भीतर धुँआधार रहता है, काचकी भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त-मांस सब जल जाता है, सिर्फ हाडोंका पंजर ही पंजर चमडेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है। ऐसी हालतमें जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नहीं कह सकते। इसीसे ऐसे लोगोंके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते हैं—

चिंता ज्वाल शरीर बन दावानल लग जाय।

---

१. चिता चिंता समाख्याता बिन्दुमात्रविशेषतः।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता॥

प्रगट धुआँ नहि देखिये उर अन्तर धुँधवाय ॥
उर अन्तर धुँधवाय जले ज्यों काँचकी भट्टी ।
रक्त-मांस जर जाय रहै पिंजर की टट्टी ॥
कहै गिरधर कविराय सुनो रे मेरे मिता ।
वे नर कैसे जियें जाहि तन व्यापी चिंता ॥

नि सन्देह, चिंता ऐसी ही बुरी चीज है, वह मनुष्यको खा जाती है और उसकी जननी जरूरियातकी अफजूनी—आवश्यकताओंकी वृद्धि—है। जितनी जितनी जरूरियात बढती जाती है उतनी उतनी चिंताएँ पैदा होती जाती है। इसीसे भगवान महावीर और दूसरे धर्माचार्योंने गृहस्थोके लिये जरूरियातको घटानेकी—परिग्रहको कम करके संतोष धारण करनेकी—बात कही है, परिग्रहको पाप लिखा है और अधिक आरंभी तथा अधिक परिग्रह को नरकका अधिकारी अथवा महमान बतलाया है। अत सुखप्राप्तिके लिये जरूरियातको कम करना कितना जरूरी और लाजिमी है, इसे बुद्धिमान पुरुष स्वयं समझ सकते हैं।

वास्तवमे सुख कोई ऐसी वस्तु नही है जो कहीपर बिकती हो, किसी दुकान, हाट या बाजारसे किसी भी कीमतपर खरीदी जा सके, किसीकी खुशामद, सिफारिश या प्रेरणासे मिल सके या बदला करके लाई जा सके, बल्कि वह आत्माका निज गुण है—आत्मासे बाहर उसकी कही भी सत्ता नही है। ससारी जीव आत्माको भूल रहे है और इसलिये अपनी आत्मामें सुखकी जो अनुपम तथा अपार निधि गडी हुई है, उसे नही पहचानते और न उसकी प्राप्तिके लिये कोई यथेष्ट उपाय ही करते है। वे अपनी आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोमे सुखकी कल्पना किये हुए है, उनको ही अपने सुखका एक आधार मान बैठे है—उन्हे ही सब कुछ समझ रहे है—और इसलिये उन्हीके पीछे भटकते और उन्हीकी प्राप्तिके लिये रात दिन हैरान-परेशान और दत्तावधान हुए मारे मारे फिरते हैं। परन्तु उनको यह खबर नही कि

पर-पदार्थ तीन कालमे भी अपना नही हो सकता और न जड कभी चेतन बन सकता है, उसे अपना समझकर सुखकी कल्पना कर लेना भूल है, उसके सयोगके साथ वियोग लगा हुआ है—जिसका कभी सयोग होता है उसका एक न एक दिन वियोग जरूर होता है—चाहे वह हमसे पहले बिछुड जाय और या हम ही उससे पहले चलते बने, गरज वियोग जरूर होता है। और जिसके सयोगमे सुख मान लिया जाता है अथवा यो कहिये कि माना हुआ होता है, उसके वियोगमे नियमसे दु ख उठाना पडता है। इसलिये ऐसे सब ही परपदार्थ अतको दु खके कारण होते हैं। बीचमे भी किसी चिन्ता आदिके उपस्थित हो जानेपर उनका सारा सुख हवा हो जाता अथवा काफूर बन जाता है। अपनी ही खास स्त्रीकी बाबत यदि यह मालूम हो जाय कि वह अब बदचलन या दु शीला हो गई है—गुप्त व्यभिचार करती है—तो उसके साथ मिलने जुलनेका आनन्द जाता रहे, एक मित्रकी बाबत यदि यह पता चल जाय कि वह परोक्षरूपसे अपनेको हानि पहुँचाता है तो मित्रका सारा मजा किरकिरा हो जाय, और यदि एक अच्छे प्यारे सुन्दर तथा सुडौल बने हुए मकानकी बाबत बादको यह बात दिलमे बैठ जाय कि वह मनहूस है—अशुभ अथवा अमागलिक है—तो वह उसी वक्तसे अपनेको काटने लगे और उसमे रहना भारी पड़ जाय। दूसरे चेतन-अचेतन पदार्थोंका भी प्राय: ऐसा ही हाल है।

इसी तरह उनको यह भी खबर नही कि बाह्य पदार्थोमे जो सुखका अनुभव होता है वह खास उन पदार्थोंका अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाला सुख नही, बल्कि उनकी प्राप्तिके लिये हमारे अन्त करणमें जो एक प्रकारकी तडप, वेदना या तृष्णा हो रही थी उसकी यत्किंचित् शान्तिका सुख है। यदि वैसी कोई वेदना, तडप या तृष्णा न हो, तो उन पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ भी सुखका अनुभव नही किया जा सकता, और इसीलिये वह सुखकी अनुभूति प्राय वेदनाके अनुकूल होती है—वेदनाकी कमी-बेशी आदिकी अवस्था

अनुसार बाह्य पदार्थोंके सम्बन्ध पर आधार रखती है। यदि ऐसा न माना जाय, बल्कि उन बाह्य पदार्थोंको ही स्वय सुखका मूलकारण समझ लिया जाय तो चार रोटी खानेवालेको आठ रोटा खा लेनेसे डबल सुख होना चाहिये और जाडोके लिहाफ वगैरह भारी गर्म कपडोंको सख्त गर्मीके दिनोमे ओढने-पहननेसे जाडो-जैसा आनन्द मिलना चाहिये। परन्तु मामला इससे बिल्कुल उलटा है-- आठ रोटी खा लेनेसे उस आदमीकी जान पर आ बने, पेट फूल जाय, दर्द या कै (वमन) होने लगे अथवा चूर्ण-गोलीकी जरूरत खडी हो जाय; और जाडोके वे भारी भारी गर्म कपड़े गर्मियोमे पहनने-ओढनेसे चित्त एकदम घबरा उठे और सिरमे चक्कर आने लगे। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थोंमे स्वय कोई सुख नही रक्खा है और न वेदनाके पैदा होते रहने और उसका इलाज या उपचार करते रहनेमे ही कोई सुख है, बल्कि उसके पैदा न होने और इलाज तथा उपचारकी जरूरत न पडनेमें ही सुख है।

वास्तवमे यदि ध्यानसे देखा जाय तो पर-पदार्थोंमे सुख है ही नही, उनमे सुखका आधार एक मात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुखको सुख नही कह सकते, वह सुखाभास है - सुखसा दिखलाई देता है—मृगतृष्णा है। और इसलिये पर-पदार्थोंमे सुख कल्पित करनेवालोकी हालत ठीक उन लोगो-जैसी है जो एक पर्वतकी दो चोटियोंके मध्य-स्थित सरोवरमे किसी बहुमूल्य हारके पीछे गोते लगाते और लगवाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानीमे वह हार दिखलाई तो जरूर पड़ता था लेकिन पकडनेपर इधरसे उधर उचक जाता था—हाथमे नही आता था, और इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है ? इतनेमें एक जानकार शख्सने आकर उन्हे बतलाया था कि 'हार उस सरोवरमे नही है, और इसलिये कोटि वर्ष-पर्यन्त बराबर गोते लगाते रहने पर भी तुम उसे नही पा सकते, वह इस सरोवरके बहुत

ऊपर पर्वतकी दोनो चोटियोके अग्रभागसे बँधे हुए एक तारके बीचमे लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्बसे जलको प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ़कर वहाँ तक पहुँचनेकी कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे, अन्यथा नही--तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहनकी क्रिया व्यर्थ है।'

इसमे सन्देह नही कि जो चीज जहाँ मौजूद ही नही वह वहाँ पर कितनी भी ढूढ खोज क्यो न की जाय कदापि नही मिल सकती। कोई चीज ढूढने अथवा तलाश करनेपर वहीसे मिला करती है जहाँपर वह मौजूद होती है। जहा उसका अस्तित्व ही नही वहाँसे वह कैसे मिल सकती है? सुख चूँकि आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमे नही है इसलिये उन पदार्थोंमे उसकी तलाश फिजूल है, उसे अपनी आत्मामे ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलोके नीचे दबा हुआ है, हमारी कैसी परिणतिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है। परन्तु हम अपनी आत्माकी सुध भूले हुए है, उसकी सुख-की निधिसे बिल्कुल ही अपरिचित्त और अनभिज्ञ है और इसलिये सुखकी तलाश आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमे – विजातीय वस्तुओ-मे--करते है। सुखकी प्राप्तिके लिये उन्हीके पीछे पडे हुए हैं—यहाँसे भी सुख मिलेगा, यह भी हमको सुख दे सकेगा इसी प्रकारके विचारोसे बँधे हुए हम उन्ही पदार्थोंका सग्रह बढाते जाते है, उन्ही-की जरूरियातको अपने जीवनके साथ चिपटाते रहते है और इस तरह खुद ही अपनेको दुःखोके जालमे फँसाते और दुखी होते है, यह अजब तमाशा है॥

× × ×

अपनी भूल

एक तोता नलिनी पर आकर बैठता है और उसकी नलीके घूम जाने से उलटा होकर उसे पकडे हुए लटका रहता है, उडनेकी खुली शक्ति होते हुए भी नही उडता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि वह उस वक्त अपनी आकाश-गतिको भूल जाता है उडनेकी शक्तिका उसे ध्यान नही रहता और यह समझने लगता है कि मुझे इस नली ने पकड रक्खा है। यद्यपि उस नलीने उसे ज़रा भी नही पकड़ा, उसने खुद ही अपने पजोसे उसे दबा रक्खा है, वह चाहे तो अपने पजोंको खोलकर उस नलीको छोड़ सकता है और खुशीके साथ आकाशमे उड सकता है। परन्तु अपनी भूल और ना-समझीकी वजहसे वह वैसा न करके उलटा लटका रहता है और फिर शिकारीके हाथमे पड़कर तरह तरहके दुख तथा कष्ट उठाता है। ठीक ऐसी ही हालत हमारी है, हम अपने आत्माके स्वरूप और उसके सुखस्वभावको भूले हुए है और यह गलत समझे हुए हैं कि इन परिग्रहो अथवा जरूरियातने, जिनको हमने ही बढाया और हमने ही अपने पीछे लगाया है, हमारा पिड पकड़ रक्खा है और वे अब हमको छोड़ते नही है। इसीसे उस तोतेकी तरह हम भी नाना प्रकारके बन्धनोमे पडकर दुखोमे अपना आत्म-समर्पण कर रहे हैं---अपनेको दुखोकी भेट चढा रहे है। हमारी इस दशाको ध्यानमे रखते हुए ही कविवर प० दौलतरामजीने यह वाक्य कहा है —

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायो ॥

यह वाक्य हम पर बिल्कुल चरितार्थ होता है। यदि अब भी हम अपनी भूलको सुधारलें और अपने सुख-दुखके साधनो तथा कारणोको ठीक तौरपर समझ जायें तो हम आज भी अपनी जरूरि-

यातको घटाकर, परिग्रहको कम करके और रीतिरिवाजको बदलकर बहुत कुछ सुखी हो सकते है । यह सब हमारे ही हाथका खेल है और उसे करनेके लिये हम सब प्रकारसे समर्थ हैं—सिर्फ भूलका ज्ञान और उसके सुधारके लिये मनोबलकी जरूरत है।

यहाँपर मै इतना और भी बतला देना चाहता हू कि बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे यदि हमें सुख मिल सकता है, तो वह तभी मिल सकता है जब कि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ हर वक्त हमारी इच्छाके अनुसार प्रवर्त्ता करे—उनके सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा अलटन-पलटन और उनकी गति-स्थितिको लिये हुए समस्त क्रियाएँ हमारी मर्जी तथा रुचिके अनुकूल हुआ करे। परन्तु ऐसा हो नही सकता, क्योकि उन पदार्थोका परिणमन—उनमे किसी परिवर्तन अथवा क्रिया-विक्रियादिका होना स्वयं उनके अधीन है—उनके स्वभाव आदिके आश्रित है—हमारे अधीन नही।

जो लोग उनको सब तरहसे अपने अधीन चाहते है और खाली इस प्रकारकी कामनाएँ किया करते है कि—इस वक्त वर्षा हो जाय, क्योकि सख्त गर्मी पड़ रही है या हमारा खेत सूखा जा रहा है,इस समय वर्षा न होवे या बन्द हो जाय, क्योकि हम सफर (यात्रा) मे हैं या सफरको जा रहे हैं, हमारे मकान टपके नही, उनमें वर्षाकी बौछार न आवे, जाड़ेमें ठँडी और गर्मियोमे गर्म हवा न घुसे, वे ज्योके त्यो बने रहे, टूटे-फूटे भी नही और न मैले-कुचैले ही हों, हमारे शरीरमें कोई रोग पैदा न हो, कोई बीमारी हमारे पास न आए, हम खूब हृष्ट-पुष्ट, तन्दुरुस्त, बलवान और जवान बने रहे, हमारे बाल भी सफेद न होने पाएँ, हमारे कपड़े जैसे तैसे उजले और नए बने रहें वे फटे भी नही और न उनपर कही कोई दाग़ धब्बा या खुरे आदिका निशान ही होने पावे, हमारी किसी चीज़को नुकसान न पहुँचे, किसीका रग रूप भी न बिगड़े और न कोई घिसे या-घिसावे; हमको किसी भी इष्ट वस्तुका वियोग न सहना पडे, हमारे

कुटुम्बके सब लोग तथा मित्रादिक कुशल-क्षेमसे रहें हमे उनमेसे एक का भी दु ख न देखना पड़े, हमारा कोई विरोधी या शत्रु पैदा न हो, किसी अनिष्टका हमारे साथ सयोग न हो सके, हमारी पैदा की हुई इज्ज़त प्रतिष्ठा या बातमे किसी तरह भी फर्क न आवे—वह ज्यों की त्यो बनी रहे—और हम सब प्रकारके आनद तथा सुख भोग करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें, वगैरह वगैरह। ऐसे लोग फिज़ूल हैरान तथा परेशान होते हैं और व्यर्थ ही अपनेको दुखी बनाते है, क्योकि उन कामनाओका पूरा होना सब तरहसे उनके अधीन नही होता. वे जिन सुखोको चाहते हैं वे सब बहुत कुछ पराश्रित और पराधीन हैं और पराधीनतामें कही भी सुख नही है। सुखका सच्चा उपाय 'स्वाधीन-वृत्ति' है। जितनी जितनी स्वाधीनता—आज़ादी और खुदमुख्तारी—बढती जाती है, दूसरेकी बीचमे ज़रूरत या अपेक्षा नही रहती, उतनी उतनी ही हमारे सुखमे बढवारी होती जाती है; और जितनी जितनी पराधीनता—गुलामी मुहताजी और बेबसी—उन्नति करती जाती है उतनी-उतनी ही हमारे दु:खमे वृद्धि होती जाती है। फिज़ूलकी ज़रूरियातको बढा लेनेसे पराधीनता बढती है और उससे हमारा दुख बढ जाता है। अत' हमको, जहाँ तक बन सके, अपनी ज़रूरियातको बढाना नही चाहिये, बल्कि घटाना चाहिये और ऐसी तो किसी भी ज़रूरतका अपनेको आदी, व्यसनी या वशवर्ती न बनाना चाहिये जो फिज़ूल हो या जिससे वास्तवमे कोई लाभ न पहुँचता हो। ऐसा होनेपर हमारा दु:ख घट जायगा और हमे सुख आसानीसे मिल सकेगा।

× × ×

८६. प्रश्न

यहाँ पर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि जरूरियात तो जरूरियात ही होती है उनमे फिजूलियात क्या, जिनको छोड़ा या घटाया जावे ? अत इसकी भी कुछ व्याख्या कर देनी जरूरी और मुनासिब मालूम होती है । यह ठीक है कि जरूरियात जरूरियात ही होती है परन्तु बहुतसी जरूरियात ऐसी भी होती है जो फिजूल पैदा करली जाती है या जिनको पूरा न करनेसे वस्तुत कोई हानि नही पहुँचती । ऐसी सब जरूरियात फिजूलियातमे दाखिल हैं और वे आसानीसे छोडी या घटाई जा सकती है । कल्पना कीजिये, एक मनुष्य क्रोधकी हालतमे अपने पेटमे छुरी या सिरमे ईंट मार कर घाव कर लेता है और फिर उस पर मरहम पट्टी करने बैठता है, घावको वह मरहम-पट्टी जरूरी हो सकती है,परन्तु यह जरूर कहना होगा कि उसने उसकी जरूरियातको फिजूल अपने आप पैदा किया है और वह आगेको वैसी कुचेष्टाओसे बाज (विमुख) रह सकता है। एक आदमी बहुतसी शराब पीकर अपनी विषयवासनाको भडकाता अथवा उत्तेजित करता है और इससे उसे बेवक्त ही एक स्त्रीकी जरूरत पैदा होती है, यह जरूरत भी फिजूलकी जरूरत है—स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नही है—और उसको पूरा न करनेसे कोई खास नुकसान नही पहुँचता । इस तरहकी न मालूम कितनी जरूरियातको हम पैदा करते रहते है और उनको पूरा करनेमे अपनी शक्तिका व्यर्थ ही नाश तथा दुरुपयोग करते चले जाते है ।

एक छोटेसे बच्चेको, जिसे भले-बुरेकी कुछ भी पहिचान अथवा तमीज नही है और जिसे चाहे जिस साँचेमे ढाला जा सकता है, उसके माता पिता यदि बढ़िया बढ़िया रेशम, कीमख्वाब, अतलस, मखमल और सुनहरी कामके वस्त्र पहनाते है और इस तरह उसमे शौकीनी तथा विलासिताका भाव भरते हैं, जिसकी वजहसे वह बादको साधा-

रण सादे वस्त्र पहनना पसद नही करता और उसके शौक तथा हठको पूरा करनेके लिये फिर वैसे ही या उससे भी अच्छे वढिया बहुमूल्य वस्त्रोकी जरूरत खडी होती है तो क्या यह फिजूलकी जरूरत पैदा करना नही है ? अवश्य है। और यदि उसे पैदा न करके या पूरा न करके उस वच्चेको सादा कपडे ही पहननेको दिये जायँ तो इससे उस बच्चेकी तन्दुरुस्ती या स्वास्थ्य वगैरहको कोई नुकसान नही पहुँच सकता।

खाना-पीना जीवित रहनेके लिये जरूरी ज़रूर है परन्तु बढिया, शौकीनी, चटपटे मसालेदार, अधिक गरिष्ठ, अधिक भारी देरसे पचनेवाला और खूब उत्तेजक खाना-पीना, परिमाणसे अधिक खाना और हर वक्त या बेवक्त खाना उसके लिये कोई जरूरी नहीं है। ऐसे खाने-पीने तथा आटेके स्थानमे मैदेका ही अधिक व्यवहार करनेकी वजहसे यदि पेट खराव हो जाय, पाचन शक्ति जाती रहे, स्वास्थ्य बिगड जाय और हर वक्त चूर्ण गोली या दवाईके सेवनकी अथवा हकीम डाक्टर या वैद्यके पास जानेकी जरूरत रहने लगे, तो क्या इस व्यर्थकी जरूरतकी कभी पीठ ठोकी जा सकती है ? कदापि नही। उसे जहाँ तक वन सके शीघ्रही भोजनमे सुधार और सयमसे काम लेकर दूर कर देना चाहिये। हमारे स्वास्थ्यकी खराबीका अधिकतर आधार इस खाने-पीनेकी गडबड़ी, असावधानी या जिह्वाकी लोलुपता, शौकीनी और सयमकी कमी पर ही है, और इससे हमारी शक्तियोका बहुत ही दुरुपयोग हो रहा है और हम अपने बहुतसे कर्तव्योकी पूर्तिसे वंचित रहते हैं।

पहनने-ओढनेका भी ऐसा ही हाल है। कपडा तन-बदनको ढकने और सर्दी-गर्मीसे वचनेके लिये होता है और उसकी यह गरज वहुत सादा तरीको पर अच्छी तरहसे पूरी की जा सकती है। कोई पचास साठ वर्ष पहले हमारी माताएँ और बहनें अपने काते हुए सूतके कपड़े तय्यार कराती थी और वे गाढेके कपडे घर भरके

लिये काफी हो जाते थे । करीब चालीस पचास रुपयेकी लागतमे एक अच्छे कुटुम्बका खुशीसे पूरा पट जाता था । स्त्रियाँ अपने दावन (लहँगे) ओढने कसूभे आदिके प्राकृतिक रगमे ही रंग लेती थी और प्राय वैसे ही दावन-ओढ़ने विवाह-शादियोमे दुलहनो (बहुओ)को चढाए जाते थे । परन्तु आज नुमाइशका भूत या खब्त हमारे सिर पर कुछ ऐसा सवार है कि उसके पीछे हम हर साल लाखो और करोड़ो रुपये फिजूल खर्च कर डालते हैं,विदेशी कपडोकी चमक-दमक और रग-ढगने हमारी आँखे खराब कर रक्खी हैं और हमे अपने पीछे पागलसा बना रक्खा है । कपड़ोकी भी कोई गिनती नही और न उनकी लागतका ही कोई तखमीना, अन्दाजा अथवा परिमाण पाया जाता है । भला एक छोटेसे बेखबर बच्चेको बीस, तीस, पचास या सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्यकी पोशाक पहना देनेसे क्या नतीजा है, जिसको अपने तन बदनका कुछ भी होश नही, जो उस कपड़ेकी कीमत और कद्रको नही जानता, झटसे उसे मैली या खराब कर देता है और जिसको उसके पहननेमे कुछ भी आनन्दका अनुभव नही होता, बल्कि कभी कभी तो भारसा मालूम पड़ता है ? इसे खब्त नही तो और क्या कह सकते है ? ऐसे बच्चोके माता पिता सचमुच ही उनके माता पिता अथवा हितैषी नही किन्तु शत्रु होते है, क्योकि वे उनमे शौकीनी तथा नुमाइशका भाव भरकर उनकी आगामी जरूरियातको फिजूल बढ़ाने और उनके जीवनको भाररूप बनानेका आयोजन करते है—सामान जोडते अथवा बीड़ा बाँधते हैं । इसी तरह स्त्रियोकी पोशाक और उनके जेवरातकी हालत समझिये । उनके पीछे समाजका बेहद रुपया फिजूल खर्च होता है । जिन स्त्रियोको बोलने तककी तमीज नही—विवेक नही—वे भी सिरसे पैर तक बहुमूल्य वस्त्रो तथा जेवरोसे लदी रहती हैं । मालूम नही, इससे उनको क्या पोष चढता है, उनकी आत्माको क्या लाभ और उनकी तन्दुरुस्तीको क्या फायदा पहुँचता है ?

बाकी रहे विवाह-शादियोके खर्च, उनका तो कोई ठिकाना ही नही। उनके साथमे तो फिजूलियातका एक बडा अध्यायका अध्याय खुला हुआ है—रोपना, सगाई, सजोया, टोपी, चिट्ठी, टेवा, हलद,-मँढा, लगन, भात, जीमन-जोनार, भाजी, नौता, गाना-बजाना, नाचना, सीठना, बेल बासना, घोडीका चाव, चढत, बढियार, फेरे, सस्कार, बूर, बखेर, पत्तल, परोसा, दात, खैरात, मिलाई, दहेज, बरीपट्टा, रुखसत, बिदा और गौना वगैरहकी न मालूम कितनी और कैसी कैसी रस्मे अदा करनी पडती है और उनमे कितना खर्च होता है !! एक लाला साहबसे मालूम हुआ कि उनके पहले पुत्रकी शादीमें दुलहनके लिये दावनकी जो तीयल तैय्यार कराई गई थी उसको पाँचसौ रुपयेकी लागत लगती रही थी, दूसरे पुत्रकी शादीमें नौसौ रुपयेकी लागत आई और अब तीसरे पुत्रके विवाहमे पन्द्रहसौ रुपयेसे भी अधिक लागतकी तीयल तैय्यार कराई गई है। एक दावन, ओढने और आगीकी लागतका जब यह हाल है तब विवाहके कुल खर्चोंका तखमीना, जिसमे जेवर भी शामिल हैं, कितने हजार होगा, इसे पाठक स्वय ही समझ सकते है।

अब तो टोपियोके साथ चाँदीके वर्तन वगैरहके अतिरिक्त बडा ग्रामोफोन बाजा और बर्फ बनानेकी मशीन तक भी खेल-खिलौनोके तौर पर दी जाने लगी हैं। इससे जाहिर है कि विवाह-शादियोंके खर्च दिनपर दिन बढते जाते है और ये सब फिजूल खर्च हमारे खुदके बढ़ाए हुए है। समझमे नही आता, जब विवाहकी असली गरज और उसका खास काम बहुत थोड़ेसे रुपयोमे भी पूरा हो सकता है, तब उसके लिए हजारो रुपये खर्च करना कौन बुद्धिमत्ता और अक्लमदी की बात है ? और वह फिजूलियात नही तो और क्या है ? क्या एक विवाहमे अधिक खर्च कर देनेसे घरमे एककी जगह दो बहुएँ आजायेंगी या लड़कीका सुहाग (सौभाग्य) कुछ बढ़ जायगा ? और क्या स्त्रियाँ यदि बहुमूल्य वस्त्राभूषण न पहनकर सादा लिबासमे

रहने लगें तो इससे उनका स्त्रीपना ही नष्ट-भ्रष्ट अथवा रद्द और अमान्य हो जायगा ? यदि ऐसा कुछ नही है तो फिर फिजूल ज्यादा खर्च करके अपनेको दीन, हीन तथा मुहताज बनाने और मुसीबतोके जालमें फँसानेकी क्या जरूरत है ? इन विवाह-शादियोके फिजूल खर्चोंने ही लड़कियोको माता-पिताके लिये भारी बना दिया है और वे अक्सर उनका मरना मनाते रहते हैं। यह कितने दुःख और अफसोसकी बात है ! !

इसी तरहकी और भी मरने, जीने, मिलने, बिछुडने, उत्सव, त्यौहार, बनावट, सजावट, खेल, तमाशे, शौकीनी, विलासिता और मनोविनोद आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी जरूरियात फिजूल हैं, जिनको हमने ख्वाहमख्वाह अपने पीछे लगा रक्खा है और यदि हम चाहे तो उनको खुशीसे छोड़ सकते या कम कर सकते हैं। इन सब फिजूलकी जरूरियातने ही हमारे दुखको बढा रक्खा है, हमारे जीवनको बहुत ही खर्चीला (expensive) या अधिक धन पर आधार रखनेवाला बनाकर हमको अच्छी तरहसे तबाह और बर्बाद कर रक्खा है, इन्हीकी बदौलत हमारी आदत और प्रकृति बिगड़ गई है और हम धर्म या ईश्वरके उपासक न रहकर खाली धनके उपासक बन गये है, और इन्हीके कृपाकटाक्षका यह फल है जो हमारा धर्म-कर्म सब उठ गया, हममे वे सब बुरे कर्म अथवा पापाचरण घुस गये जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और हम अपने पूर्वजोंके आदर्शसे बिल्कुल ही गिर गये है।

आदर्शसे गिर जाना

हमारे पूर्वज पहले कितने सादा चालचलनके होते थे और कितना सादा जीवन व्यतीत करते थे, यह बात किसीसे भी गुप्त अथवा छिपी नही है। उनका खाना-पीना, पहनना-ओढना, शयन-आसन और रहन-सहनका सब सामान सादा तथा परिमित था, वे

व्यर्थकी टीपटाप नुमायश अथवा लोक दिखावेको पसन्द नही करते थे और न अपनी शक्तिको व्यर्थ खोना उन्हे अच्छा मालूम होता था। इसीसे फिक्रात उन्हे नही सताते थे, भय-विकार उनपर अपना अधिकार जमाने नही पाते थे. और वे खूब हृष्ट-पुष्ट, नीरोग तन्दुरुस्त. बलवान, बहादुर, पराक्रमी. निर्भयप्रकृति. प्रसन्नचित्त हँसमुख, उदारविचार वचनके सच्चे प्रणके पक्के, धर्मपर स्थिर, और अपने कर्तव्यका पालन करनेमे बहुत कुछ सावधान तथा कटिबद्ध होते थे। उनके समयमे यदि कोई किसीसे कर्ज़ लेता था तो उसके लिए आमतौरपर किसी रुक्के, चिट्ठी, प्रामेसरी नोट तमस्सुक या रजिस्टरीकी कोई जरूरत नही होती थी, एक अनपढ अथवा अशिक्षित व्यक्तिका महज़ कलमको छू देना या उससे कोई तिरछी-बॉकी लकीरसी खीच देना भी रजिस्टरीसे ज्यादा असर रखता था, उस वक्तके कर्जोंमे तमादी आरिज नही होती थी—कालकी कोई मर्यादा उन्हे अदेय नही ठहराती थी—किसीका लेकर नही भी दिया करते यह बात सिखलाई ही नही जाती थी। यदि किसीको कर्जा देते अथवा अपना ऋण चुकाते नही बनता था या उसके भुगतानमे देर हो जाती थी और इसपर साहूकार उससे यह कहता था कि भाई ! तुमसे कर्जा देते अथवा ऋण चुकाते नही बनता है, अत मै हिसाव-बहीमे तुम्हारे नामको छेक दूँ, बिंदिया दूँ और अपनी रकमको बट्टेखाते डालदूँ" तो इसको सुनकर वह कर्जदार (ऋणी पुरुष) कॉप जाता था और हाथ जोडकर कहने लगता था कि 'नही, ऐसा कभी मत करना, जब तक मेरे दममे दम और बदनमे जान-प्राण बाकी है, मैने जिन आँखो आपका कर्जा लिया है उन्ही आँखो उसे भुगताऊगा, कौडी कौड़ी अदा करूँगा, देर जरूर है मगर अन्धेर नही, और यदि अपने जीवनमे किसी तरहपर मै अदा न कर सका तो मेरे बेटे, पोते पडपोते, यहाँ तक कि मेरी सात पीढी उसको अदा करेगी, आप उसकी चिन्ता न करे। जब आपसे लिया गया है तब वह आपको दिया

क्यो न जाय ?" कितने मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उद्गार हैं—दिलको हिला देनेवाले कलाम अथवा वचन हैं—और इनसे किस दर्जे सचाई तथा ईमानदारीका प्रकाश होता है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। सचमुच ही वह जमाना भी कितना अच्छा और सच्चा था और उसकी बातोसे कितना सुख तथा शातिरस टपकता है।

परन्तु आज नक्शा बिल्कुल ही बदला हुआ है। आज उस कर्ज तथा दूसरे ठहरावोके लिये दस्तावेज़ात लिखाई जाती है, दस्तख़त (हस्ताक्षर) होते है, अगूठे लगते हैं, रजिष्टरी कराई जाती है और रजिष्टरीपर रुपया दिया जाता है, फिर भी बादको ऐसी झूठी उज्रदारियां (आपत्तियाँ) होती है कि दस्तावेज ज़रूर लिखी, दस्तख़त किये या अँगूठा लगाया और रजिष्टरीपर रुपया भी वसूल पाया, लेकिन दस्तावेज फर्जी थी, किसी अनुचित दबावके कारण लिखी गई थी, रुपया बादको वापिस दे दिया गया था या किसी योग्य कार्यमे खर्च नही हुआ, और इस लिये मुद्दई (वादी) उसके पानेका या दस्तावेज़के आधारपर किसी दूसरे हकके दिलाए जानेका मुस्तहक (अधिकारी) नही है ! ओह ! कितना अधिक पतन और बेईमानीका कितना दौर-दौरा है !!

उस वक्त अदालतोके दर्वाज़े शायद ही कभी खटखटाए जाते थे, पचायतोका बल बढा हुआ था, यदि कोई मामला होता था तो वह प्राय. घरके घरमे या अपने ही गाँवमे आसानीसे निपट जाया करता था—जरा भी बढ़ने नही पाता था। परन्तु आज बात-बातमे लोग अदालतोमे दौड़े जाते है, उन्हीकी एक शरण लेते हैं, बस्ता बगलमे दबाए उन्हीकी परिक्रमा किया करते है, उनके पडे पुजारियो—वकील-वैरिष्टर-मुख्तार-अहलकारो—के आगे बुरी तरहसे गिडगिडाते हैं - वह भी प्राय न्यायके लिये नही, बल्कि किसी तरहसे बात रह जाय या उनकी बेईमानीको मदद मिल जाय—और इन्ही अदालती मन्दिरोमे वे अपने धर्मकर्मकी अच्छी खासी बलि दे

जाते है। अदालतोके न्यायका कोई ठिकाना नही, उन्हे प्राय 'बूढा मरो या जवान अपनी ह या अथवा भुगतानसे काम' होता है, गरीबो और बे-पैसे या बे-आदमियोवालोकी वहाँ कोई पहुँच अथवा पूछ नही होती, एक अदालतके फैसलेको दूसरी दूसरीके निर्णयको तीसरी और तीसरीके हुकमको चौथी अदालत तोड देती है और कभी कभी एक ही अदालतका एक हाकिम दूसरे हाकिमके हुक्मको या खुद अपने हुकमको भी तोड देता अथवा रद्द कर देता है। इस तरह न्यायके नाम पर बड़ा ही अजीब नाटक होता है।

पंचायतोका कोई बल रहा नही, पंच लोग अपनी बेईमानी और एक दूसरेकी बेजा तरफदारीकी वजहसे अपनी सारी प्रतिष्ठा, पद्धति और शक्तिको खो बैठे हैं, उन पर लोगोका विश्वास नही रहा, इससे चारो ओर हाहाकार मचा हुआ है। लोग फिर फिरकर अदालतोकी ही शरणमे जाते है और अपनेको नष्ट तथा बर्बाद करनेके लिये मजदूर होते हैं। मुकद्दमेबाजीका बेहद खर्चा बढा हुआ है - तीसरी चौथी अदालतके हारनेवाला प्राय नगा हो जाता है और जीतनेवालेके पास एक लगोटी ही शेष रह जाती है। इससे न्याय यदि कभी मिलता भी है तो वह बहुत ही महँगा पडता है।

लोग कहते है कि आजकल जमाना उन्नतिका है। परन्तु मुझे तो इन हालो वह कुछ उन्नतिका जमाना मालूम नही होता, बल्कि खासा अवनतिका जान पडता है। जब हमारी आत्मिक शक्ति, शारीरिक बल नीति, सभ्यता, शिष्टता, धर्मकर्म और सुखशाँतिका बराबर दिवाला निकलता चला जाता है तब इस जमानेको उन्नतिका जमाना कैसे कह सकते है ? उन्नतिका जमाना तो तब होता जब इन बातोमे कोई आदर्श उन्नति नजर आती। परन्तु आदर्श उन्नति तो दूर, उलटी अवनति ही अवनति दिखलाई दे रही है। और हम इन सब बातोमे अपने पूर्वपुरुषोसे बहुत ही ज्यादा पिछडे हुए है और पिछड़ते जाते है। हमने अपनी जरूरियातको बढ़ाकर फिजूल

अपने पैरमे आप कुल्हाडी मार रक्खी है और व्यर्थकी मुसीबत अपने ऊपर ले रक्खी है। इन ज़रूरियातको पूरा करनेकी धुन, फिक्र और चक्करमे हम अपनी आत्माकी तन-बदनकी और धर्म-कर्मकी सारी सुधि भूले हुए है और हमारी वह सब हालत हो रही है जिसका लेखके आरभमे ही कुछ चित्र खीचकर पाठकोके सामने रक्खा गया है। हमारे सामने हरदम रुपये-पैसे या टकेका ही एक सवाल खडा रहता है रात दिन उसीका चक्कर चलता है और उसीके पीछे हमारे जीवनकी समाप्ति हो जाती है।

जब हमारे पास आमदनी कम और खर्च ज्यादा है और हम अपनी ज़रूरियातको पूरा करनेके लिए न्यायमार्गसे काफी रुपया पैदा नहीं कर सकते तब उन्हे पूरा करनेके लिये हम छल, कपट, फरेब, धोखा, दगाबाजी, जालसाजी, चालबाजी, चोरी, सीनाज़ोरी, घूसखोरी, विश्वासघात, असत्यव्यवहार, न्यासापहार (धरोहर-मारना), हत्या और बेईमानी नही करेंगे तो और क्या करेंगे ? उस वक्त धर्मके पैसे पर मन्दिरो तीर्थो या दूसरी सस्थाओके रुपये पर यदि हमारी नियत डिग जाय, हम अपनी सुकुमार कन्याओ तकको बेचने लगे और आपसमे खीचातानी बढ़ाकर मुकद्दमेबाजी पर उतर आवे तो इसमे आश्चर्यकी बात ही क्या है ?

वास्तवमे हमारी सारी खराबी और गिरावटका कारण ये फिजूलकी ज़रूरियात ही है। इन्हीकी वजहसे हमारी उन्नति रुकी हुई है, हम अपनी आत्माका कल्याण नही कर सकते, आपसमे प्रेम-से नही रह सकते, एक दूसरेकी सहायता नही कर सकते और न सचमुचमे मनुष्य ही बन सकते है। इनकी बढवारीसे ही हमारा दुःख बढा हुआ है। यदि हम उस दुखको घटाना या दूर करना चाहते है तो हमे अपनी उन जरूरियातको घटाना या दूर कर देना होगा। बाकी यह खयाल गलत है कि ज़रूरियातको पूरा करके हम अपने दुख-दर्द एव वेदनाको दूर कर सकेंगे उसमें कोई वास्तविक

अथवा स्थायी कमी ला सकेगे। जरूरियातको पूरा करके दु खोकी शान्तिकी आशा रखना प्राय ऐसा ही है जैसा कि अग्नि पर ईधन और तेल डालकर उसकी शाति चाहना । यह जरूरियातकी पूर्ति ऐसी मर्हमपट्टी है जो उस वक्त तो घावमे जरासी देरके लिये कुछ चैन डाल देती है परन्तु पीछेसे बिया जाती है और नरह तरहकी वेदनाओं तथा कष्टोकी जन्मदाता बन जाती है । अत' दु खोको यदि वास्तवमे दूर करना और सुख-शाति चाहना है तो इस खयाल-के घोखेमें न रहकर हमें सबसे पहले, जितना भी शीघ्र बन सके, इन फिजूलकी जरूरियातको अलग कर देना चाहिये । यही हमारे हित का साधन और हमारे परलोकके सुधरनेका एक खास मार्ग है। इसीसे हमको वास्तविक सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी।

आशा है, सुखके सच्चे अभिलाषी और मुतलाशी (खोजी) अपनी उस वेदना और तृष्णारूपी अग्निको, जो बाह्य पदार्थोंके लिये उनके हृदयमे जल रही है, ज्ञान तथा विवेकरूपी जलसे शात करेगे, संतोषको अपनाएँगे, सादा जीवन व्यतीत करना सीखेंगे और यह समझकर कि इन फिजूलकी ज़रूरियातने ही हमारी जान अजा-बमें डाल रक्खी है, हमारी मिट्टी खराब कर रक्खी है, ये ही हमारे दुःखोकी खास कारण है और ये ही हमारी उन्नति तथा प्रगतिमे रोड़ा अटकानेवाली अथवा विघ्नस्वरूप है, इन्हे मन-वचन-कायसे दृढताके साथ दूर करने-करानेकी पूरी कोशिश करेगे । और इसके लिये उन्हे यदि किसी रीति-रिवाजको तोडना या बदलना भी पडे, तो खुशीसे पूर्ण मनोबलके साथ खुद ही उसके लिये आगे कदम वढ़ाएँगे—अगुआ बनेगे—और इस तरह अपना एक उदाहरण या नमूना दूसरोंके सामने रखकर उनका मार्ग साफ करेंगे और उन्हे भी वैसा करने करानेकी हिम्मत तथा साहस प्रदान करेंगे । देश और जातिके सुधारका भी इसी पर एक आधार है और इसीके सहारे पर सबका बेड़ा पार है ।

२३

जैनी नीति

जिनेन्द्रदेवकी अथवा जैनधर्मकी जो मुख्य नीति है और जिस पर जिनेन्द्रदेवके उपासकों, जैनधर्मके अनुयायियों तथा अपना हित चाहनेवाले सभी सज्जनोको चलना चाहिये, उसे 'जैनी नीति' कहते हैं। वह जैनी नीति क्या है अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहारहै, इस बातको श्रीअमृतचन्द्राचायने अपने एक वाक्यमे अच्छी तरहसे दर्शाया है, जो इस प्रकार हैं —

एकेनाऽऽकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

इसमे, जैनी नीतिको दूध-दही विलोनेवाली गोपी (ग्वालिनी)-की उपमा देते हुए. बतलाया है कि—जिस प्रकार ग्वालिनी विलोते समय मथानीकी रस्सीको दोनो हाथोमे पकड़ कर उसके एक सिरे-(अन्त) को एक हाथसे अपनी ओर खीचती और दूसरे हाथसे पकड़े हुए सिरेको ढीला करती जाती है, एकको खीचनेपर दूसरेको बिल्कुल छोड़ नही देती किन्तु पकडे रहती है, और इस तरह विलोनेकी क्रियाका ठीक सम्पादन करके मक्खन निकालने रूप अपना कार्य सिद्ध कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जैनी नीतिका व्यवहार है। वह जिस समय अनेकान्तात्मक वस्तुके द्रव्य-पर्याय या सामान्य-विशेषादिरूप एक अन्तको—धर्म या अशको—अपनी ओर

खीचती है—अपनाती है—उसी समय उसके दूसरे अन्त (धर्म या अंश) को ढीला कर देती है—उसके विषयमे उपेक्षाभाव धारण कर लेती है। फिर दूसरे समय उस उपेक्षित अन्तको अपनाती और पहलेसे अपनाए हुए अन्तके साथ उपेक्षाका व्यवहार करती है—एकको अपनाते हुए दूसरेका सर्वथा त्याग नही करती, उसे भी प्रकारान्तरसे ग्रहण किये रहती है। और इस तरह मुख्य-गौणकी व्यवस्थारूप निर्णय-क्रियाको सम्यक् संचालित करके वस्तु-तत्त्वको निकाल लेती है—उसे प्राप्त कर लेती है। किसी एक ही अन्त पर उसका एकान्त आग्रह अथवा कदाग्रह नही रहता—वैसा होने पर वस्तुकी स्वरूपसिद्धि ही नही बनती। वह वस्तुके प्रधान-अप्रधान सब अन्तो पर समान दृष्टि रखती है—उनकी पारस्परिक अपेक्षाको जानती है—और इसलिये उसे पूर्णरूपमे पहचानती है तथा उसके साथ पूरा न्याय करती है। उसकी दृष्टिमे एक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा-से यदि नित्य है तो पर्यायकी अपेक्षासे वही अनित्य भी है, एक गुणके कारण जो वस्तु बुरी है दूसरे गुणके कारण वह वस्तु अच्छी भी है एक वक्तमे जो वस्तु लाभदायक है दूसरे वक्तमे वही हानिकारक भी है, एक स्थान पर जो वस्तु शुभरूप है दूसरे स्थान पर वही अशुभरूप भी है और एकके लिये जो हेय है दूसरेके लिये वही उपादेय भी है। वह विषको मारनेवाला ही नही किन्तु जीवन-प्रद भी जानती है और इसलिये उसे सर्वथा हेय नही समझती।

इस नीतिकी दृष्टिमे नित्यका अनित्यके साथ और अनित्यका नित्यके साथ, विधिका निषेधके साथ और निषेधका विधिके साथ तथा मुख्यका गौणके साथ और गौणका मुख्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है - एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नही सकता। जिस प्रकार सम-तुलाका एक पल्ला ऊँचा होने पर दूसरा पल्ला स्वयमेव नीचा हो जाता है—ऊँचा पल्ला नीचेके बिना और नीचा पल्ला ऊँचेके बिना बन नही सकता और न कहला सकता है, उसी प्रकार

नत्य-अनित्यकी, विधि-निषेधकी और मुख्य-गौणआदिकी यह सारी व्यिवस्था सापेक्ष है - सापेक्षनयवादका विषय है। और इसलिये जो निरपेक्षनयवादका आश्रय लेती है और वस्तुतत्त्वका सर्वथा एकरूपसे प्रतिपादन करती है वह जैनी नीति अथवा सम्यक् नीति न होकर मिथ्या नीति है। उसके द्वारा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ग्रहण और प्रतिपादन नही बन सकता।

जैनी नीतिका ही दूसरा नाम 'अनेकान्तनीति' है और उसे 'स्याद्वादनीति' भी कहते है। यह नीति अपने स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करनेवाली, वस्तुतत्त्वकी प्रकाशक और सिद्धिकी दाता है। खेद है जैनियोने अपने इस आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्तके अनन्य उपासक बने हुए है। उसीका परिणाम उनका मौजूदा सर्वतोमुखी पतन है, जिसने उनकी सारी विशेषताओ और गुण-गरिमाओ पर पानी फेर कर उन्हे नगण्य बना दिया है।। जैनियोको फिरसे अपने इस आराध्य देवताका स्मरण कराते हुए उनके जीवनमे इस सन्नीतिकी प्राणप्रतिष्ठा कराने और ससारको भी इस नीतिका परिचय देने तथा इसकी उपयोगिता बतलानेके लिये ही 'अनेकान्त' नामसे पत्र निकाला गया है। लोकको इससे सत्प्रेरणा मिले और यह उसके हितसाधनमे सहायक होवे, ऐसी शुभ भावना है।

२४

जैनी कौन हो सकता है ?

जो जीव जैनधर्मको धारणकरता है वह 'जैनी' कहलाता है। परन्तु आजकलके जैनी जैनधर्मको केवल अपनी ही पैतृक संपत्ति (मौरूसी तरका) समझ बैठे हैं और यही कारण है कि वे जैनधर्म दूसरोंको नही बतलाते और न किसीको जैनी बनाते है। शायद उन्हे इस बातका भय हो कि कही दूसरे लोगोंके शामिल होजानेसे इस मौरूसी तरकेमे अधिक भागानुभाग होकर हमारे हिस्सेमे बहुत ही थोडासा जैनधर्म बाकी न रह जाय। परन्तु यह सब उनकी बडी भारी भूल तथा गलती है और आज इसी भूल तथा गलतीको सुधारनेका यत्न किया जाता है।

हमारे जैनी भाई इस बातको जानते हैं और शास्त्रोंमें भी जगह जगह हमारे परमपूज्य आचार्योंका यही उपदेश है कि, ससारमें दो प्रकारकी वस्तुएँ है—एक चेतन और दूसरी अचेतन। चेतनको जीव और अचेतनको अजीव कहते है। जितने जीव हैं वे सब द्रव्यत्व-की अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टिसे बराबर हैं— किसीमे कुछ भेद नही है—सबका असली स्वभाव और गुण एक ही है। परन्तु अनादि-कालसे जीवोंके साथ कर्म-मल लगा हुआ है, जिसके कारण उनका असली स्वभाव आच्छादित है, और वे नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। कीडा, मकोडा, कुत्ता, बिल्ली, शेर,

बघेरा, हाथी, घोडा, ऊंट, गाय, बैल, मनुष्य, पशु, देव, और नारकी आदिक समस्त अवस्थाए उसी कर्ममलके परिणाम हैं और जीवकी इस अवस्थाको 'विभावपरिणति' कहते हैं।

जब तक जीवोमें यह विभावपरिणति बनी रहती है तब ही तक उनको 'ससारी' कहते हैं और तभी तक उनको ससारमे नाना प्रकार-के रूप धारण करके परिभ्रमण करना होता है। परन्तु जब किसी जीवकी यह विभावपरिणति मिट जाती है और उसका निजस्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, और इस प्रकार जीवके 'ससारी' तथा 'मुक्त' ऐसे दो भेद कहे जाते हैं।

इस कथनसे स्पष्ट है कि जीवोका जो असली स्वभाव है वही उनका धर्म है, और उसी धर्मको प्राप्त करानेवाला जैनधर्म है। अथवा दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जैनधर्म ही सब जीवोका निज धर्म है। इसलिये प्रत्येक जीवको जैनधर्मके धारण करनेका अधि-कार प्राप्त है। इसीसे हमारे पूज्य तीर्थंकरो तथा ऋषि-मुनियोने पशु-पक्षियोतकको भी जैनधर्मका उपदेश दिया है और उनको जैन-धर्म धारण कराया है, जिनके सैकड़ो ही नही किन्तु हज़ारो दृष्टान्त प्रथमानुयोगके शास्त्रो (कथाग्रन्थो) को देखनेसे मालूम हो सकते हैं।

हमारे अतिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी जब अपने इस जन्म-से नौ जन्म पहले सिहकी पर्यायमें थे तब उन्हे किसी वनमे एक महात्माके दर्शन करते ही जातिस्मरण हो आया था। उन्होने उसी समय, उक्त महात्माके उपदेशसे, श्रावकके बारह व्रत धारण किये, केसरीसिह होकर भी किसी जीवको मारना और मास खाना छोड दिया और इस प्रकार जैनधर्मको पालते हुए सिह-पर्यायको छोडकर वे प्रथम स्वर्गमे देव हुए और वहाँसे उन्नति करते करते अन्तमे जैनधर्मके प्रसादसे उन्होने तीर्थंकर-पद प्राप्त किया।

पार्श्वनाथपुराणमे, अरविन्दमुनिके उपदेशसे, एक हाथीके जैन-

धर्म धारण करने और श्रावकके व्रत पालन करनेके सम्बन्धमे इस प्रकार लिखा है--

अब हाथी संजम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै ॥
समभाव छिमा उर आनै। अरि मित्र बराबर जानै ॥
काया कसि इन्द्री दंडै। साहस धर प्रोषध मंडै ॥
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै ॥
हाथीगण डोह्यो पानी। सो पीवै गजपति ज्ञानी ॥
देखे बिन पाँव न राखै। तन पानी पंक न नाखै ॥
निजशील कभी नहिं खोवै। हथिनी दिशभूल न जोवै ॥
उपसर्ग सहै अति भारी। दुर्ध्यान तजै दुखकारी ॥
अघके भय अंग न हालै। दृढ धीर प्रतिज्ञा पालै ॥
चिरलौ दुद्धर तप कीनो। बलहीन भयो तन छीनो ॥
परमेष्ठि परमपद ध्यावै। ऐसे गज काल गमावै ॥
एकैदिन अधिक तिसायौ। तब वेगवती तट आयौ ॥
जलपीवन उद्यम कीधौ। कादोद्रह कुंजर बीधौ ॥
निश्चय जब मरण विचारौ। सन्यास सुधी तब धारौ ॥

इससे साफ प्रकट है कि अच्छा निमित्त मिल जाने और शुभ कर्मका उदय आ जाने पर पशुओमे भी मनुष्यता आ जाती है और वे मनुष्योंके समान धर्मका पालन करने लगते है, क्योकि द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब जीव, चाहे वे किसी भी पर्यायमे क्यो न हो, आपसमे बराबर है। यही हाथीका जीव, जैनधर्मके प्रसादसे, इस पशुपर्याय-को छोडकर बारहवे स्वर्गमे देव हुआ और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता चढ़ता कुछ ही जन्म लेनेके पश्चात् हमारा पूज्य तीर्थंकर 'पार्श्वनाथ' हुआ है।

इसी तरह और बहुतसे पशुओने जैनधर्मको धारण करके अपने आत्माका विकास और कल्याण किया है। जब पशुओ तकने जैनधर्म को धारण किया है, तब फिर मनुष्योका तो कहना ही क्या ? वे

तो सर्व प्रकारसे इसके योग्य और दूसरे जीवोंको इस धर्ममे लगाने-वाले ठहरे। सच पूछा जाय तो, किसी भी देश, जाति या वर्णके मनुष्यको इस धर्मके धारण करनेकी कोई मनाही (निषेध) नहीं है। प्रत्येक मनुष्य खुशीसे जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसी-से सोमदेवसूरिने कहा है —

'मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ।'

अर्थात्—मन, वचन, तथा कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी है।

जैन-शास्त्रोंसे तथा इतिहास-ग्रन्थोके देखनेसे भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई सन्देह नही रहता कि प्राय सभी जातियोके मनुष्य हमेशासे इस पवित्र जैनधर्मको धारण करते आए हैं और उन्होने बड़ी भक्ति तथा भावके साथ इसका पालन किया है।

देखिये, क्षत्रिय लोग पहले अधिकतर जैनधर्मका ही पालन करते थे। इस धर्मसे उनको विशेष अनुराग और प्रीति थी। वे इसी धर्मको जगतका और अपनी आत्माका कल्याण करनेवाला समझते थे। हज़ारो राजा ऐसे हो चुके हैं जो जैनी थे अथवा जिन्होने जैन-धर्मकी दीक्षा धारण की थी। खासकर, हमारे जितने तीर्थंकर हुए है वे सब ही क्षत्रिय थे। इस समय भी जैनियोमे बहुतसे जैनी ऐसे है जो क्षत्रियोकी सन्तानमेसे है, परन्तु उन्होने क्षत्रियोका कर्म छोड़ कर वैश्यका कर्म अंगीकार कर लिया है, इसलिये वैश्य कहलाते है। इसी प्रकार ब्राह्मण लोग भी पहले जैनधर्मको पालन करते थे और इस समय भी कही कही सैकड़ो ब्राह्मण जैनी पाये जाते हैं। जिस समय भगवान ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीने क्षत्रियो आदिकी परीक्षा लेकर जिनको अधिक धर्मात्मा पाया उनका एक ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था उस समय तो ब्राह्मण लोग गृहस्थ जैनियोंके पूज्य समझे जाते थे और बहुत काल तक बराबर पूज्य बने रहे।

परन्तु पीछेसे जब वे स्वच्छद होकर अपने धर्म-कर्ममे शिथिल हो गये और जैनधर्मसे गिर गये तब जैनियोने आम तौरसे उनका पूजना और मानना छोड़ दिया। परन्तु फिर भी इस ब्राह्मण-वर्णमे बराबर जैनी होते ही रहे। हमारे परमपूज्य गौतम गणधर, भद्रबाहु स्वामी और पात्रकेशरी आदिक बहुतसे आचार्य ब्राह्मण ही थे जिन्होने चहुँ-ओर जैनधर्मका डका बजाकर जगतके जीवोका उपकार किया है। रहे वैश्य लोग, वे जैसे इस वक्त जैनधर्मको पालन करते है वैसे पहले भी पालन करते थे। ऐसी ही हालत शूद्रोकी है, वे भी कभी जैनधर्मके धारण करनेसे नही चूके और ग्यारहवी प्रतिमाके धारक क्षुल्लक तक तो होते ही रहे है। इस वक्त भी जैनियोमे शूद्र, जैनी मौजूद है। बहुतसे जैनी शूद्रोका कर्म (पेशा) करते है। और शूद्र ही क्यो? हमारे पूर्वज तीर्थकरो तथा ऋषि-मुनियोने तो चडालो, भीलो और म्लेच्छो त. को जैनधर्मका उपदेश देकर उन्हें जैनी बनाया है, और न केवल जैनधर्मका श्रद्धान ही उनके हृदयोंमे उत्पन्न किया है बल्कि श्रावकके व्रत भी उनसे पालन कराये हैं, जिनकी सैकडो कथाएँ शास्त्रोमें मौजूद हैं।

'हरिवशपुराण' मे लिखा है कि, एक 'त्रिपद' नामके धीवर (कहार) की लडकीको जिसका नाम 'पूतिगधा' था और जिसके शरीरसे दुर्गंध आती थी, समाधिगुप्त मुनिने श्रावकके व्रत दिये। वह लड़की बहुत दिनो तक आर्यिकाके साथ रही अतमे सन्याम धारण करके मरी तथा सोलहवे स्वर्गमे जाकर देवी हुई और फिर वहाँसे आकर श्रीकृष्णकी पटरानी 'रुक्मिणी' हुई।

चम्पापुर नगरमे 'अग्निभूत' मुनिने, अपने गुरु सूर्यमित्र मुनिराजकी आज्ञासे, एक चाडाल-लडकीको, जो जन्मसे अधी पैदा हुई थी और जिसकी देहसे इतनी दुर्गंध आती थी कि कोई उसके पास जाना नही चाहता था और इसी कारण वह बहुत दुखी थी, जैनधर्मका उपदेश देकर श्रावकके व्रत धारण कराये थे। इसकी कथा

सुकुमालचारित्रादिक शास्त्रोमें मौजूद है । यही चाडालीका जीव दो जन्म लेनेके पश्चात् तीसरे जन्ममे 'सुकुमाल' हुआ था ।

'पूर्णभद्र' और 'मानभद्र' नामके दो वैश्य भाइयोने एक चाडाल-को श्रावकके व्रत ग्रहण कराए थे और उन व्रतोके कारण वह चाडाल मर कर सोलहवे स्वर्गमे वडी ऋद्धिका धारक देव हुआ था, जिसकी कथा पुण्यास्रव-कथाकोशमे पाई जाती है ।

'हरिवशपुराण' मे लिखा है कि, गधमादन पर्वत पर एक 'पर-वर्तक' नाम के भीलको श्रीधर आदि दो चारण-मुनियोने श्रावकके व्रत दिये । इसी प्रकार म्लेच्छोंके जैनधर्म धारण करनेके सम्बन्धमें भी वहुतसी कथाएँ विद्यमान है, वल्कि जैनी चक्रवर्ती राजाओने तो म्लेच्छोकी कन्याओसे विवाह तक किया है । ऐसे विवाहोसे उत्पन्न हुई सन्तान मुनि-दीक्षा ले सकती थी, इतना ही नही किन्तु म्लेच्छ देशोसे आए हुए म्लेच्छ तक भी मुनिदीक्षाके अधिकारी ठहराये गये हैं[1]।

श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवने भी एक म्लेच्छ राजाकी पुत्रीसे, जिसका नाम 'जरा' था, विवाह किया था, और उससे 'जरत्कुमार' उत्पन्न हुआ था, जो जैनधर्मका वडा भारी श्रद्धानी था और जिसने अतको जैनधर्मकी मुनिदीक्षा धारण की थी । यह कथा भी हरिवश-

---

१. जैसा कि 'लब्धिसार' की टीकाके निम्न अशसे प्रकट है —

म्लेच्छभूमिजमनुष्याणा सकलसंयमग्रहण कथ भवतीति नाशं-कितव्यं । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छ-राजाना चक्रवर्त्यादिभि सह जातवैवाहिकसम्बन्धाना सयमप्रतिपत्तेर-विरोधात् । अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षा-पेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाज सयमसभवात् तथाजातीयकाना दीक्षार्ह-त्वे प्रतिषेधाभावात् ।' (गाथा न० १९३ से सम्बद्ध)

पुराणमे लिखी है[1]। और इसी पुराणमे,जहाँ पर श्रीमहावीरस्वामी-के समवसरणका वर्णन है वहाँपर, यह भी लिखा है कि समवसरणमे जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर 'बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग मुनि हो गये और चारो ही वर्णोके स्त्री-पुरुषोने श्रावकके बारह व्रत धारण किये' इतना ही क्यो ? उनकी पवित्र वाणीका प्रभाव यहाँ तक पडा कि कुछ जानवरोने भी अपनी शक्तिके अनुसार श्रावकके व्रत धारण किये। इससे भली भाँति प्रकट है कि, प्रत्येक मनुष्य ही नही बल्कि प्रत्येक जीव अपनी योग्यताके अनुसार जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसलिये जैनधर्म सबको बतलाना चाहिये।

इन सब उल्लेखो परसे, यद्यपि, प्रत्येक मनुष्य खुशीसे यह नतीजा निकाल सकता है कि, जैनधर्म आजकलके जैनियोकी खास मीरास नही है, उस पर मनुष्य क्या जीवमात्रको पूरा पूरा अधि-कार प्राप्त है और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्यके अनुसार उसको धारण और पालन कर सकता है, फिर भी यहाँपर कुछ थोड़ेसे प्रमाण और उपस्थित किये जाते हैं जिससे इस विषयके सदेह अथवा भ्रमका और भी अच्छी तरह निरसन हो सके :—

(१) 'पूजासार' के श्लोक न० १६ मे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करने वालेके दो भेद वर्णन किये है—एक नित्य पूजन करनेवाला, जिसको 'पूजक' कहते है और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको 'पूजकाचार्य' कहते है। इसके पश्चात् दो श्लोकोमे आद्य (प्रथम) भेद, 'पूजक' का स्वरूप दिया है और उसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चारो ही वर्णोके मनुष्योको पूजा करनेका अधिकारी ठहराया है। यथा —

---

१ हरिवशपुराणके उल्लेखोके लिये देखो प०दौलतरामजी-द्वारा अनुवादित भाषा हरिवशपुराण अथवा जिनसेनाचार्यकृत मूलग्रन्थ।

ब्राह्मण. क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्य सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचार. सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥

(२) इसी प्रकार 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के ९ वे अधिकारके श्लोक न० १४२ मे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके उपर्युक्त दोनो भेदोका कथन करनेके अनन्तर ही एक श्लोकमें—'पूजक' के स्वरूप-कथनमें—ब्राह्मणादिक चारो वर्णोंके मनुष्योको पूजा करनेका अधिकारी बतलाया है। वह श्लोक यह है :—

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरग' ॥ १४३ ॥'

और इसी ९ वे अधिकारके श्लोक न० २२५ मे ब्राह्मणोके पूजन करना, पूजन कराना, पढना, पढाना, दान देना और दान लेना, ऐसे छह कर्म वर्णन करके उससे अगले श्लोकमे "यजनाध्ययने दान परेषां त्रीणि ते पुन" इस वचनसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके पूजन करना पढना और दान देना, ऐसे तीन कर्म वर्णन किये है।

इन दोनो शास्त्रोके प्रमाणोंसे भली भाति प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो वर्णोंके मनुष्य जैनधर्मको धारण करके जैनी हो सकते हैं। तब ही तो वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं।

(३) 'सागारधर्मामृत' मे पं० आशाधरजीने लिखा है —

[1]शूद्रोऽप्युपस्कराचार-वपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥

(अ० २ श्लो० २२)

अर्थात्—आसन और बर्तन वगैरह जिसके शुद्ध हो, मास और

---

१. इस पद्यसे पहले स्वोपज्ञटीकामे यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया है—"अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमान प्राह—"

मदिरा आदिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदिके करनेसे जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके सदृश श्रावक-धर्मका पालन करनेके योग्य है। क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर जैन धर्मका अधिकारी होता है।

इसी तरह श्रीसोमदेव आचार्यने भी, 'नीतिवाक्यामृत' के नीचे लिखे वाक्यमे, उपर्युक्त तीनो शुद्धियोके होनेसे शूद्रोको धर्म साधनके योग्य बतलाया है —

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कार. शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।"

(४) रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते है कि —

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ २८॥

अर्थात् — सम्यग्दर्शनसे युक्त — जैनधर्मके श्रद्धानी — चाडाल पुत्रको भी गणधरादि देवोने 'देव' कहा है — आराध्य बतलाया है। उस की दशा उस अंगारके सदृश है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अंतरंगमे तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इस लिये कदापि उपेक्षणीय नही होता।

इससे चाडालका जैनी बन सकना भली भाँति प्रकट ही नही किन्तु अभिमत जान पड़ता है। इसके सिवाय, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो चौथे गुणस्थानमें ही हो जाती है, चाडाल इससे भी ऊपर जा सकता है और श्रावकके व्रत धारण कर सकता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंसे प्रकट है। इसमें किसीको भी आपत्ति नही है। रविषेणाचार्यने तो 'पद्मपुराण' मे ऐसे व्रती चाण्डालको 'ब्राह्मण' का दर्जा प्रदान किया है और लिखा है कि कोई भी जाति बुरी अथवा तिरस्कारके योग्य नही है — सभी गुणधर्मकी अधिका-

रिणी है। यथा:--

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११—२०३॥

(५) सोमसेनके त्रैवर्णिकाचारमे भी एक पुरातन श्लोक निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा. ,प्रोक्ता. क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ ७–१४२ ॥

इसमे लिखा है कि—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपने अपने नियत कर्मके विशेषकी अपेक्षासे कहे गये हैं, जैन-धर्मको पालन करनेमे इन चारो वर्णोंके मनुष्य परम समथ हैं और उसे पालन करते हुए वे सब आपसमे भाई भाईके समान है।'

इन सब प्रमाणोसे सिद्धान्तकी अपेक्षा, प्रवृत्तिकी अपेक्षा और शास्त्राधारकी अपेक्षा सब प्रकारसे यह बात कि 'प्रत्येक मनुष्य जैन-धर्मको धारण कर सकता है' कितनी स्पष्ट और साफ तौर पर सिद्ध है, इसका अनुमान हमारे पाठक स्वयं कर सकते है और मालूम कर सकते है कि वर्तमान जैनियोकी यह कितनी भारी गलती और बे-समझी है जो केवल अपने आपको ही जैनधर्मका मौरूसी हक़दार समझ बैठे है।

अफसोस ! जिनके पूज्य पुरुषो, तीर्थंकरों और ऋषि-मुनियो आदिका तो इस धर्मके विषयमे यह खयाल और यह कोशिश कि कोई भी जीव इस धर्मसे वचित न रहे—यथासाध्य प्रत्येक जीवको इस धर्मभे लगाकर उसका हित साधन करना चाहिये, उन्ही जैनियो-की आज यह हालत कि वे कजूस और कृपणकी तरह जैनधर्मको छिपाते फिरते है। न आप इस धर्मरत्नसे लाभ उठाते हैं और न दूसरोको ही लाभ उठाने देते है। इससे मालूम होता है कि आज-कलके जैनी बहुत ही तगदिल (संकीर्णहृदय) है और इसी तंगदिली ने उन पर संगदिली (पाषाण-हृदयता) की घटा छा रक्खी है ।

खुदगर्जी (स्वार्थपरता) का उनके चारो तरफ राज्य है । यही कारण है कि वे दूसरोंका उपकार करना नही चाहते और न किसीको जैनधर्मका श्रद्धानी बनानेकी कोई खास चेष्टा ही करते हैं । उनकी तरफसे कोई डूबो या तिरो, उनको इससे कुछ प्रयोजन नही । अपने भाइयोकी इस अवस्थाको देखकर बड़ा ही दु ख होता है ।

प्यारे जैनियो ! आप उन वीरपुरुषोकी सन्तान हो, जिन्होंने लौकिक स्वार्थ-बुद्धिको कभी अपने पास तक फटकने नही दिया, पौरुषहीनता और भीरुताका कभी स्वप्नमे भी जिनको दर्शन नही हुआ, जिनके विचार बड़े ही विशुद्ध, गंभीर तथा हृदय विस्तीर्ण थे और जो ससार भरके सच्चे शुभचिंतक तथा सब जीवोका हित साधन करनेमें ही अपनेको कृतार्थ समझनेवाले थे । आप उन्हींकी वंशपरम्परामे उत्पन्न हैं जिनका सारा मनोबल, वचनबल, बुद्धिवल और कायबल निरतर परोपकारमे ही लगा रहता था, धार्मिक जोश से जिनका मुखमडल (चेहरा) सदा दमकता था, जो अपनी आत्माके समान दूसरे जीवोकी रक्षा करते थे और इस संसारको असार समझ कर निरंतर अपना तथा दूसरे जीवोका कल्याण करनेमें ही लगे रहते थे; ऐसे ही पूज्य पुरुषोका आप अपने आपको अनुयायी तथा उपासक भी बतलाते है जो ज्ञान-विज्ञानके पूर्ण स्वामी थे, जिनकी सभामे पशु-पक्षी तक भी उपदेश सुननेके लिये आते थे, जिन्होने जैनधर्म धारण कराकर करोडो जीवोका उद्धार किया था और भिन्न धर्मावलम्बियों पर जैनियोके अहिसाधर्मकी छाप जमाई थी। इसलिये आप ही जरा विचार कीजिये कि क्या अपनी ऐसी हालत बनाना और दूसरोका उपकार करनेसे इस प्रकार हाथ खीच लेना अथवा जी चुराना आपके लिये उचित और योग्य है ? कदापि नही ?

प्यारे धर्म बन्धुओ ! हमे अपनी इस हालत पर बहुत ही

लज्जित तथा शोकित होना चाहिये । हमारी इस लापर्वाही (उदासीनता) और खामोशी (मौनवृत्ति) से जैन जातिको बडा भारी धक्का और धब्बा लग रहा है । हमने अपने पूज्य पुरुषो—ऋषि-मुनियों—के नामको वट्टा लगा रक्खा है। यह सब हमारी स्वार्थ-परता, निष्पौरुषता, सकीर्णहृदयता और विपरीत-बुद्धिका ही परिणाम है। इसका सारा कलक हमारे ही ऊपर है। वास्तवमे हम अपनी आँखोके सामने इस वातको देख रहे है कि अज्ञानसे अधे प्राणी बिल्कुल वेसुध हुए मिथ्यात्वरूपी कुएके सन्मुख जा रहे हैं और उसमे गिर रहे हैं और फिर भी हम मौनावलम्बी हुए चुपचाप बैठे है—न उन वेचारोको उस कुएँसे सूचित करते है, न कुएँमे गिरनेसे बचाते है और न कूएँमे गिरे हुओंको निकालनेका प्रयत्न करते हैं, तो इससे अधिक और क्या अपराध हो सकता है ? अब हमको इस कलंक और अपराधसे मुक्त होनेके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये।

सबसे प्रथम हमें अपनेमे इन स्वार्थपरता आदिक दोषोको निकाल डालना चाहिये । फिर उत्साहकी कटि बाँधकर और परोपकार को ही अपना मुख्य धर्म सकल्प करके अपने पूज्य पुरुषो अथवा ऋषि-मुनियोके मार्गका अनुसरण करना चाहिये और दूसरे जीवों पर दया करके उनको मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे निकालकर जिनवाणीके प्रकाशरूप जैनधर्मकी शरणमें लाना चाहिये। यही हमारा इस समय मुख्य कर्तव्य है और इसी कर्तव्यको पूरा करनेसे हम उपर्युक्त कलकसे विमुक्त हो सकते हैं। अथवा यों कहिये कि अपने मस्तक पर जो कालिमाका टीका लगा हुआ है उसको दूर कर सकते हैं। हमको चाहिये कि अपने इस कर्तव्यके पालन करनेमे अब कुछ भी विलम्ब न करे। क्योकि इस वक्त कालकी गति जैनियो-के अनुकूल है। अब वह समय नही रहा कि जब अन्यायी और निष्ठुर राजा तथा बादशाहोके अन्याय और अत्याचारोके कारण

जैनी अपनेको जैनी कहते हुए डरते थे और अपने धर्म तथा शास्त्रोंको छिपानेके लिए बाध्य होते थे। अब वह समय आ गया है कि लोगोकी प्रवृत्ति सत्यताकी खोज और निष्पक्षपातताकी ओर होती जाती है। इसलिये जैनियोंके लिये यह समय बड़ा ही अमूल्य है। ऐसे अवसर पर हमको अवश्य अपने धर्मरत्नका प्रकाश सर्व-साधारणमे फैलाना चाहिये। सर्व मनुष्योपर जैनधर्मके सिद्धान्त और उनका महत्व प्रकट करना चाहिये और उनको बतलाना चाहिये कि कैसे जैनधर्म ही सब जीवोका कल्याण कर सकता है और उनको वास्तविक सुखकी प्राप्ति करा सकता है। इस समय हमारे भाइयोकी सिर्फ थोड़ीसी हिम्मत और परोपकारबुद्धिकी जरूरत है। बाकी यह खूबी खुद जैनधर्ममे मौजूद है कि वह दूसरोको अपनी ओर आकर्षित कर लेवे। परन्तु दूसरोको इस धर्मका परिचय तथा जानकारी कराना मुख्य है और यह जैनियोंका कर्त्तव्य है।

अत· प्यारे जैनियो ! आप कुछ भी न घबराते हुए इस धर्म-रत्नको हाथमे लेकर चौडे मैदानमे खडे हो जाइये और जौहरियोंसे पुकार कर कहिये कि वे आकर इस रत्नकी परीक्षा करे। फिर आप देखेंगे कि कितने धर्मजौहरी इस धर्मरत्नको देखकर मोहित होते है और इस पर अपना जीवन अर्पण करनेके लिये उद्यमी नजर आते है। अभी हालमे कुछ लोगोके कानो तक इस धर्मका शुभ समाचार पहुँचा ही था कि वे तुरत मन-वचन-कायसे इसके अनुयायी और भक्त बन गये है। इसलिये मेरा बार बार यही कहना है कि कोई भी मनुष्य इस पवित्र धर्मसे वचित न रक्खा जावे, किसी न किसी प्रकारसे प्रत्येक मनुष्यके कानो तक इस धर्मकी आवाज (पुकार) पहुँच जानी चाहिये और इस बातका दिलमे कभी खयाल भी न लाना चाहिये कि अमुक मनुष्य इस धर्मको धारण करनेके अयोग्य है अथवा इस धर्मका पात्र ही नही है। क्योकि यह धर्म प्राणीमात्र-का धर्म है। यदि कोई मनुष्य पूरी तौर पर इस धर्मका पालन नही

कर सकता तो भी थोड़ा बहुत जरूर पालन कर सकता है। कमसे कम यदि उसका श्रद्धान भी ठीक हो जायगा तो उससे बहुत काम निकल जायगा और वह फिर धीरे धीरे यथावत् आचरण करनेमे भी समर्थ हो जायगा। इसी लिये शायद सोमदेवसूरिने 'यशस्तिलक' में लिखा है कि—

'नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद् गणवर्धनम्।'

अर्थात्—ऐसे ऐसे नए मनुष्योंसे भी अपने समाजकी समूहवृद्धि करनी चाहिये जो सदिग्धनिर्वाह है—जिनके विषयमे यह संदेह है कि वे समाजके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे।

दूसरी नीतिका यह वाक्य है कि 'अयोग्य' पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः' अर्थात् कोई भी मनुष्य स्वभावसे अयोग्य नही है। परन्तु किसी मनुष्यको योग्यताकी ओर लगाना या किसीकी योग्यतासे काम लेना यही कठिन कार्य है और इसी पर दूसरे मनुष्यकी योग्यताकी परीक्षा निर्भर है। इसलिये यदि हम किसी मनुष्यको जैनधर्म धारण न करावे या किसी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी न बना सके तो समझना चाहिये कि यह हमारी ही अयोग्यता है। इसमें उस मनुष्यका कोई दोष नही है और न इसमें जैनधर्मका ही कोई अपराध हो सकता है। इसलिये इस कच्चे विचार और बालख़यालको बिल्कुल हृदयसे निकालकर फेक देना चाहिये कि 'अमुक मनुष्यको तो जैनधर्म बतलाया जावे और अमुकको नही'। प्रत्येक मनुष्यको जैनधर्म बतलाना चाहिये और जैनधर्मका श्रद्धानी बनाना चाहिये; क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्रका धर्म है – किसी खास जाति या देशसे सम्बद्ध (बँधा हुआ) नही है।

यहाँ पर सब प्रकारके मनुष्योंको जैनधर्मका श्रद्धानी अथवा जैनी बनानेसे हमारे किसी भी भाईको यह समझकर भयभीत न होना चाहिये कि ऐसा होनेसे सबका खाना पीना एकदम एक हो जावेगा। खाना पीना और बात है—वह अधिकाशमें अपने ऐच्छिक

व्यवहारपर निर्भर है, लाजिमी नही—और धर्म दूसरी वस्तु है। दूसरे लोगोको जैनधर्ममें दीक्षित करनेके लिये हमे प्राय उसी सनातन मार्गपर चलना होगा जिस पर हमारे पूज्य पूर्वज और आचार्य महानुभाव चलते आये है और जिसका उल्लेख आदिपुराणादि आर्ष ग्रन्थोंमे पाया जाता है[1]। हमारे लिये पहले ही से सब प्रकारकी सुगमताओका मार्ग खुला हुआ है। उसके लिये व्यर्थ अधिक चिन्ता करने अथवा कष्ट उठाने की जरूरत नही है। अत हमको बिल्कुल निर्भय होकर, साहस और धैर्यके साथ, सब मनुष्योमे जैनधर्मका प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले लोगोका श्रद्धान ठीक करना और फिर उनका आचरण सुधारना चाहिये। जैनी बनने और बनानेके लिए इन्ही दो बातोकी खास जरूरत हैं। इनके बाद सामाजिक व्यवहार है, जो देश कालकी परिस्थितियो—आवश्यकताओ—और परस्परके प्रेममय सद्वर्तन आदि पर विशेष आधार रखता है। उसके लिए कोई एक नियम नही हो सकता। वह जितना ही निर्दोष दृढ तथा प्रेममूलक होगा उतना ही समाज और उसके धर्मकी स्थितिके लिये उपयोगी तथा हितकारी होगा।

---

१ आदिपुराणमे तो म्लेच्छो तकको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेनेकी—उन्हे क्रमश अपनी जातिमे शामिल कर लेनेकी—व्यवस्था की गई है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिन ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमै ॥ —पर्व ४२वा

२५

भक्ति-योग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चय-नयकी अपेक्षा परस्पर समान है— कोई भेद नही, सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है । प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोका आधार है— पिड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अडतालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते है । अनेक अवस्थाओको लिये हुए ससारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्म-मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप है, और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते है। जब तक किसी जीवकी ये विभाव-परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'ससारी' कहलाता है और तभी तक उसे ससारमे कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दु.ख उठाना होता है। जब योग्य साधनोके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामे कर्म-मलका सम्बन्ध नही रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा

पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा ससार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाए है—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोके ससारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं, अथवा अविकसित अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोमे भी उन्हे बाटा जा सकता है। और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्व-रूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य है, जो अविकसित या अल्पविक-सित हैं, क्योकि आत्मगुणोका विकाश सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि ससारी जीवोका हित इसीमे है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमे स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करे। इसके लिये आत्म-गुणोका परिचय चाहिये, गुणोमे वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। बिना अनुरागके किसी भी गुण-की प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नही, बिना परिचयके अनुराग बढाया नही जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इसलिये अपना हित एव विकास चाहनेवालोको उन पूज्य महापुरुषो अथवा सिद्धात्माओकी शरणमे जाना चाहिये—उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोमे अनु-राग बढाना चाहिये और उन्हे अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नकशे कदम पर चलना चाहिये, अथवा उनकी शिक्षाओ पर अमल करना चाहिये, जिनमे आत्माके गुणोका अधिकाधिकरूपमे अथवा पूर्णरूपमे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है।

वास्तवमे ऐसे महान महात्माओके विकसित आत्मस्वरूपक भजन और कीर्तन ही हम ससारी जीवोके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है। हमे 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने

जीवनमे उतार सकते हैं और उन्हीके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी गरज नही होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिये की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोमे अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनेको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एव रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर है। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, शुभोपयोगि चारित्र लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोकी विशुद्धिसे सचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी-शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोका उदय होता है,जिनसे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमे इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने

तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है, और इसीलिये स्तुति-वदनादिके रूपमे यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओमे ही नही, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक-क्रियाओमे भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ है और अन्त-र्दृष्टिपुरुषो (मुनियो तथा श्रावको) के द्वारा आत्मगुणोके विकासको लक्ष्यमे रखकर ही नित्य की जाती है और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती है। अन्यथा, लोकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नही बन सकता, और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना सचित पापो अथवा कर्मोका नाश होकर आत्मीय गुणोका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अत इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एव भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिनका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नही होती, और न विना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

२६

महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथिका महत्व

श्रीवर्द्धमान महावीरकी गर्भ-जन्म-तप (दीक्षा)-ज्ञान-निर्वाण नामकी पंच कल्याणक तिथियाँ खूब प्रसिद्ध है—प्राय नित्यकी पूजामे उनका उच्चारण-स्मरण किया जाता है और उन्हें लक्ष्य करके पच-कल्याणक-व्रतानुष्ठानमे उपवास भी किये जाते हैं। जन्मतिथि तो 'महावीर जयन्ती' के रूपमे प्राय सर्वत्र उत्सवादि-पूर्वक मनाई जाती है। परन्तु भ० महावीरके उपासकोमे ऐसे बहुत ही कम—नहींके बराबर—लोग निकलेगे जिन्हे भगवान्‌की तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि अर्थात् वह दिन भी ठीक अवगत हो जिस दिन उन्होने केवलोत्पत्तिके पश्चात् लोक-हितार्थ अपना उपदेश प्रारम्भ किया था और उसके द्वारा धर्म-अधर्मकी यथार्थ परिभाषा बतलाकर तथा तत्त्व-अतत्त्वका ठीक भेद समझाकर अज्ञानान्धकारमे भूले-भटकते हुए प्राणियोको सन्मार्ग दिखलाया था, उनके वहमो—मिथ्याविश्वासो—को दूर भगाकर उनकी कुप्रवृत्तियोको सुधारनेका सातिशय प्रयत्न किया था और अन्याय-अत्याचारोसे पीड़ित एवं आकुलित जनताको सान्त्वना देकर उसके उद्धारका नेतृत्व ग्रहण करते हुए विश्वभरको सुख-शान्तिका सच्चा सन्देश सुनाया था। कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि तिथियोंसे कुछ कम महत्वकी नही है, बल्कि कितने ही अंशोमें अधिक महत्व

रखती है। क्योंकि दूसरी तिथियां जब व्यक्तिविशेषके उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती है तब यह तिथि पीडित, पतित और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमे सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्व दिये जाने योग्य है। परन्तु खेद है कि आज हम अपने कल्याणका सूत्रपात करनेवाली उस पावन तिथिको प्रायः बिल्कुल ही भुला बैठे हैं! हमे यह भी मालूम नही कि जिस तीर्थ-प्रवर्तनके कारण हम भ० महावीरको तीर्थंकर मानकर पूजते हैं वह तीर्थप्रवृत्ति अथवा तीर्थोत्पत्ति किस दिन हुई थी! फिर उसकी स्मृतिमे कोई शुभकृत्य करना अथवा किसी उत्सवादिके रूपमे वह पुण्यदिवस मनाना तो दूरकी बात है!! अत आज इस लेख-द्वारा मैं अपने भाईयोका ध्यान उनके इस पवित्र कर्तव्यकी ओर आकर्षित करता हूँ।

'धवल' नामक सिद्धान्त ग्रन्थमे, जो अभी तक अलभ्य और दुष्प्राप्य था, उस पुण्यतिथिका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥

इस गाथामे साफ तौरसे भ०महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको पूर्वाह्णके समय अभिजित नक्षत्रमे बतलाई है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि वह श्रावणका महीना वर्षका पहला महीना था और वह कृष्ण पक्ष वर्षका पहला पक्ष था, जिससे एक बड़े ही महत्वका ऐतिहासिक तत्त्व प्रकाशमें आता है, और वह यह कि महावीरके समयमे यहाँ वर्षका आरम्भ श्रावणके महीने तथा कृष्णपक्षसे होता था—विक्रमादि सवतोकी तरह किसी दूसरे महीने अथवा शुक्लपक्षसे नही होता था। और इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि आजसे कोई ढाई हजार वर्ष पहले—निर्वाण

संवत्से २६ वर्ष ३।। महीने पूर्व—हमारे इस कृषि-प्रधान देशमें सावनी-आषाढीके विभागरूप फसली साल प्रवृत्त था। तब आजकल फसली सालकी जो संख्या बतलाई जाती और प्रवृत्तिमें आ रही है वह किस आधार पर अवलम्बित है और कहाँ तक ठीक है, यह अवश्य ही एक विचारणीय विषय है, जिस पर विद्वानोको खासतौरसे अनुसंधान-पूर्वक प्रकाश डालना चाहिये। अस्तु।

धवल सिद्धान्तमे एक दूसरी गाथा और दी है, जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्रावण कृष्ण प्रतिपदाका वह पूर्वाण्हका समय सूर्योदयका समय था, अभिजित नक्षत्रका उस समय योग हुआ ही था और रुद्र नामका प्रथम मुहुर्त वर्त रहा था, उसी समयका यह सब योग जो युगकी आदि—युगारम्भका माना जाता है वही वीरशासनकी उत्पत्तिका समझना चाहिये। वह गाथा इस प्रकार है—

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए तत्थ जुगादो मुणेयव्वो।।

इस तरह श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी तिथि महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि, युगारंभ-तिथि अथवा शासन-तिथि है और इससे उसका महत्व स्वतः स्पष्ट है। उस दिन महावीर-शासनके प्रेमियोको खास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमे महावीर-शासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका—भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमे लगे हो उन्हे सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमे सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होवे। आशा है सहृदय बन्धुजन मेरी इस छोटीसी सूचना एवं प्रेरणा पर अवश्य ही ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

२७

सकाम-धर्मसाधन

लौकिक-फलकी इच्छाओको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते है और जो धर्म वैसी इच्छाओको साथमें न लेकर, मात्र आत्मीय-कर्तव्य समझ कर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम-धर्मसाधन' है। निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तवमे धर्मसाधन है और वही वास्तविक फलको फलता है। सकाम-धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नही हो सकती। प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर-पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नही, जिनके अन्दर धैर्य नही, श्रद्धा नही, जो निर्बल है, कमज़ोर हैं, उतावले हैं और जिन्हे धर्मके फल पर पूरा विश्वास नही, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमे अपनी इच्छाकी टागे अडा कर धर्मको अपना कार्य करने नही देते—उसे पंगु और बेकार बना देते है, और फिर यह कहते हुए नही लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नही हुई। ऐसे लोगोके समाधानार्थ—उन्हे उनकी भूलका परिज्ञान करानेके लिए ही—यह निबन्ध लिखा जाता है, और इसमे आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषयको स्पष्ट किया जाता है।

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थमे लिखते है—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

'फलके प्रदानमे कल्पवृक्ष संकल्पकी और चिन्तामणि चिन्ताकी अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष विना सकल्प किये और चिन्तामणि विना चिन्ता किये फल नही देता, परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नही रखता—वह विना सकल्प किये और विना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है।'

जब धर्म स्वय ही फल देता है और फल देनेमे कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणिकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल प्राप्तिके लिए इच्छाएँ करके—निदान बाधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही सक्लेशित और आकुलित करनेकी क्या जरूरत है? ऐसा करनेसे तो उलटा फल-प्राप्तिके मार्गमे काँटे बोए जाते है, क्योकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उसमें बाधक हैं।

इसमें सदेह नही कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते है; परन्तु तभी तो जब धर्मसाधनमें विवेकसे काम लिया जाय। अन्यथा, क्रियाके—बाह्यधर्माचरणके—समान होने पर भी एकको बन्ध फल, दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पाप-फल, क्यों मिलता है? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमें श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते है—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥७२१॥

'जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी। दोनोंका धर्माचरण समान होने पर भी अज्ञानी अविवेकके कारण कर्म बाँधता है और ज्ञानी विवेक-द्वारा कर्म-बन्धनसे छूट जाता है।'

ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमे भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥७१७॥

इससे विवेक-पूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक जरूरत नही रहती।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका—सम्यग्ज्ञानका—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोमे लिखा है :—

ज अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥३८॥

अर्थात्—अज्ञानी-अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र-कोटि-भवोंमे—करोडो जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्म-समूहको ज्ञानी-विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूपमे लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमे—लीलामात्रमे—नाश कर डालता है।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्रको 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसार-परिभ्रमण एवं उसके दुःख-कष्टोसे मुक्ति दिलाता है। विवेकके बिना चारित्र मिथ्याचारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह ससार-परिभ्रमण तथा दुःख-परम्पराका ही कारण है। इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है:—

न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधन तस्मात् ॥३८॥

—पुरुपार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक—विवेकको साथमे न लेकर—दूसरोकी देखा देखी अथवा कहने-सुनने मात्रसे—जो चारित्रका अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक्चारित्र' नाम नही पाता—उसे 'सम्यक्चारित्र' नही कहते। इसीसे (आगममे) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर—विवेक हो

जाने पर—चारित्रके आराधनका—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्मकी आराधनामे, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आराधनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमे, 'चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको—वस्तु-स्वभाव होनेके कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्-चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है[1]।

वास्तवमे यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरणका प्राण कहा गया है। बिना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नही है। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्या.[2]।

तदनुरूप भावके विना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसे कि बकरीके गलेके स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन देखनेमे स्तनाकार होते हैं, परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नही देते—उनसे दूध नही निकलता—उसी प्रकार विना तदनुकूल भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती है, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नही हो सकता[3]।

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ ७॥

२. देखो, कल्याणमन्दिरस्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य।

३ भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकठे स्तनाविव॥

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावोंसे पुण्य बँधता है—किनसे पाप और किनसे दोनोंका वन्ध नही होता ? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते हैं ? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किसका नाम है ? सासारिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्रकषायके वशीभूत होकर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तवमे पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नही ? और ऐसी इच्छा धर्मकी साधक है या वाधक ? वह खूब समझता है कि सकामधर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है; धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभाव परिणति धर्मका स्थान नही ले सकती। इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमे तद्रूपभावकी योजना-द्वारा प्राणका सचार करके उन्हे सार्थक और सफल वनाता है। ऐसे ही विवेकी जनोके द्वारा अनुष्ठित धर्मको सव-सुखका कारण वतलाया है। विवेककी पुट विना अथवा उसके सहयोगके अभावमे मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नही है। ऐसी क्रियाएँ तो जड मशीने भी कर सकती है और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं—फोनोग्राफके कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते है और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखनेमें आते है। और भी जडमशीनोसे आप जो चाहे धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते है। इन सब क्रियाओको करके जडमशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नही वन सकतीं और न धर्मके फलको ही पा सकती है, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके विना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मात्मा नही वन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है। ऐसे अविवेकी मनुष्यो और जड़मशीनोमे कोई विशेष अन्तर नही होता—उनकी क्रियाओको सम्यक्चारित्र न कहकर 'यान्त्रिक चारित्र' कहना चाहिये। हाँ, जड मशीनोकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योमे मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेपता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-वन्ध करके अपना

अहित जरूर कर लेते हैं—जब कि जडमशीने वैसा नही कर सकती। इसी यान्त्रिक चारित्रके भुलावेमे पडकर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्मका अनुष्ठान कर लिया! इसी तरह करोड़ो जन्म निकल जाते है और करोड़ो वर्षकी बाल-तपस्यासे भी उन कर्मोंका नाश नही हो पाता, जिन्हे एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके ससाधन-पूर्वक क्षणमात्रमे नाश कर डालता है।

इस विषयमे स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमे, कितना ही प्रकाश डाला है। उसके निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है :—

कम्म पुण्णं पावं हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु ॥

जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण सजुत्तो ॥

जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥

पुण्णासएण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह ॥

पुण्णं बधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो सतो।
तम्हा मदकसाया हेऊ पुण्णस्स णहि वंछा ॥

गाथा ९०, १९०, ४१०—४१२

इन गाथाओमे बतलाया है कि—'पुण्यकर्मका हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पापकर्मका हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम। मंदकषायरूप परिणामोको स्वच्छ परिणाम और तीव्रकषायरूप परिणामोको अस्वच्छ परिणाम कहते है। जो जीव अतितीव्र-कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभावसे—कषायकी मदतासे—युक्त रहता है वह पुण्या-

त्मा कहलाता है। जो जीव कषायभावसे युक्त हुआ विषयसौख्यकी तृष्णासे—इंद्रियविषयको अधिकाधिक रूपमे प्राप्त करनेकी तीव्र-इच्छासे—पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओके करनेमे प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य-कर्म विशुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखनेवाले होते हैं। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नही हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होनेवाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नही कर सकते। चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्मक्रियाओके करनेसे—सकाम-धर्मसाधनसे—पुण्यकी सम्प्राप्ति नही होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मसाधन करनेवालेके ही पुण्यकी सप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्यमे भी आसक्ति नही रखना चाहिए। वास्तवमे जो जीव मदकषायसे परिणत होता है वही पुण्य बाधता है, इसलिये मन्दकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवांछा पुण्यका हेतु नही—विषयवाछा अथवा विषयासक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करनेवाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।'

इन वाक्योसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोकी पुष्टि एव पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नही होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है, इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान्की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाए बनती हैं वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नही होती—उन्हे एक प्रकारकी सासारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाए करके भी पाप उपार्जन करते है और सुखके स्थानमे उलटा दुखको निमन्त्रण देते हैं। ऐसे लोगोकी इस परिणतिको श्रीशुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५ वे प्रकरणमे, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दु खोका कारण बतलाया है। यथा.—

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दु खदावोग्रधामं ॥

अर्थात्—अनेक प्रकारके पुण्यानुष्ठानोको–धर्म कृत्योको–करके जो मनुष्य तीर्थंकरपद तथा दूसरे देवोके किसी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्ही पुण्याचरणोके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोके उच्छेदकी वाँछा करता है, अथवा अनेक विकल्पोंके साथ उन धर्म-कृत्योको करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा तथा लाभादिककी याचना करता है, उसकी यह सब सकाम-प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्तध्यान है। ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्योके लिए दु ख-दावानलका अग्रस्थान होता है—उससे महादु खोकी परम्परा चलती है।

वास्तवमे आर्त्तध्यानका जन्म ही संक्लेश–परिणामोसे होता है, जो पापबन्धके कारण है। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोकमे भी आर्त्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओके बल पर ही प्रकट होनेवाला लिखा है और साथ ही यह सूचित्त किया है कि आर्त्तध्यान पापरूपी दावानलको प्रज्वलित करनेके लिए ईन्धनके समान है—

कृष्ण-नीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।
इद दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥४०॥

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलोंकी इच्छा रखकर धर्मसाधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नही बनाता, बल्कि उलटा पापबन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमे इस विषयमे बहुत ही सावधानी रखनेकी जरूरत है। सम्यक्त्वके आठ अंगोमे नि.कांक्षित नामका भी एक अग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअ-मितगति आचार्य उपासकाचारके तीसरे परिच्छेदमे साफ लिखते है—

विधीयमानाः शम-शील-संयमाः श्रिय ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् ॥७४

अर्थात्—नि काक्षित अगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी वाछा नही करता है कि मैंने जो शम, शील और सयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवाछित लक्ष्मीको प्रदान करे, जो नानाप्रकारके सासारिक सुखोमे वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है—ऐसी वांछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है।

इसी नि काक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'समयसार' मे इस प्रकार दिया है—

जो ण करेदि दु कंख कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय-विषय-सुखादिकी - इच्छा नही रखता है—यह नही चाहता है कि मेरे अमुककर्मका मुझे अमुकलौकिक फल मिले—और न उस फलसाधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोको ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे 'नि'काक्षित सम्यग्दृष्टि' समझना चाहिये।

यहाँपर मै इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थसूत्रमे क्षमादि दश धर्मोके साथमे 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादिरूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यो लगाया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थ-सिद्धि' टीकामे लिखते है—

दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनोको टालनेके लिए 'उत्तम' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

इससे यह विशेषणपद यहाँ 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक

प्रयोजनको लेकर—कोई दुनियावी गर्ज साधनेके लिये—यदि क्षमा, मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-सयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमेसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है। ऐसे सकाम-धर्मसाधनको वास्तवमे धर्मसाधन ही नही कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकासके लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझकर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम-धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकामधर्मसाधनके निषेधमे आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योंकी खुली आज्ञाएँ होते हुए भी खेद है कि हम आज-कल अधिकाशमे सकाम-धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे है। हमारी पूजा-भक्ति उपासना, स्तुति-वन्दना-प्रार्थना, जप-तप-दान और संयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोकी प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है, तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति। कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है, तो कोई शरीरमें बल लानेकी। कोई मुकद्दमेमे विजय लाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये। कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामे व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्योंको सफल बनानेकी धुनमे मस्त। कोई इस लोकके सुखोको चाहता है, तो कोई परलोकमे स्वर्गादिकोंके सुखोकी अभिलाषा रखता है। और कोई-कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहाँ तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवानको भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्! आपकी कृपासे यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाएगा तो मै आपकी पूजा करूँगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूँगा, छत्र-चँवरादि भेट करूँगा, रथ-यात्रा निकलवाऊँगा, गज-रथ चलवाऊँगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा!! ये सब धर्मकी विडम्बनाएँ है! इस प्रकारकी विडम्बनाओंसे अपनेको धर्मका कोई लाभ नही होता और न आत्म-

विकास ही सध सकता है। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है—उसके विषयमे विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडम्बित या कलकित नही होने देता—वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है। 'धर्मो रक्षति रक्षित' की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकासको सिद्ध करता है।

ऐसी हालतमे सकामधर्मसाधनको हटाने और धर्मकी विडम्बनाओको मिटानेके लिये समाजमे पूर्ण आन्दोलन होनेकी जरूरत है, तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा। इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एव धर्म-परायण विद्वानोको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणोकी युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये। यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बडा ही पुण्यकार्य है। ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये समाजके अनेक प्रमुख पत्रोको अपनाना—उनका उपयोग करना चाहिये।

२८

सेवा-धर्म

अहिंसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म, सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामोसे हम बहुत कुछ परिचित है; परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक वहुत ही अपरिचितसा वना हुआ है। हम प्राय' समझते ही नही कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनो-ने ही तो सेवाधर्मको सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है,वे सेवकको गुलाम समझते है और गुलामीमें धर्म कहाँ ? इसीसे उनकी उस प्रकारके संस्कारोमे पली हुई बुद्धि सेवाधर्मको कोई धर्म अथवा महत्वका धर्म माननेके लिये तैय्यार नही—वे समझ ही नही पाते कि एक भाड़ेके सेवक, अनिच्छापूर्वक मजबूरीसे काम करनेवाले परतन्त्रसेवक और स्वेच्छासे अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्मका अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवामे दत्तचित्त रहनेवाले स्वयसेवकमे कितना बड़ा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्मको शायद किसी नये धर्मकी ही सृष्टि समझते हो, परन्तु ऐसा समझना ठीक नही है। वास्तवमे सेवाधर्म सब धर्मोमे ओत-प्रोत है और सबमे प्रधान है। विना इस धर्मके सब धर्म निष्प्राण है, नि सत्व हैं और उनका कुछ भी मूल्य नही है। क्योकि मन-वचन-कायसे स्वेच्छा एवं विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओका छोड़ना जो किसीके लिये हानिकारक हो और ऐसी क्रियाओका

करना जो उपकारक हो सेवा-धर्म' कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीवको कष्ट अथवा हानि न पहुंचे, मै सावद्य-योगसे विरक्त होता हूँ,' लोकसेवाकी ऐसी भावनाके विना अहिंसा-धर्म कुछ भी नही रहता; और 'मै दूसरोका दु ख-कष्ट दूर करनेमे कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावनाको यदि दया-धर्मसे निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते है। इसी तरह दूसरे धर्मोका हाल है। सेवाधर्मकी भावनाको निकाल देनेसे वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते है। सेवाधर्म ही उन सबमे, अपनी मात्राके अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने-वाला है। इसलिये सेवाधर्मका महत्व बहुत ही बढा चढ़ा है और वह एक प्रकारसे अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म उसके अग अथवा प्रकार है और वह सबमे व्यापक है। ईश्वरादिककी पूजा-भक्ति अथवा उपासना भी उसीमे शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एव उपकारी पुरुषोके प्रति किये जानेवाले अपने कर्तव्यके पालनादि-स्वरूप होती है। इसीसे उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तकके गुणोका कीर्तन करना, उसके शासनको स्वय मानना, सदुपदेशको अपने जीवनमे उतारना और शासनका प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तककी सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियोकी जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवामे दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने इष्टदेव भगवान महावीरके विषयमे अपनी सेवाओका और अपनेको उनकी फलप्राप्तिका जो उल्लेख एक पद्यमे किया है वह पाठकोके जानने योग्य है और उससे उन्हे देव-सेवाके कुछ प्रकारोका बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदयसे और पूर्ण तन्मयताके साथ की हुई वीर-प्रभुकी सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसीसे उस पद्यको उनके 'स्तुति-

विद्या'नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है —

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेज:पते ॥११४॥

इसमें बतलाया है कि—'हे भगवन् ! आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमे मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नही—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है,मै पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाजलि करनेके निमित्त है, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुननेमे लीन रहते है, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती है, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियो[1] के रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमे तत्पर रहता है, इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ— इसीलिये हे तेज:पते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मै तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान्) हूँ ।'

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा तो बड़ो-की—पूज्य पुरुषो एवं महात्माओंकी—होती है और उसीसे कुछ फल भी मिलता है, छोटो-असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है ? ऐसा समझना भूल होगा । जितने भी बड़े, पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हुए है वे सब छोटो, असमर्थो,असहायो एव दीन-दुखियोकी सेवासे ही हुए है—सेवा ही सेवकोंको सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है और इसलिये ऐसे महान लोक-सेवकोंकी

---

१. समन्तभद्रकी देवागम युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र नामकी स्तुतियाँ बडे ही महत्वकी एव प्रभावशालिनी हैं और उनमे सूत्ररूपसे जैनागम अथवा वीरशासन भरा हुआ है ।

सेवा अथवा पूजा-भक्तिका यह अभिप्राय नही कि हम उनका कोरा गुणगान किया करे अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा-चाकरीमे ही अपनेको लगाये रक्खें—उन्हे तो अपने व्यक्तित्वके लिये हमारी सेवाकी जरूरत भी नही है—कृतकृत्योको उसकी जरूरत भी क्या हो सकती है? इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—'न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे'-अर्थात् हे भगवन्! पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योकि आप वीतरागी है—रागका अश भी आपकी आत्मामे विद्यमान नही है, जिसके कारण किसीकी पूजा-सेवासे आप प्रसन्न होते। वास्तवमे ऐसे महान् पुरुषोकी सेवा-उपासनाका मुख्य उद्देश्य उपकार स्मरण और कृतज्ञता-व्यक्तीकरणके साथ 'तद्गुणलब्धि'—उनके गुणोकी सप्राप्ति—होता है। इसी बातको श्रीपूज्यपादाचार्यने, 'सर्वार्थसिद्धि' के मंगलाचरण ('मोक्षमार्गस्य नेतार' इत्यादि) मे, 'वन्दे तद्गुणलब्धये' पदके द्वारा व्यक्त किया है। तद्गुणलब्धिके लिये तद्रूप आचरणकी जरूरत है और इसलिये जो तद्गुण-लब्धिकी इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरणको अपनाता है—अपने आराध्यके अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नकशेकदम पर चलना प्रारम्भ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनिवार्य हो जाती है—दीनो, दुखितो, पीडितो, पतितो, असहायो, असमर्थो, अज्ञो और पथभ्रष्टोकी सेवा करना उसका पहला कर्त्तव्यकर्म बन जाता है। जो ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येयको सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओकी भक्तिके कोरे गीत गाता है वह या तो दभी है या ठग है—अपनेको तथा दूसरोको ठगता है—और या उन जड़ मशीनोकी तरह अविवेकी है जिन्हे अपनी क्रियाओ-का कुछ भी रहस्य मालूम नही होता। और इसलिये भक्तिके रूपमे उसकी सारी उछल-कूद तथा जयकारोका—जय-जयके नारोका—कुछ भी मूल्य नही है। वे सब दभपूर्ण अथवा भावशून्य होनेसे बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तनो (थनो) के समान निरर्थक होते है—

कुछ भी वास्तविक फल नहीं होता।

महात्मा गांधीजीने कई बार ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूकें तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नहीं पहनते और सिरसे पैर तक विदेशी वस्त्रोंको धारण किये हुए मेरी जय बोलते हैं।' ऐसे लोग जिस प्रकार गांधीजीके भक्त अथवा सेवक नहीं कहे जाते बल्कि मजाक उड़ानेवाले समझे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषोंके अनुकूल आचरण नहीं करते—अनुकूल आचरणकी भावना तक नहीं रखते—खुशीसे विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरणको करते हुए ही पूज्य पुरुषकी वंदनादि किया करते तथा जय बोलते हैं, उन्हें उस महापुरुषका सेवक अथवा उपासक नहीं कहा जा सकता—वे भी उस पूज्य व्यक्तिका उपहास करने-करानेवाले ही होते हैं, अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरणके लिए जड़ मशीनोंकी तरह स्वाधीन नहीं हैं और ऐसे पराधीनोंका कोई धर्म नहीं होता। सेवा-धर्मके लिये स्वेच्छापूर्वक कार्यका होना आवश्यक है, क्योंकि स्व-परहित-साधनकी दृष्टिसे स्वेच्छापूर्वक अपना कर्तव्य समझकर जो निष्काम-कर्म अथवा कर्म त्याग किया जाता है वह सच्चा सेवाधर्म है।

जब पूज्य महात्माओंकी सेवाके लिये गरीबोंकी-दीन-दुखियोंकी, पीडितो-पतितोंकी, असहायो-असमर्थोंकी, अज्ञो और पथभ्रष्टोंकी सेवा अनिवार्य है—उस सेवाका प्रधान अंग है, बिना इसके वह बनती ही नहीं—तब यह नहीं कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि "छोटो-असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है?" यह सेवा तो अहंकारादि दोषोंको दूर करके आत्माको ऊँचा उठानेवाली है, तद्गुण-लब्धिके उद्देश्यको पूरा करनेवाली है और हर तरह आत्मविकासमें सहायक है, इसलिये परमधर्म है और सेवाधर्मका प्रधान अंग है। जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपना कुछ भी आत्मलाभ न होता हो वह तो वास्तवमें धर्म ही नहीं है।

इसके सिवाय, अनादिकालसे हम निर्बल, असहाय, दीन, दुःखित पतित, मार्गच्युत और अज्ञ-जैसी अवस्थाओमे ही अधिकतर रहे हैं और उन अवस्थाओमे हमने दूसरोंकी खूब सेवाएं ली है तथा सेवा-सहायताकी प्राप्तिके लिये निरन्तर भावनाएं भी की है, और इस-लिये उन अवस्थाओमे पडे हुए अथवा उनमेंसे गुजरनेवाले प्राणियो-की सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्त्तव्यकर्म है, जिसके पालनके लिये हमे अपनी शक्तिको जरा भी नही छिपाना चाहिये—उसमे जी चुराना अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात न होनी चाहिये। इसीको यथाशक्ति कर्त्तव्यका पालन कहते है।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यकताओकी पूर्तिके लिये कितना अधिक दूसरो पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है। दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढ़ने-बिछाने, दिल-बहलाने, सर्दी-गर्मी आदिसे रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलानेकी जो सेवाए करते है वे सब उसके लिये प्राणादानके समान है। समर्थ होने पर यदि वह उन सेवाओको भूल जाता है और घमडमे आकर अपने उन उपकारी सेवकोकी—माता-पितादिकोकी—सेवा नही करता - उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिये कि वह पतनकी ओर जा रहा है। ऐसे लोगोको ससारमे कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफरामोश जैसे दुर्नामो से पुकारा जाता है। कृतघ्नता अथवा दूसरोके किये हुए उपकारो और ली हुई सेवाओको भूल जाना बहुत बड़ा अपराध है और वह विश्वासघातादिकी तरह ऐसा वड़ा पाप है कि उसके भारसे पृथ्वी भी कॉपती है। किसी कविने ठीक कहा है —

करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृतको विसरै जोय।
आपद पडे मित्र परिहरै, तासु भार धरणी थरहरै॥

ऐसे ही पापोका भार बढ जानेसे पृथ्वी अक्सर डोला करती

है—भूकम्प आया करते हैं। और इसीसे जो साधु पुरुष—भले आदमी—होते हैं वे दूसरोंके किये हुए उपकारों अथवा ली हुई सेवाओंको कभी भूलते नहीं हैं—'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'—बदलेमें अपने उपकारियोंकी अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरोंकी सेवा करके ऋणमुक्त होते रहते हैं। उनका सिद्धान्त तो 'परोपकाराय सतां विभूतयः' की नीतिका अनुसरण करते हुए प्रायः यह होता है :—

> उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?
> अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

अर्थात्—अपने उपकारियोंके प्रति जो साधुताका—प्रत्युपकारादिरूप सेवाका—व्यवहार करता है उसके उस साधुपनमें कौन बड़ाईकी बात है ?—ऐसा करना तो साधारण-जनोचित मामूली-सी बात है। सत्पुरुषोंने उसे सच्चा साधु बतलाया है जो अपना अपकार एवं बुरा करनेवालोंके प्रति भी साधुताका व्यवहार करता है—उनकी सेवा करके उनके आत्मासे शत्रुताके विषको ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है।

ऐसे साधुपुरुषोंकी दृष्टिमें उपकारी, अनुपकारी और अपकारी प्रायः सभी समान होते हैं। उनकी विश्वबन्धुत्वकी भावनामें किसीका अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नहीं डालता। 'अप्रियमपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः' इस उदार भावनासे उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता है। वे तो सेवाधर्मके अनुष्ठान-द्वारा अपना विकास सिद्ध किया करते हैं, और इसीसे सेवाधर्मके पालनमें सब प्रकारसे दत्तचित्त होना अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

वास्तवमें, पैदा होते ही जहाँ हम दूसरोंसे सेवाएँ लेकर उनके ऋणी बनते हैं वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोगकी सामग्री जुटानेमें, अपनी मान-मर्यादाकी रक्षामें, अपनी कषायोंको पुष्ट करनेमें और अपने महत्व या प्रभुत्वको दूसरों पर स्थापित

करनेकी धुनमें अपराध भी कुछ कम नही करते है। इस तरह हमारा आत्मा परकृत-उपकार-भार और स्वकृत-अपराध-भारसे बराबर दबा रहता है। इन भारोके हलका होनेके साथ साथ ही आत्माके विकासका सम्बन्ध है। लोकसेवासे यह भार हलका होकर आत्म-विकासकी सिद्धि होती है। इसीसे सेवाको परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम-गहन है कि कभी-कभी तो योगियोके द्वारा भी अगम्य हो जाता है—उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी उसके सामने घुटने टेक देते है और गहरी समाधिमे उतर कर उसके रहस्य को खोजनेका प्रयत्न करते है। लोकसेवाके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हे बहुधा यह कहते हुए सुनते हैं—

"हा दुट्ठकय ! हा दुट्ठ भासिय ! चिंतियं च हा दुट्ठ !
अतो अंतो डज्झम्मि पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥"

मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिमे जहाँ थोडीसी भी प्रमत्तता, असावधानी अथवा त्रुटि लोकहितके विरुद्ध दीख पड़ती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकारके उद्गार उनके मुँहसे निकल पड़ते है और वे उनके द्वारा पश्चाताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधोका भी नित्य प्रायश्चित्त किया करते है। इसीसे यह प्रसिद्ध है कि—

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्य.।"

सेवाधर्मकी साधनामे, नि सन्देह, बडी सावधानीकी जरूरत है और उसके लिये बहुत कुछ आत्मबलि—अपने लौकिक स्वार्थोकी आहुति—देनी पडती है। पूर्णसावधानी ही पूर्णसिद्धिकी जननी है, धर्मकी पूर्णसिद्धि ही पूर्ण आत्मविकासके लिये गारंटी है और यह आत्मविकास ही सेवाधर्मका प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्यका लक्ष्य जब तक शुद्ध नही होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर जरूर प्रतीत होता है, वह सेवा करके अपना अहसान जताता है, प्रतिसेवाकी—प्रत्युपकारकी—वाँछा करता है अथवा अपनी तथा दूसरोकी सेवाकी मापतौल किया करता

है, और जब उनकी मापतोल ठीक नहीं उतरती—अपनी सेवासे दूसरोंकी सेवा कम जान पड़ती है—अथवा उसकी वह वाञ्छा ही पूरी नहीं होती और न दूसरा आदमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम झुंझला उठता है, खेदखिन्न होता है दुःख मानता है, सेवा करना छोड़ देता है और अनेक प्रकारके राग द्वेषोंका शिकार बनकर अपनी आत्माका हनन करता है। प्रत्युत इसके, लक्ष्यशुद्धिके होते ही यह सब कुछ भी नहीं होता, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करनेमें आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ़ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थोंकी सहजमें ही बलि चढ़ जाती है तथा जरा भी कष्ट-बोध होने नहीं पाता। इस दशामें जो कुछ भी किया जाता है अपना कर्तव्य समझकर खुशीसे किया जाता है और उसके सामने प्रतिसेवा, प्रत्युपकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहंकारकी कोई भावना न रहनेसे भविष्यमें दुःख, उद्वेग तथा कषाय-भावोंकी उत्पत्तिका कोई कारण ही नहीं रहता; और इसलिये सहजमें ही आत्मविकास सध जाता है। ऐसे लोग यदि किसीको दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते हैं। किसीने पूछा 'आप ऐसा क्यों करते हैं?' तो वे उत्तर देते हैं.—

"देनेवाला और है, मैं समरथ नहिं देन।
लोग भरम मो करत है, यातें नीचे नैन॥"

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है और वह इसका भाग्योदय है—मैं खुद कुछ भी देनेके लिये समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यों न देता? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते हैं, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ। देखिये, कितना ऊँचा भाव है। आत्मविकासको अपना लक्ष्य बनानेवाले मानवोंकी ऐसी ही परिणति होती है'। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धिके साथ इस सेवाधर्मका अनुष्ठान हर कोई अपनी

शक्तिके अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुख्तार मुख्तारकारी, मुहर्रिर मुहर्रिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने-अपने उस पेशेका कार्य और मजदूर अपनी मजदूरी करता हुआ उसीमेसे सेवाका मार्ग निकल सकता है। सबके कार्योंमे सेवाधर्मके लिये यथेष्ट अवकाश है—गुंजाइश है।

सेवाधर्मके प्रकार और मार्ग

अब मैं सक्षेपमे यह बतलाना चाहता हूँ कि सेवा-धर्म कितने प्रकारका है और उसके मुख्य मार्ग कौन-कौन है। सेवा-धर्मके मुख्य भेद दो है—एक क्रियात्मक और दूसरा अक्रियात्मक। क्रियात्मकको प्रवृत्तिरूप तथा अक्रियात्मकको निवृत्तिरूप सेवाधर्म कहते है। यह दोनो प्रकारका सेवाधर्म मन, वचन तथा कायके द्वारा चरितार्थ होता है, इसलिये सेवाके मुख्य मार्ग मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन ही है—धनादिकका सम्बन्ध कायके साथ होनेसे वह भी कायिकमे ही शामिल है। इन्ही तीनो मार्गोंसे सेवाधर्म अपने कार्यमें परिणत किया जाता है और उसमे आत्म-विकासके लिये सहायक सारे ही धर्म-समूहका समावेश हो जाता है।

निवृत्तिरूप सेवाधर्ममे अहिंसा प्रधान है। उसमे हिंसारूप क्रियाका—सावद्य-कर्मका—अथवा प्राणव्यपरोपणमें कारणीभूत मन-वचन-कायकी प्रमत्तावस्थाका तथा सकल्पका त्याग किया जाता है। मन-वचन-कायकी इंद्रिय-विषयोमे स्वेच्छा-प्रवृत्तिका भले प्रकार निरोधरूप 'गुप्ति', गमनादिकमें प्राणि-पीड़ाके परिहाररूप 'समिति', क्रोधकी अनुत्पत्तिरूप 'क्षमा', मानके अभावरूप 'मार्दव', माया अथवा योगवक्रताकी निवृत्तिरूप 'आर्जव', लोभके परित्यागरूप 'शौच', अप्रशस्त एव असाधु वचनोके त्यागरूप 'सत्य', प्राणव्यपरोपण और

इन्द्रिय-विषयोंके परिहाररूप 'संयम', इच्छानिरोधरूप 'तप', दुष्ट-विकल्पोंके सत्याग अथवा आहारादिक देय-पदार्थोंमेंसे ममत्वके परिवर्जनरूप 'त्याग', बाह्य पदार्थोंमें मूर्छाके अभावरूप 'आकिंचिन्य', अब्रह्म अथवा मैथुनकर्मकी निवृत्तिरूप 'ब्रह्मचर्य' (ऐसे 'दशलक्षणधर्म'), क्षुधादि-वेदनाओंके उत्पन्न होने पर चित्तमें उद्वेग तथा अशान्तिको न होने देने रूप 'परिषहजय', रागद्वेषादि-विषमताओंकी निवृत्तिरूप 'सामायिक' और कर्म-ग्रहणकी कारणीभूत-क्रियाओंसे विरक्तिरूप 'चारित्र', ये सब भी निवृत्तिरूप सेवाधर्मके ही अंग हैं, जिनमेंसे कुछ 'हिंसा' और कुछ 'हिंसेतर' क्रियाओंके निषेधको लिये हुए हैं।

इस निवृत्ति-प्रधानसेवाधर्मके अनुष्ठानके लिए किसी भी कौड़ी-पैसेकी पासमें जरूरत नहीं है। इसमें तो अपने मन-वचन-कायकी कितनी ही क्रियाओं तकको रोकना होता है - उनका भी व्यय नहीं किया जाता। हाँ, इस धर्म पर चलनेके लिये नीचे लिखा गुरुमंत्र बड़ा ही उपयोगी है—अच्छा मार्गदर्शक है :—

"आत्मन' प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

'जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—जिनके दूसरों-द्वारा किए हुए व्यवहारको तुम अपने लिये पसद नहीं करते, अहितकर और दुखदाई समझते हो—उनका आचरण तुम दूसरोंके प्रति मत करो।'

यही पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र है। इसमें संकेतरूपसे जो कुछ कहा गया है व्याख्या-द्वारा उसे बहुत कुछ विस्तृत तथा पल्लवित करके बतलाया जा सकता है।

प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें 'दया' प्रधान है। दूसरोंके दुःखों-कष्टोंका अनुभव करके—उनसे द्रवीभूत होकर—उनके दूर करनेके लिए मन-वचन-कायकी जो प्रवृत्ति है—व्यापार है—उसका नाम 'दया' है। अहिंसाधर्मका अनुष्ठाता जहाँ अपनी ओरसे किसीको दुःख-कष्ट नहीं पहुँचाता, वहाँ दयाधर्मका अनुष्ठाता दूसरोंके द्वारा पहुँचाए

गये दु ख-कष्टोको भी दूर करनेका प्रयत्न करता है। यही दोनोंमे प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दयाको उसकी सुगध समझना चाहिए।

दयामे सक्रिय परोपकार, दान, वैय्यावृत्य, धर्मोपदेश और दूसरोके कल्याणकी भावनाएँ शामिल है। अज्ञानसे पीड़ित जनताके हितार्थ विद्यालय–पाठशालाएँ खुलवाना, पुस्तकालय–वाचनालय स्थापित करना, रिसर्च इन्स्टीट्यूटोका—अनुसन्धान प्रधान सस्थाओ का—जारी कराना, वैज्ञानिक खोजोंको प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थ-निर्माण और व्याख्यानादिके द्वारा अज्ञानान्धकारको दूर करनेका प्रयत्न करना, रोगसे पीडित प्राणियोंके लिए औषधालयो-चिकित्सालयोकी व्यवस्था करना, बेरोजगारी अथवा भूखसे सतप्त मनुष्योके लिए रोजगार–धन्धेका प्रबन्ध करके उनके रोटीके सवालको हल करना और कुरीतियो, कुसस्कारों तथा बुरी आदतोसे जर्जरित एवं पतनोन्मुख मनुष्य-समाजके सुधारार्थ सभा-सोसाइटियोका कायम करना और उन्हे व्यवस्थितरूपसे चलाना, ये सब उसी दया-प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मके अङ्ग हैं। पूज्योकी पूजा-भक्ति-उपासनाके द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपने आत्माका उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मका अङ्ग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें भी जहाँ तक अपने मन, वचन और कायसे सेवाका सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कौड़ी-पैसेकी जरूरत नही पड़ती—जहाँ सेवाके लिए दूसरे साधनोसे काम लिया जाता है वहाँ ही उसकी ज़रूरत पडती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधिकाश सेवाधर्मके अनुष्ठानके लिए मनुष्यको टके-पैसेकी जरूरत नही है। जरूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्यको शुद्ध करनेकी, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नही।

इस प्रकार सेवाधर्मका यह संक्षिप्तरूप, विवेचन अथवा दिग्दर्शन है, जिसमे सब धर्मोका समावेश हो जाता है।

२९

होलीका त्यौहार और उसका सुधार

भारतके त्योहारोंमे होली भी एक देश-व्यापी मुख्य त्यौहार है। अनेक धर्म-समाजोंमे इसकी जो कथाएँ प्रचलित हैं वे अपनी अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको लेकर भिन्न भिन्न पाई जाती हैं। यहाँ पर उन सबके विचारका अवसर नही है। होलीकी कथाका मूलरूप कुछ भी क्यो न रहा हो, परन्तु यह त्यौहार अपने स्वरूपपरसे समता और स्वतन्त्रताका एक प्रतीक जान पडता है, अथवा इसे सार्वजनिक हँसी-खुशी एवं प्रसन्न रहनेके अभ्यासका देशव्यापी सक्रिय-अनुष्ठान कहना चाहिये।

इस अवसर पर हर एकको बोलने, मनका भाव व्यक्त करने, स्वाग-तमाशो तथा नृत्य-गानादिके रूपमे यथेष्ट चेष्टाएँ करने, आनन्द मनाने और मानाऽपमानका खयाल छोडकर—वडाई-छोटाई अथवा ऊँचता-नीचताकी कल्पना-जन्य व्यर्थका सकोच त्यागकर—एक दूसरे-के सम्पर्कमे आनेकी स्वतन्त्रता होती है। साथ ही, किसीके भी रग डालने, धूल उडाने, हँसी-मजाक करने तथा अप्रिय चेष्टाएँ करने आदिको स्वेच्छापूर्वक खुशीसे सहन किया जाता है—अपनी तौहीन (मानहानि) आदि समझकर उस पर क्रोधका भाव नही लाया जाता, न अपनी पोजीशनके विगडनेका कोई खयाल ही सताता है, और यो एक प्रकारसे, समता-सहनशीलताका अभ्यास किया जाता

है। अथवा यो कहिये कि इसके द्वारा राष्ट्रके लिये विघातक ऐसे राग-द्वेषादि-मूलक अनुचित भेद-भावोको कुछ समयके लिये भुलाया जाता है—उन्हे भुलाने तथा जलाने तकका उपक्रम एव प्रदर्शन किया जाता है—और इस तरह राष्ट्रीय एकताको बनाये रखने अथवा राष्ट्रीय-समुत्थानके मार्गको साफ करनेका यह भी एक कदम अथवा ढंग होता है। 'होलीकी कोई दाद-फर्याद नही' यह लोकोक्ति भी इसी भावको पुष्ट करती है, और इसलिये इस त्यौहारको अपने असली रूपमें समता और स्वतन्त्रताका रूपक ही नही, किन्तु एक प्रतीक कहना ज्यादा अच्छा मालूम होता है।

समय भी इसके लिये अच्छा चुना गया है, जो कि वसन्त ऋतुका मध्यकाल होनेसे प्रकृतिके विकासका यौवन-काल है। प्रकृतिके इस विकाससे पदार्थ-पाठ लेकर हमे उसके साथ साथ अपने देश-राष्ट्र एव आत्माका विकास अथवा उत्थान सिद्ध करना ही चाहिये। उसीके प्रयत्न-स्वरूप—उसी लक्ष्यको सामने रखकर—यह त्यौहार मनाया जाता था, और तब इसका मनाना बड़ा ही सुन्दर जान पडता था। परन्तु खेद है कि आज वह बात नही रही! उसका वह लक्ष्य और उद्देश्य ही नही रहा जो उसके मूलमे काम करता था! उसके पीछे जो शुभ भावनाएँ दृष्टिगोचर होती थी और जिन्हें लेकर ही वह लोकमे प्रतिष्ठित हुआ था उन सबका आज अभाव है!! आज तो यह त्यौहार इन्द्रिय-वृत्तियोकी पुष्ट करनेका आधार अथवा चित्तकी जघन्य वृत्तियोको प्रोत्तेजन देनेका साधन बना हुआ है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनोके पतनका कारण है और त्यौहारके रूपमे उसका कोई भी महान ध्येय सामने नही है। इसीसे होलीका वर्तमानरूप विकृत कहा जाता है, उसमे, प्राण न होनेसे वह देशके लिये भाररूप है और इसलिये उसे उसके वर्तमान रूपमे मनाना उचित नही है। उसमें शरीक होना उसके विकृत-रूपको पुष्ट करना है।

यदि समता और स्वतत्रताके सिद्धान्तपर अवलम्बित राष्ट्रीय-एकता आदिकी दृष्टिसे, चित्तकी शुद्धिको कायम रखते हुए,यह त्यौहार अपने शुद्धस्वरूपमे मनाया जाय और उससे जनताको उदारता एवं सहनशीलतादिका सक्रिय-सजीव-पाठ पढाया जाय तो इसके द्वारा देशका वहुत कुछ हित-साधन हो सकता है और वह अपने उत्थान एवं कल्याणके मार्गपर लग सकता है।

इसके लिये ज़रूरत है काग्रेस-जैसी राष्ट्रीय सस्थाके आगे आने की और इसके शरीरमे घुसे हुए विकारोको दूर करके उसमें फिरसे नई प्राण-प्रतिष्ठा करनेकी। यदि कांग्रेस इस त्यौहारको हिन्दूधर्म-की दलदलसे निकाल कर विशुद्ध राष्ट्रीयताका रूप दे सके, एक राष्ट्रीय सप्ताह आदिके रूपमे इसके मनानेका विशाल आयोजन कर सके और मनानेके लिये ऐसी मर्यादाएँ स्थिर करके दृढताके साथ उनका पालन करानेमे समर्थ हो सके जिनसे अभ्यासादिके वश कोई भी किसीका अनिष्ट न कर सके और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनोंके उत्थानमें सहायक हो, तो वह इस बहाने समता और स्वतन्त्रताका अच्छा वातावरण पैदा करके देशका बहुत कुछ हित-साधन कर सकेगी और सच्चे स्वराज्यको बहुत निकट ला सकेगी। यदि काग्रेस ऐसा करनेके लिये तैयार न हो तो फिर हिन्दू-महासभादि देशकी दूसरी सस्थाओ तथा ग्राम-पंचायतोको इस त्यौहारके सुधारका भारी प्रयत्न करना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो यदि देशके प्रमुख-विद्वान, समाज-सेवक,नेता, मंत्रीगण और पंचजन इस त्यौहारके सुधार-विषयमे अपने अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करे और सुधार-विषयक अपनी अपनी योजनाएँ राष्ट्रके सामने रखकर उसे सुधारके लिये प्रेरित करें।

होली-पर्वके सुधार-विषयमे मेरी दस-सूत्री योजना इस प्रकार है :—

(१) इस पर्वके दिन अशुभ राग तथा द्वेष-मूलक कार्य न किये

जाने चाहिय। ऐसी कोशिश होनी चाहिये कि हम अपने कार्यों तथा चेष्टाओसे दूसरोको कितना प्रसन्न, प्रमुदित अथवा आनंदित कर सकते हैं।

(२) ऐसे किसी भी पदार्थका रंगादिके रूपमे प्रयोग न करना चाहिये जो दूसरोंके स्वास्थ्यमें बाधक हो अथवा भारी-अरुचिका विषय हो; जैसे नालियोंका चोडा-कीचड, गन्दा पानी, गोबर, तार-कोल, वार्निश रोगन, स्याही तथा दूसरे भद्दे और पक्के रंग।

(३) रगोमें प्रायः केसरिया, गुलाबी, टेसू जैसे हल्के सुन्दर तथा कच्चे रगोका और गुलाल, अबीर तथा रोली-जैसे कोमल पदार्थोका प्रयोग होना चाहिये।

(४) किसी अपरिचित व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति पर जो होलीके आपके आनंदमें शरीक होना नही चाहता—साफ इनकार कर रहा है—जबरन रग डालना या मलना न चाहिये, खासकर ऐसे पैदल या कि सवारी पर जाते हुए यात्रियो पर जो पहलेसे होलीके रंगमें रगे हुए भी नहो।

(५) गालिया बकना, अश्लील गीत गाना, भद्दे मज़ाक और असभ्यतामूलक कुचेष्टाएँ न होनी चाहिये, जो सब अशुभ रागकी द्योतक हैं। उनके स्थान पर अच्छे शिक्षाप्रद तथा मांगलिक लोक-गीतोको अपनाना चाहिये।

(६) सबको इस दिन जाति-पाति, ऊँच-नीच और स्पृश्य-अस्पृश्यके असद्भेदभावको भुलाकर बिना किसी सकोचके परस्परमें मिल बैठकर पर्वके समता-कार्यको सम्पन्न करना चाहिए।

(७) होलीके दिन मदिरा तथा दूसरे ऐसे मादक पदार्थोंका सेवन न किया जाना चाहिये जिससे हम अपना विवेक खो बैठें।

(८) होलिका-दहनको दोष-दहनका रूप दिया जाना चाहिये। वर्षभरके अपने दोषों, वैर-विरोधों तथा बुराइयोंको स्थिर न रख-कर उन्हे संकल्पपूर्वक त्याग देना अथवा कागज-काष्ठादि पर लिख

कर होलिकाग्निमें उनकी आहुति दे देनी चाहिये और फिर स्वच्छ-हृदयसे प्रेमपूर्वक एक दूसरेसे मिलना चाहिये। ऐसी होली घर-घर जलाई जा सकती है।

(९) किसीका भी कोई काष्ठ, इंधन आदि विना उसकी इजाजतके चोरीसे या जबरन न लेना चाहिये। इस प्रकारसे ग्रहण किया हुआ पदार्थ होलिकाग्निको दूषित करता है।

(१०) इस पर्वकी आडमे किसीको भी अपनी पुरानी दुश्मनी निकालने या वदला लेनेकी भावनासे अथवा किसीका अनिष्ट करनेकी दृष्टिसे कोई काम न करना चाहिये। ऐसे सब काम द्वेष-मूलक कार्योंमे शामिल है, जो पर्वकी पवित्रताको नष्ट करते है।

३०

स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व-पर-वैरी—अपना और दूसरोका शत्रु—कौन ? इस प्रश्नका उत्तर ससारमें अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है। उदाहरणके लिये—

१ स्वपरवैरी वह है जो अपने बालकोको शिक्षा नही देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनकी खराबीसे उसको भी दु ख-कष्ट उठाना पडता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पडता है और सत्संततिके लाभोसे भी वचित रहना होता है।

२ स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोकी छोटी उम्रमें शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षामे बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन—उत्साहविहीन बने रहते है अथवा अकालमे ही कालके गालमे चले जाते है। और उनकी इन अवस्थाओसे उसको भी बराबर दुःख-कष्ट भोगना पडता है।

३ स्वपरवैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होने पर भी प्रमादादिके वशीभूत हुआ रोजगार-धधा छोड़ बैठता है—कुटुम्बके प्रति अपनी ज़िम्मेदारीको भुलाकर आजीविकाके लिये कोई पुरुषार्थ नही करता, और इस तरह अपनेको चिन्ताओमे डालकर दुःखित रखता है और, अपने आश्रितजनो—बालबच्चो आदिको भी,

उनकी आवश्यकताएँ पूरी न करके, सकटमे डालता तथा कष्ट पहुँचाता है।

४. स्वपरवैरी वह है जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि दुष्कर्म करता है, क्योकि ऐसे आचरणोके द्वारा वह दूसरोको ही कष्ट तथा हानि नही पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखदाई अशुभ फल उसे इसी जन्म अथवा अगले जन्ममे भोगना पडता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्वामी समन्तभद्र इस प्रश्न पर एक दूसरे ही ढगसे विचार करते है और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमे दूसरे सब विचार समा जाते है। आपकी दृष्टिमे वे सभी जन स्व-पर-वैरी हैं जो 'एकान्तग्रहरक्त' है (एकान्तग्रहरक्ता स्वपरवैरिण)। अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमें आसक्त हैं – सर्वथा एकान्तपक्षके पक्षपाती अथवा उपासक हैं – और अनेकान्तको नही मानते – वस्तुमे अनेक गुण-धर्मोके होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्मरूप अगीकार करते है, वे अपने और परके वैरी है। आपका यह विचार देवागमकी निम्नकारिकाके 'एकान्तग्रहरक्तेषु' 'स्वपरवैरिषु' इन दो पदो परसे उपलब्ध होता है.—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ ! स्व-पर वैरिषु ॥ ८ ॥

इस कारिकामे इतना और भी बतलाया गया है कि ऐसी एकान्त-मान्यतावाले व्यक्तियोमेसे किसीके यहाँ भी—किसीके भी मतमे—शुभ-अशुभ-कर्मकी, अन्य जन्मकी और 'चकार' से इस जन्मकी, कर्मफलकी तथा बन्ध-मोक्षादिककी कोई व्यवस्था नही बन सकती। और यह सब इस कारिकाका सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थकी दृष्टिसे इसमे साकेतिकरूपसे यह भी संनिहित है कि ऐसे एकान्त-पक्षपातीजन स्वपरवैरी कैसे हैं और क्योकर उनके शुभ-

अशुभकर्मों, लोक-परलोक तथा बन्ध-मोक्षादिककी व्यवस्था नही बन सकती। इस अर्थको अष्टसहस्री-जैसे टीका-ग्रन्थोमे कुछ विस्तारके साथ खोला गया है। बाकी एकान्तवादियोकी मुख्य मुख्य कोटियोका वर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तोको दूषित ठहराकर उन्हे स्व-पर-वैरी सिद्ध करने और अनेकान्तको स्व-पर-हितकारी सम्यक् सिद्धान्तके रूपमे प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थकी अगली कारिकाओमें सूत्ररूपसे किया है। ग्रन्थकी कुल कारिकाएँ (श्लोक) ११४ हैं, जिनपर आचार्य श्री अकलंकदेवने 'अष्टशती' नामकी आठसौ श्लोक-जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही गूढ-सूत्रोमें है; और फिर इस वृत्तिको साथमे लेकर श्री विद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हज़ार श्लोक-परिमाण है और जिसमे मूलग्रन्थके आशयको खोलनेका भारी प्रयत्न किया गया है। यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोको समझनेके लिये इसपर आठ हज़ार श्लोक-जितना एक सस्कृत टिप्पण भी बना हुआ है, फिर भी अपने विषयको पूरी तौरसे समझनेके लिये यह अभी तक 'कष्टसहस्री' ही बनी हुई है। और शायद यही वजह है कि इसका अब तक हिन्दी अनुवाद नही हो सका। ऐसी हालतमे पाठक समझ सकते है कि स्वामी समन्तभद्रका मूल 'देवागम' ग्रन्थ कितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुए है। अकलकदेवने तो उसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्त्वोको अपना विषय करनेवाला स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थ' लिखा है। इसलिये मेरे जैसे अल्पज्ञो-द्वारा समन्तभद्रके विचारोकी व्याख्या उनको स्पर्श करनेके सिवाय और क्या हो सकती है? इसीसे मेरा यह प्रयत्न भी साधारण पाठकोके लिये है—विशेसज्ञोके लिये नही। अस्तु, इस प्रासगिक निवेदनके बाद अब मैं पुन' प्रकृत विषय पर आता हूँ और उसको सक्षेपमें ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्त-

धर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्दृष्टा (उसे ठीक तौरसे देखने-पहचाननेवाला) नही कहला सकता। सम्यग्दृष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तो-अगो-धर्मो अथवा स्वभावो पर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पडा देखकर वह सिक्का नही समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है[1]।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नही करता—और इस तरह अपनी एकान्तधारणा बना लेता है और उसे ही जैसे-तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकातपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध-पुरुषों की तरह आपसमे लड़ते-झगडते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते है वहाँ अपनेको हाथीके विषयमे अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धों-की तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर, अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुसे उस वस्तुका ठीक काम लेनेमें

---

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

समर्थ नही हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोडने अथवा उसकी उपेक्षा करने पर स्वसिद्धात-विरोधी ठहरते हैं, इस तरह दोनो ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते है । नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है–

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगी पर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवन-दाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढाता है । साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचलेके खाने-से अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट हो गया । इस परसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट बनाता है' । उसे मालूम नही कि कुचलेमे मारनेका—जीवनको नष्ट कर देनेका—भी गुण है और उसका प्रयोग सब रोगो तथा सब अवस्थाओमे समानरूपसे नही किया जा सकता, न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारक गुणसे परिचित था; और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढानेके काममे लाता था तब वह दूसरी दवाइयोंके साथमें उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्तुओके घातके काममे लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हो । और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमे अधिक मात्रामें भी दे देता है । नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राण-हानि भी कर डालता है । इस तरह कुचलेके विषयमें एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार

स्व-पर-वैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमे भी एकान्त हठ पकड़नेवालोको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं, क्योंकि अनेकान्तके विना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नही कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नही बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नही वनता। सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमे अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए है—एकके विना दूसरेका सद्भाव नही वनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमे परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते है। उदाहरणके तौर पर अनामिका अगुली छोटी भी है और बड़ी भी—कनिष्टासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामे छोटापन और बडापन दोनो धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नही है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमे सापेक्षरूपसे पाये जाते है—अपेक्षाको छोड़ देने पर दोनोमेसे कोई भी धर्म नही वनता। इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनो धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते है।

जो धर्म एक ही वस्तुमे परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको वनाये रखते हैं। और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नही होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व पर-प्रणाशक होते है, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते हैं और न दूसरेकी। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयभूस्तोत्रमें भी—

'मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः'
'परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः'

इन वाक्योके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्षनयोको मिथ्या और सापेक्षनयोको सम्यक् बतलाते हैं। आपके विचारसे निरपेक्षनयोका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्षनयोंका विषय अर्थकृत (प्रयोजनसाधक) होनेसे वस्तुतत्त्व है[1]। इस विषयकी विशेष चर्चा एवं व्याख्या समन्तभद्र-विचारदीपक-में अन्यत्र की जायगी। यहाँ पर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिये कि निरपेक्षनयोका विषय 'मिथ्या एकान्त' और सापेक्षनयोका विषय 'सम्यक् एकान्त' है। और यह सम्यक् एकात ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते हैं उन्हे ही 'एकान्त-ग्रहरक्त' कहा गया है, वे ही 'सर्वथा-एकान्तवादी' कहलाते है और उन्हे ही यहाँ 'स्व-पर-वैरी' समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते है उन्हे 'एकान्तग्रहरक्त' नहीं कहते, उनका नेता 'स्यात्' पद होता है, वे उस एकान्तको कथचित् रूपसे स्वीकार करते है, इसलिये उसमें सर्वथा आसक्त नही होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथव निराकरण ही करते है—सापेक्षावस्थामे विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नही होता। और इसीसे वे 'स्व-पर-वैरी' नही कहे जा सकते। अत स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'जो एकान्तग्रहरक्त होते है वे स्व-पर-वैरी होते है।'

अब देखना यह है कि ऐसे स्वपरवैरी एकान्तवादियोके मतमे शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल, सुख-दुख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नही बन सकती।

---

१. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। —देवागम १०८

बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब अवस्थाएं चूंकि अनेकान्ताश्रित है—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़नेवाली सापेक्ष अवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नही बन सकती। इसलिये जो अनेकान्तके बैरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाएं सुघटित नही हो सकती। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है, क्योकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नही तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमे शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नही बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमे क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नही बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है, क्योकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमे कर्मादिक नही बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नही बन सकते तब उनका फल सुख-दुख, फल-भोगका क्षेत्र, जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोसे बधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है? सारांश यह कि अनेकांतके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित होजाते है, और इसलिए सर्वथा नित्यादि एकातवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नही बन सकती। वे यदि इन्हे मानते हैं और तपश्चरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इष्टको अनेकातका विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते है।

वस्तुत अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है, इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—

बिना अनेकातका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नही, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये अनेकातको परमागमका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है[1]। जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है। जो लोग अनेकातका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नही होते उनसे पाप नही बनते, उन्हे आपदाएँ नही सताती और वे लोकमे सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं।

---

१. नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

३१

वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजासे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करनेवालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमे उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजासे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके विना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नतामे कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो, परन्तु वीतरागदेवके विषयमे यह सब कुछ भी नही कहा जा सकता—वे न किसी पर प्रसन्न होते है, न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्तिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते है—उनकी प्रसन्नतामे किसी भी कारणसे कोई कमी या वृद्धि नही हो सकती। और जब पूजा-अपूजासे वीतरागदेव की प्रसन्नता या अप्रसन्नताका कोई सम्बन्ध नही—वह उसके द्वारा संभाव्य ही नही—तब यह तो प्रश्न ही पैदा नही होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्योसे की जाय, किन मन्त्रोंसे की जाय और उसे कौन करे—कौन न करे ? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधिसे पूजा करनेपर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा अथवा किसी अधम-अशोभन-अपावन मनुष्यके पूजा कर-

लेने पर वह देव नाराज हो जायगा और उसकी नाराज़गीसे उस मनुष्य तथा समूचे समाजको किसी दैवी कोपका भाजन बनना पड़ेगा, क्योंकि ऐसी शका करने पर वह देव वीतराग ही नही ठहरेगा—उसके वीतराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओकी तरह रागी-द्वेषी मानना पडेगा। इसीसे अक्सर लोग जैनियोसे कहा करते है कि—"जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासनाकी कोई जरूरत नही, कर्ता-हर्ता न होनेसे वह किसीको कुछ देता-लेता भी नही, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यो की जाती है और उससे क्या नतीजा है ?"

इन सब बातोको लक्ष्यमे रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवोको सबसे अधिक पूजाके योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदिके द्वारा उनकी पूजामे सदा सावधान एव तत्पर रहते थे, अपने स्वयभूस्तोत्र में लिखते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्त दुरिताऽञ्जनेभ्य.॥

अर्थात्—हे भगवन्! पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योकि आप वीतरागी है—रागका अश भी आपके आत्मामे विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नही है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको ज़रा भी क्षोभ नही आ सकता, क्योकि आपके आत्मासे वैरभाव-द्वेषाश बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नही है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमे निन्दा और स्तुति दोनो ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नही है। यह सब कुछ ठीक है, परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वदनादि करते है उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वंदनादि आपके लिये

नही—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नही है। उसका ध्येय है आपके पुण्य-गुणोका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोसे छुडाकर निर्मल एव पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते है। इसीसे पद्यके उत्तरार्धमे यह सैद्धातिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणोका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करता है'—उसके विकासमे सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग-भगवानके पुण्य-गुणोके स्मरणसे पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमे जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तोका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमे सनिहित है। इस विषयमे मैने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोमे किया है—स्वयम्भूस्तोत्रकी प्रस्तावनाके 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य' नामक प्रकरणसे भी पाठक उसे जान सकते है। यहाँ पर मै सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवके जिन पुण्य-गुणोके स्मरणकी बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण है, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओके समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति है और सभी भव्यजीव उन्हे प्राप्त कर सकते है। जिन पापमलोने उन गुणोको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबलसे जिन महात्माओने उन कर्ममलोको दग्ध करके आत्मगुणोका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते है—शेष सब ससारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओमे है; और वे अपनी

आत्मनिधिको प्रायः भूले हुए हैं । सिद्धात्माओंके विकसित गुणों परसे वे आत्मगुणोका परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढाकर उन्ही साधनो-द्वारा उन गुणोकी प्राप्तिका यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओने किया था । और इसलिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक ससारी आत्माओके लिये 'आदर्शरूप' होते है, आत्मगुणोके परिचयादिमे सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते है और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे बिकसित न हो जाँय । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "तत' स्वनि श्रेयसभावनापरैर्बु धप्रवेकै-र्जिनशीतलेड्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठो तकके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने नि.श्रेयसकी—आत्मविकासकी—भावनामे सदा सावधान रहते है। और एक दूसरे पद्य 'स्तुति स्तोतु साधो (स्व० ११६) मे वीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिको कुशलपरिणामोकी हेतु बतला-कर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही उसी स्तोत्रगत नीचेके एक पद्यमे वे, योगबलसे आठो पापमलोको दूर करके ससारमे न पाये जानेवाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओका स्मरण करते हुए, अपने लिये तद्रूप होनेकी स्पष्ट भावना भी करने हैं, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है —

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवन्तु ममाऽपि भवोपशान्तये ॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोसे यह भले प्रकार स्पष्ट होजाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यो की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है ।

३२

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

जब वीतराग अर्हन्तदेव परम उदासीन एवं कृतकृत्य होनेसे कुछ करते-धरते नही तब पूजा-उपासनादिके अवसरोपर उनसे बहुधा प्रार्थनाएँ क्यो की जाती हैं और क्यो उनमे व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषयका आरोप किया जाता है ?—जिसे स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंने भी अपनाया है। यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर वाँछनीय एवं जाननेके योग्य है। अत इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहली बात इस विषयमे यह जान लेनेकी है कि इच्छा-पूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला हीउसका कर्ता नही होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्यका करने-वाला भी कर्ता होता है। वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा-बुद्धिका प्रयोग ही नही किन्तु सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका सभव भी नही है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिहीन कर्ता कार्योंके प्राय. निमित्तकारण ही होते है और प्रत्यक्ष-रूपमे तथा अप्रत्यक्षरूपमे उनके कर्ता जड और चेतन दोनो ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, उन पर जरा ध्यान दीजिये —

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है'। यहा दवाईमे कोई इच्छा नही और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली

है—रोगहरण-कार्यकी कर्त्ता कही जाती है, क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहाँ 'रसायन' जड औषधियोंका समूह होनेसे एक जड पदार्थ है, उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता, फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमे प्रसन्नताका आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलंकारकी भाषामे कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छापूर्वक उसके शरीरमे कोई काम नही किया। हाँ उसके निमित्तसे शरीरमे रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कार्य कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीकेसामनेसे आ रहा था। सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्री पर पडी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आ गई और यह स्मरण हो आया कि 'मै अपनी छत्री अमुक दुकान पर भूल आया हूँ', चुनाँचे वह तुरन्त वहाँ गया, अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मै बहुत आभारी हूँ; इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है।' यहाँ छत्री एक जडवस्तु है, उसमे बोलनेकी शक्ति नही, वह कुछ बोली भी नही और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है, फिर भी चूं कि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृति आदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलकृत भाषामे उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त हो गया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा

लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया! मुझे पागल बना दिया! अब मै बेकार हूँ और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-धरते नहीं बनता।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कुछ भी खबर नही—किसी बातका पता तक नही और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धि-पूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कही जाते हुए उसे देख लिया है, फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्यके आत्म-दोषोको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मत्थे मढ रहा है, जब कि वह उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्त कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(५) एक दु खित और पीडित गरीब मनुष्य एक संतके आश्रयमे चला गया और बड़े भक्ति-भावके साथ उस संतकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा। वह सत ससार-देह-भोगोसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नही—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दंग रह गये! अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्ति-भाव और भी दिन पर दिन बढने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमे विह्वल होकर सन्तके चरणोमे गिर पड़ता और बडे ही कम्पित स्वरमे गिडगिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक है, आप ही मेरे अन्नदाता हैं, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है। आपके चरण-शरणमे आनेसे ही मै सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दु:ख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मैं अपनेको और जगत्को भले

प्रकार देख सकता हूँ। अब दयाकर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ।'

यहाँ भक्त-द्वारा सन्तके विषयमे जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नही किया। उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे सकेत तक भी नही किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई ग्रास ही उठाकर उसे दिया है, फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई। दूसरे भक्तजन स्वय ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादिकी सुव्यवस्था करनेमे प्रवृत्त हो गये और वैसा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नही दिया, फिर भी वह भक्त उस सन्तकी दिनचर्या और अवाग्विसर्ग (मौनोपदेशरूप) मुख-मुद्रादिक परसे स्वय ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त होगया। परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमे उस सन्तपुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्तकारण रहा है— भले ही वह कितना ही उदासीन क्यो न हो। इसीसे भक्त-द्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है।

इन सब उदाहरणो परसे यह बात सहज ही समझमे आ जाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाज़िमी (अनिवार्य) अथवा जरूरी नही है कि उसके साथमे इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हो, वह उसके बिना भी हो सकता है और होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नही होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है, जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे, आश्रयमे रहनेसे, सम्पर्कमे आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमे परमवीतराग श्रीअर्हन्तादिदेवोमे कर्तृत्वादि-विषयका आरोप

व्यर्थ नही कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा किसीका कोई कार्य न करते हो, मोहनीय कर्मके अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो; क्योंकि उनके पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन, स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है– तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय ? सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते है, भक्तजनोकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं और इसलिये उन्हे यही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन् ! आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध हो गया'; जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है।

रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवाले पर प्रसन्न नही होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवक पर प्रसन्न नही होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते है। प्रसन्नतापूर्वक सेवन-आराधनके कारण ही रसायन और वीतरागदेवमे प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलकृत भाषाका कथन है। अन्यथा दोनोका कार्य वस्तु-स्वभावके वशवर्ती, सयोगोकी अनुकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमे किसीकी इच्छा-प्रसन्नतादिकी कोई बात नही है।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देने की है और वह यह कि, ससारी जीव मनसे, वचनसे व कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्म प्रदेशोमे कम्पन (हलन-चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्‌गल परमाणुओका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते हैं। मन-वचन कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभकर्मका आस्रव होता है। तदनुसार ही बंध होता है। इस तरह कर्म शुभ-अशुभ-

के भेदसे दो भागोमे बँटा रहता है । शुभ कार्य करनेकी जिसमे प्रकृति (स्वभाव-शीलता) होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमे प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते है । शुभाऽशुभ भावोकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मदतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियो-मे बराबर परिवर्तन (उलटफेर) अथवा सक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्राय. उन्हीके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतराग-देवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोका प्रेमपूर्वक स्मरण एव चिंतन करने और उनमे अनुराग बढानेसे शुभभावों (कुशलपरि-णामो) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्यप्रकृतियोका रस बढता है। पापप्रकृतियोका रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोमे रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य (शक्ति-बल) में विघ्नरूप रहा करती है—उन्हे होने नही देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड जाती है और हमारे इष्ट-कार्यको बाधा पहुँचानेमे समर्थ नही रहती । तव हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते है, बिगडे हुए काम भी सुधर जाते है और उन सबका श्रेय उक्त-उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादिको इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमे उद्धृत किसी आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः ।
> तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः ॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट फलको

देनेवाले हैं और वीतरागदेवमें कर्तृत्व-विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नही है, वल्कि ऊपरके निर्देशानुसार सगत और सुघटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषयमे अकर्तापनका सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नही होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओका किया जाना भी असंगत नही कहा जा सकता, जो उनके सम्पर्क तथा शरणमे आनेसे स्वय सफल होजाती हैं अथवा उपासना एव भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती है ।

इस विषयमे स्वामी समन्तभद्रका स्वयभूस्तोत्रगत निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है—

स्वदोप-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य ॥

इसमे वतलाया है कि वे 'भगवान शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होने अपने दोषोकी—अज्ञान, मोह तथा राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोकी शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुख-स्वरूप स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोको शान्तिके विधाता हैं—उनमे अपने आत्मप्रभावसे दोषोकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत है । अत. (इस शरणागतिके फलस्वरूप) शान्ति-जिन मेरे ससार-परिभ्रमणका अन्त और सासारिक क्लेशो तथा भयोंकी समाप्तिमे कारणीभूत होवे ।'

यहाँ शान्ति-जिनको शरणागतोकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये उनमें किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोप की जरूरत नही है, वह कार्य उनके 'विहितात्मशान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे

सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमे उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नही पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वय स्वामीजीने उक्त स्तोत्रमे 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' बतलाया है। दोषोकी शान्ति होजानेसे उसका अस्तित्व ही नही बनता। इसलिये अर्हन्तदेवमे बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमे रखकर उन्हे 'शान्ति-के विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नही है। इस तरह कर्तृत्व-विषयमे अनेकात चलता है—सर्वथा एकातपक्ष जैनशासनमे ग्राह्य ही नही है।

यहा प्रसगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पडता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमे सासारिक क्लेशो तथा भयोकी शातिमे कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थ-नाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामे प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामें पाया जाता है—

दुक्ख-खओ कम्म-क्खओ समाहिमरणं च बोहि-लाहो य।
मम होउ तिजगबंधव ! तव जिणवर चरण-सरणेण ॥

इसमे जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—हे त्रिज-गतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव ! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोका क्षय, कर्मोका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और सम्यग्द-र्शनादिकका लाभ होवे। इससे यह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्ष-की भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणोका आराधन करनेसे—दुःखोका क्षय और कर्मोका क्षयादिक सुख-साध्य होता है। यही भाव समन्तभद्रकी उक्त प्रार्थनाका है। इसी भावको लेकर 'मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ !'(३५) 'भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये' (११५) जैसी दूसरी भी अनेक प्रार्थनाएँ की गई है। परन्तु ये ही

प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षात् रूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती है तो वे अलकृत रूपको धारण किये हुए होती हैं। ऐसी अलंकृतरूपधारिणी प्रार्थनाओंके स्वयभूस्तोत्रगत कुछ नमूने इस प्रकार है—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)
२. जिन-श्रिय मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३ ममार्य ! देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४, पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५ श्रेयसे जिनवृप ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने,जिनश्री तथा शिवसंतति-को देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई है। इनमे असगतता तथा असंभाव्य-जैसी कोई बात नही है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क, प्रभाव तथा शरणमे आनेसे स्वय सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहज-साध्य हैं—और इसलिये अलकारकी भाषामे की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही हैं।

वास्तवमे परमवीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देव-के समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अथवा यो कहिये कि अलंकारकी भाषामे मन.कामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमे रहकर और उससे कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एव विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा कामना या भावनाको पूरा करनेमे समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नही होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एव प्रयत्नादि-को काममे लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देंगे अथवा दूसरो-से प्रेरणादिके द्वारा करा देगे। ऐसा आशय असभाव्यको संभाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

३२

पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ?

पुण्य-पापका उपार्जन कैसे होता है—कैसे किसीको पुण्य लगता, पाप चढता अथवा पाप-पुण्यका उसके साथ सम्बन्ध होता है, यह एक भारी समस्या है, जिसको हल करनेका बहुतोने प्रयत्न किया है। अधिकाश विचारकजन इस निश्चय पर पहुँचे है और उनकी यह एकान्त धारणा है कि-'दूसरोको दुख देने, दुख पहुँचाने, दुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह दुखका कारण बननेसे नियमत पाप होता है—पापका आस्रव-बन्ध होता है, प्रत्युत इसके दूसरोको सुख देने, सुख पहुँचाने, सुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह सुखका कारण बननेसे नियमत पुण्य होता है—पुण्यका आस्रव-बन्ध होता है। अपनेको दुख-सुख देने आदिसे पाप-पुण्यके बन्धका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

दूसरोंका इस विषयमें यह निश्चय और यह एकान्त धारणा है कि—'अपनेको दुख देने-पहुँचाने आदिसे नियमतः पुण्योपार्जन और सुख देने आदिसे नियमतः पापोपार्जन होता है-दूसरोके दुख-सुखका पुण्य-पापके बन्धसे कोई सम्बन्ध नही है।'

स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें ये दोनों ही विचार एवं पक्ष निरे ऐकान्तिक होनेसे वस्तुतत्त्व नही हैं, और इसलिये उन्होने इन दोनोको सदोष ठहराते हुए पुण्य-पापकी जो व्यवस्था सूत्ररूपसे

अपने 'देवागम' में (कारिका ६२ से ६५ तक) दी है वह बड़ी ही मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण है। आज वह सब ही यहाँ पाठकोंके सामने रक्खी जाती है।

प्रथम पक्षको सदोष ठहराते हुए स्वामीजी लिखते हैं :—

पापं ध्रुवं परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः॥ ९२॥

'यदि परमे दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका होना निश्चित है—ऐसा एकान्त माना जाय—तो फिर अचेतन पदार्थ और अकषायी (वीतराग) जीव भी पुण्य-पापसे बंधने चाहियें; क्योंकि वे भी दूसरोमें सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं।'

भावार्थ—जब परमें सुख-दुखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक-मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्ध-कर्ता क्यों नही? परन्तु इन्हे कोई भी पुण्य-पापके बंधकर्ता नहीं मानता—कांटा पैरमे चुभकर दूसरेको दुख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नही कहता और न पाप-फलदायक कर्मपर-माणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बंधको प्राप्त होते हैं। इसी तरह दूध-मलाई बहुतोको आनद प्रदान करते है, परंतु उनके इस आनंदसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नही कहे जाते और न उनमें पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हे (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े। इससे उक्त एकान्त सिद्धात स्पष्ट सदोष जान पड़ता है।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बंधके योग्य होते हैं अचेतन नही, तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोंके विषयमें आपत्तिको कैसे टाला जायगा? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके दुख-सुखके कारण बनते

हैं। उदाहरणके तौर पर—किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोको दुख पहुँचता है। शिष्यो तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होते पर भी यदि कोई जीव तेजीसे उडा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमे बाधक होनेसे वे उसके दुखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग होजाते है और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार है जिनमे वे दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोके सुख-दुखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामे पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते हैं ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नही बन सकती, क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—

"कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।"

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"

और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब' अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नही रहता। कारणके अभावमे कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमे बन्धकी भी कोई व्यवस्था नही बन सकती; क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमे अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व

बन नहीं सकता, यह बात इस स्तम्भके प्रथम निबन्धमें भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अतः चेतन-प्राणियोंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय जीवोंके दूसरोंको सुख-दुख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुखकी उत्पत्तिमें निमित्त-कारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते, तो फिर दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्तसिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा, प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्ण सावधानीके साथ फोड़ेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोडेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचता है, इस दुःखके पहुँचानेसे डाक्टरको पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःखविरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबडेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबडापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्षवालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुखका

उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

अब दूसरे पक्षको दूषित ठहराते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं :—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

'यदि अपनेमें दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहिये; क्योंकि ये भी अपने सुख-दुःखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं।'

भावार्थ—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान द्वारा कायक्लेशादिरूप-दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य-सतोष-लक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमे दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं ? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नहीं मिल सकता, और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्ति होती ही नहीं। और मुक्तिके बिना बन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव-बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो ससृतिके—ससार अथवा सासारिक जीवनके—अभावका प्रसग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेंसे किसीको भी इष्ट नहीं है। ऐसी हालतमें आत्म-सुख-दुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त-सिद्धान्त भी सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमे दुख-सुखकी उत्पत्ति

होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इसलिये नहीं होता कि उनके दुख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त-सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दु.ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नहीं है।

अतः उक्त दोनों एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित हैं, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते हैं और इसलिये ठीक नहीं कहे जा सकते।

इन आपत्तियोंसे बचने आदिके कारण जो लोग दोनो एकान्तोंको अगीकार करते हैं, परंतु स्याद्वादके सिद्धातको नहीं मानते—अपेक्षा-अनपेक्षाको स्वीकार नहीं करते—अथवा अवाच्यतैकान्तका अवलम्बन लेकर पुण्य-पापकी व्यवस्थाको 'अवक्तव्य' बतलाते हैं उनकी मान्यतामे—

"विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥"

इस कारिका (नं० ९४) के द्वारा विरोधादि दूषण देनेके अनन्तर, स्वामी समन्तभद्रने स्व-परस्थ सुख-दुःखादिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी जो सम्यक् व्यवस्था अर्हन्मतानुसार बतलाई है उसकी प्रतिपादक-कारिका इस प्रकार है :—

विशुद्धि-सक्लेशाङ्गं चेत्स्व-परस्थं सुखाऽसुखम्।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेद् व्यर्थस्तवाऽर्हतः॥९५॥

इसमे बतलाया है कि—'अर्हन्तके मतमे सुख-दु ख आत्मस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—वह यदि विशुद्धिका अग है तो उस पुण्यास्रवका, संक्लेशका अग है तो उस पापास्रवका हेतु है, जो युक्त है—सार्थक अथवा बन्धकर है—और यदि विशुद्धि तथा सक्लेश दोनोमेसे किसीका अंग नहीं है तो पुण्य-पापमेसे किसीके

भी युक्त आस्रवका—बन्धव्यवस्थापक साम्परायिक आस्रवका—हेतु नही है। (बन्धाऽभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नही ।

यहाँ 'सक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे है—'आर्त-रौद्र-ध्यानपरिणाम: संक्लेश:' ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने भी उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है। 'सक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ('तदभाव: विशुद्धि:' इत्यकलक:)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नही है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है। उस विशुद्धिमे तो पुण्य-पापवघके लिये कोई स्थान ही नही है। और इसलिये विशुद्धिका आशय यहाँ आर्त-रौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्ल-ध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होने पर ही आत्मा स्वात्मामे—स्वस्वरूपमे—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अशोमे क्यो न हो। इसीसे अकलकदेवने अपनी व्याख्यामे, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको 'आत्मन. स्वात्मन्यव-स्थानम्' रूपसे उल्लिखित किया है। और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि सक्लेशपरिणतिमे आत्माका विकास नही बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अध पतनका कारण बनती है। इसीलिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते हैं। इसी तरह सक्लेशके कारण, सक्लेशके कार्य तथा स्वभावको 'सक्लेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-पर-सुख-दु ख यदि विशु-द्धिअगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और

संक्लेशागको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नही। तत्त्वार्थसूत्रमे, "मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद,कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही है, क्योकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोके कारण होनेसे 'सक्लेशाङ्ग'में शामिल हैं, जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे सक्लेशाङ्गमे गर्भित है। अत स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नही है। इसी तरह 'कायवाङ्मन:कर्म योग', 'स आस्रव:', 'शुभ. पुण्यस्याऽशुभ' पापस्य' इन तीन सूत्रोके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभकायादि-व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नही पडता; क्योकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और सक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा विशुद्धित्व-सक्लेशत्वकी व्यवस्थिति है। सक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं, विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्वपर-दु:खकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेशकारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे सक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओकी तरह, प्राणियोको अशुभफलदायक पुद्गलोके सम्बन्धका कारण बनती है, और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धयङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओकी तरह, प्राणियोके शुभफलदायक पुद्गलोके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप-कर्मोके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था

वतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञ-पाठक स्वय समझ सकते हैं।

साराश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनो ही, चाहे स्वस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरोको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण है, विशुद्धिके अंग होनेसे, कथचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, सक्लेशके अग होनेसे, कथचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे, कथचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहार्पित-विशुद्धि-सक्लेशके अंग होनेसे। और विशुद्धि-सक्लेशका अंग न होने पर दोनो ही बन्धके कारण नही हैं। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नही। एकान्तपक्ष सदोष है, जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नही हो सकता।

३४

परिग्रहका प्रायश्चित्त

'प्रायश्चित्त' एक प्रकारका दण्ड अथवा तपोविधान है जो अपनी इच्छासे किया तथा लिया जाता है, और उसका उद्देश्य एवं लक्ष्य होता है आत्मशुद्धि तथा लौकिक जनोकी चित्तशुद्धि। आत्मा-की अशुद्धिका कारण पापमल है—अपराधरूप आचरण है। प्राय-श्चित्तके द्वारा पापका परिमार्जन और अपराधका शमन होता है, इसीसे प्रायश्चित्तको पापच्छेदन, मलापनयन, विशोधन और अपराध-विशुद्धि जैसे नामोसे भी उल्लेखित किया जाता है[1]। इस दृष्टिसे 'प्राय' का अर्थ पाप-अपराध, और 'चित्त' का अर्थ शुद्धि है। पाप तथा अपराध करनेवाला जनताकी नजरमें गिर जाता है—जनता उसे घृणाकी दृष्टिसे—हिकारतकी नजरसे—देखने लगती है और उसके हृदयमे उसका जैसा चाहिए वैसा गौरव नही रहता। परन्तु जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है—अपने अपराधका दड ले लेता है—तो जनताका हृदय भी बदल जाता है और वह उसे ऊँची, प्रेम-

---

१. "रहस्य छेदनं दण्डो मलापनयनं तप.।
प्रायश्चित्ताभिधानानि व्यवहारो विशोधनम् ॥ ६ ॥"
"प्रायश्चित्त तप· श्लाघ्य येन पाप विशुध्यति ॥ १८३ ॥"
—प्रायश्चित्तसमुच्चय

"प्रायाच्चिति चित्तयोरिति सुट् अपराधो प्राय., चित्तं शुद्धि.। प्रायस्य चित्त प्रायश्चित्त—अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।" (राजवार्तिक)

की तथा गौरव-भरी दृष्टिसे देखने लगती है। इस दृष्टिसे प्रायः का अर्थ 'लोक' तथा 'लोकमानस' है और चित्तका अर्थ वही 'शुद्धि' अथवा 'चित्तग्राहककर्म' समझना चाहिये[1]।

परिग्रहको शास्त्रकारोने, यद्यपि, पाप बतलाया है और हिंसादि पंच प्रधान-पापोमें उसकी गणना की है; फिरभी लोकमें वह आम-तौरसे कोई पाप नहीं समझा जाता—हिंसा, झूठ, चोरी और पर-स्त्री-सेवनादिरूप कुशीलको जिस प्रकार पाप समझा जाता है और अपराध माना जाता है उस प्रकार धन-धान्यादिरूप परिग्रहके सचयको—उसमे रचेपचे रहनेको कोई पाप नही समझता और न अपराध ही मानता है। इसीसे लोकमें परिग्रहके लिए कोई दड-व्यवस्था नही—जो जितना चाहे परिग्रह रख सकता है। भारतीय दंडविधान (Indian penal code) मे भी ऐसी कोई धारा नही, जिससे किसी भी परिग्रहीको अथवा अधिक धन-दौलत एकत्र करने-वाले तथा संसारकी अधिक सम्पत्ति-विभूति पर अपना अधिकार रखनेवाले गृहस्थको अपराधी एव दडका पात्र समझा जा सके। प्रत्युत इसके, जो लोग मिलो, कल-कारखानो और व्यापारादिके द्वारा विपुल धन एकत्र करके बहुविभूतिके स्वामी बनते है उन्हे लोकमे प्रतिष्ठित समझा जाता है, पुण्याधिकारी माना जाता है और आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसी हालतमे उनके पापी तथा अपराधी होनेकी कोई कल्पना तक भी नही कर सकता—उन्हे वैसा कहने-सुननेकी तो बात ही कहाँ? तब फिर 'परिग्रहका प्राय-श्चित्त' कैसा? और उसे पाप बतलाना भी कैसा?

यह ठीक है कि परिग्रहको लोकमे हिंसादिक पापोकी दृष्टिसे नहीं

---

१ 'प्रायो लोकस्य चित्त मानस। उक्त च—
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृत ॥" (प्रायश्चित्तसमु०)

देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंधमें फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक हैं और सभी अधिकाधिक रूपसे परिग्रहधारी बनना चाहते हैं। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्राय नही हैं जो अपने आचरण-बल और सातिशय-वाणीसे अपरिग्रहके महत्वको लोक-हृदयोपर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हे उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रहसे उनकी लालसा, गृद्धता एवं आसक्तताको हटा सकते, अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकहितार्थ वितरण करते रहनेका सच्चा सजीव पाठ पढा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महापरिग्रहके धारी हैं—मठाधीश, महन्त—भट्टारक बने हुए हैं, और बहुतसे परिग्रहभक्त सेठ-साहूकारोकी केवल हाँ मे हाँ मिलानेवाले हैं, उनकी कृपाके भिखारी हैं, उनकी असत् प्रवृत्तियोंको देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशसाके गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रहकी कोरी सराहना किया करते हैं। उनमे इतना आत्मबल नही, आत्मतेज नही, हिम्मत नही, जो ऐसे महापरिग्रही धनिकोंकी आलोचना कर सकें—उनकी त्याग-शून्य निरर्गल धन-दौलतके सग्रहकी प्रवृत्तिको पाप या अपराध बतलासके। इस प्रकार जब सभी परिग्रहकी कीचमे थोड़े बहुत धँसे हुए या सने हुए हैं तब फिर कौन किसीकी तरफ अगुली उठावे और उसे अपराधी-पापी ठहरावे? ऐसी हालतमे परिग्रहको आमतौर पर यदि पाप नही समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नही है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी परिग्रह पापकी—अपराधकी—कोटिसे निकल नही जाता। उसे पाप या अपराध न मानना अथवा तद्रूप न देखना दृष्टिविकारका ही एकमात्र परिणाम जान पड़ता है। धतूरा खाकर दृष्टिविकारको प्राप्त हुआ मनुष्य अथवा पीलियारोगका रोगी यदि सफेद शखको भी पीला देखता है तो उससे वह शंख पीला नही हो जाता और न उसका शुक्ल गुण ही नष्ट हो जाता है। अथवा ठगोका समाज यदि झूठ बोलने और

चोरी करनेको पाप नही समझता तो उससे झूठ और चोरी पापकी कोटिसे नही निकल जाते। ठीक इसी तरह मोह-मदिरा पीकर दृष्टि-विकारको प्राप्त हुआ संसार यदि परिग्रहको पापरूपमे नही देखता और न उसे कोई अपराध ही समझता है तो सिर्फ इतनेसे ही यह नही कहा जा सकता कि परिग्रह कोई पाप या अपराध ही नही रहा, और इसलिए उसका प्रायश्चित्त भी न होना चाहिए। वास्तवमे मूर्छा, ममत्व-परिणाम अथवा 'ममेद' (यह मेरा) के भावको लिए हुए परिग्रह एक बहुत बड़ा पाप है, जो आत्माको सब ओरसे पकड़े-जकडे रहता है और उसका विकास नही होने देता। इसीसे श्रीपूज्य-पाद और अकलकदेव जैसे महान् आचार्योंने सर्वार्थसिद्धि तथा राज-वार्तिक आदि ग्रन्थोमे 'तन्मूला सर्वे दोषा', 'तन्मूला सर्वदोषा-नुषगा:' इत्यादि वाक्योके द्वारा परिग्रहको सर्वदोषोका मूल बतलाया है[1]। और यह बिल्कुल ठीक है—परिग्रहके होनेपर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादिकी ओर प्रवृत्ति होती है, सरक्षणादि करनेके लिये अथवा उसमे योग देते हुए हिसा करनी पडती है, झूठ बोलना पडता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्ममे चित्त देना पडता है, चित्त विक्षिप्त रहता है, क्रोधादिक कषाये जाग उठती है, राग-द्वेषादिक सताते है, भय सदा घेरे रहता है, रौद्रध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ जाती है, आरम्भ बढ जाते है, नष्ट होने अथवा क्षति पहुँचनेपर शोक-संताप आ दबाते है, चिन्ताओका ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नही फटकती। नतीजा इस सबका होता है अन्तमे नरकका वास, जहाँ नाना प्रकारके दारुण दु:खोसे पाला पड़ता है और कोई भी रक्षक एवं शरण नजर नही आता।

---

१. ज्ञानार्णवमे शुभचन्द्राचार्यने बाह्य परिग्रहको 'नि:शेषानर्थ-मन्दिर' लिखा है; क्योंकि उसके कारण अविद्यमान होते हुए भी रागादिक शत्रु क्षणमात्रमे उत्पन्न होकर अनिष्ट अथवा अनर्थ कर डालते है।

इसीसे परमागममें बहुआरम्भी—बहुपरिग्रहीको नरकका अधिकारी बतलाया है, क्योंकि बहुआरम्भ (प्राणिपीडा-हेतु-व्यापार) और बहुपरिग्रह दोनों ही सिद्धान्तमे नरकायुके आस्रवके कारण कहे गये हैं[1]। ऐसी हालतमें परिग्रहको पाप न मान कर उसका प्रायश्चित्त न करना और उसे भविष्यकी ओरसे आँखें बन्द करके बराबर बढ़ाते रहना, निःसन्देह, बड़ी भारी भूल है—आत्म-वंचना है। इस भूलके वश परिग्रह-पापकी पोट बढते बढ़ते मनुष्यको घोर श्वभ्र-सागर अथवा दुःखसागरमें ले डूबती है, जहाँसे उद्धार पाना फिर

---

१ इस विषयमे पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमे रखने योग्य हैं, जिनसे इस विषयकी कितनी ही पुष्टि होती है .—

"के पुनस्ते सर्वदोषानुषङ्गा: ? ममेदमिति हि सति सकल्पे सरक्षणादय: सजायन्ते। तत्र च हिसाऽवश्यभाविनी, तदर्थमनृत जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रयतते। तत्तत्प्रभवा नरकादिषु दु:खप्रकारा.। इहाऽपि अनुपरतव्यमनमहार्णवाऽवगाहनम्।"

—राजवार्तिक-भाष्ये, अकलक:

"परिग्रहवता सता भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती।
ममत्वमथ चोरता स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुषात्मना परमशुक्ल-सद्ध्यानता॥४२॥—पात्रकेसरिस्तोत्र

"बह्वारम्भ-परिग्रहत्व नारकस्यायुष:" (तत्त्वार्थसूत्र ६-१५)

"एतदुक्त भवति—परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ता: तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विज्ञप्ताश्चानुमता. भाविताश्च तत्कृतकर्मात्मसात्करणात् तप्ताय.पिण्डवत् अहितक्रोधाद्यर्था नारकस्यायुष: आस्रव इति संक्षेप:। तद्विस्तरस्तु····· ।" (राजवार्तिक-भाष्य)

"आरम्भो जन्तुघातश्च कषायश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र तत: पात: प्राणिना श्वभ्रसागरे॥" (ज्ञानार्णव)

बहुत ही कठिन, गुरुतर-कष्टसाध्य तथा असंख्य वर्षोंका कार्य हो जाता है। और इसलिए वे ही मनुष्य विवेकी हैं, वे ही बुद्धिमान हैं और वे ही आत्महितैषी एव धर्मात्मा हैं जो इस भूल तथा आत्म-वंचनाके चक्करमें न पड़कर अनासक्तिके द्वारा परिग्रहका अधिकभार अपने आत्मा पर पड़ने नहीं देते, और प्रायश्चित्तादिके द्वारा बराबर उसकी काट-छांट करके अपने आत्माको सदैव हलका रखते हैं।

अब देखना यह है कि परिग्रहका प्रायश्चित्त क्या है ? परिग्रह-का समुचित प्रायश्चित्त अनासक्तिके साथ साथ उसका त्याग है, जो ग्रहणकी विपरीत दिशाको लिए हुए होनेसे यथार्थ जान पड़ता है। शीतका प्रतिकार जिस प्रकार उष्णसे और उष्णका प्रतिकार शीत-से होता है, उसी प्रकार ग्रहणरूप परिग्रहका प्रतिकार उसके त्याग-से ही ठीक बनता है। प्रायश्चित्तके दस अथवा नव भेदोंमें 'त्याग' नामका भी एक प्रायश्चित्त है, जिसे 'विवेक' भी कहते हैं[1]। त्याग-का दूसरा नाम 'दान' है,और इसलिए परिग्रहसे मोह हटाकर अथवा अपनी धन-सम्पत्तिसे ममत्वपरिणामको दूर करके लोक-सेवाके कामोंमें उसका वितरण करना—दे डालना, यह परिग्रहका समुचित प्रायश्चित्त है। परन्तु यह दान अथवा त्याग ख्याति-लाभ-पूजादिककी दृष्टिसे न होना चाहिये और न इसमे दूसरो पर अनुग्रह और कृपाकी कोई अहंभावना ही रहनी चाहिये। जो दान ख्याति-लाभ-पूजादिक-की दृष्टिसे दिया जाता है अथवा जिसमें दूसरो पर अनुग्रह और कृपाकी अहंभावना रहती है वह प्रायश्चित्तकी कोटिमें नही आता—वह दूसरे प्रकारका साधारण दान है। प्रायश्चित्तकी दृष्टि तो अपने पापका संशोधन अथवा अपराधका परिमार्जन करके आत्मशुद्धि

१. आलोचना प्रतिक्रान्तिर्द्वयं त्यागो विसर्जनं।
तपःछेदोऽपि मूल च परिहारोऽभिरोचनम् ॥ (प्रायश्चित्तसमु० १८५)
"आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग०"(तत्त्वार्थसूत्र ९-२०)

करनेकी ओर होती है। और इसलिए उसका करनेवाला दान करके किसी पर कोई अहसान-अनुग्रह नही बतलाता और न उससे अपना कोई लौकिक लाभ ही लेना चाहता है। वह तो समझता है कि—मैने अपनी जरूरतसे अधिक परिग्रहका संचय करके दूसरोको उसके भोग-उपभोगसे वचित रखनेका अपराध किया है, उसके अर्जन वर्द्धन-रक्षणादिमे मुझे कितने ही पाप करने पडे हैं, उसका निरर्गल बढते रहना पापका—आत्माके पतनका—कारण है।' और इसलिये वह विवेकको अपनाकर तथा ममत्वको घटाकर अपनेको पाप-भारसे हलका रखनेकी दृष्टिसे उसका लोक-हितार्थ त्याग करता है—दान करता है। दानके इन दोनो प्रकारोमे परस्पर कितना बडा अन्तर है, इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते है।]

नि सन्देह, परिग्रहमे पापबुद्धिका होना, उसके प्रायश्चित्तकी बराबर भावना रखना और समय-समयपर उसे करते रहना विवेकका—अनासक्तिका सूचक है और साथ ही आत्माकी जागृतिका—उत्थानका द्योतक है। यदि समाजमें दानके पीछे प्रायश्चित्त-जैसी सद्भावनाएँ काम करने लगे तो उसका शीघ्र ही उत्थान हो सकता है और वह ठीक अर्थमे सचमुच ही एक आदर्श धार्मिक-समाज बन सकता है। सद्गृहस्थोंकी नित्य-नियमसे की जानेवाली देवपूजादि षट् आवश्यक क्रियाओमें जो दानका विधान (समावेश) किया गया है उसका आशय संभवतः यही जान पड़ता है कि नित्यके आरम्भ-परिग्रह-जनित पापका नित्य ही थोड़ा-बहुत प्रायश्चित्त होता रहे जिससे पापका बोझा अधिक बढ़ने न पावे और गृहस्थजन निरा-कुलता-पूर्वक धर्मका साधन कर सके—उसमें बाधा न आवे।

हार्दिक भावना है कि देश तथा समाजमें बहुलतासे ऐसे आदर्श त्यागी एव दानी पैदा हो, जो परिग्रहको पाप समझते हुए उसमें आसक्ति न रखते हों और प्रायश्चित्तके रूपमें अपनी धन-सम्पत्तिका सदा लोकसेवाके कार्योमें समुचित विनियोग करते रहें।

३५

छोटापन और बड़ापन

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने, अपने विद्यार्थियोको नया पाठ पढ़ानेके लिये, बोर्डपर तीन-इचकी ———————— एक लाइन खीचकर विद्यार्थीसे पूछा—

'बतलाओ यह लाइन छोटी है या बड़ी ?'

विद्यार्थीने चटसे उत्तर दिया—'यह तो छोटी है।'

इसपर अध्यापकने उस लाइनके नीचे एक-इचकी दूसरी लाइन बनाकर फिरसे पूछा— ———————— १

'अब ठीक देखकर बतलाओ कि ——— २

ऊपरकी लाइन नं० १ बडी है या छोटी ?'

विद्यार्थी देखते ही वोल उठा—'यह तो साफ बडी नजर आती है।'

अध्यापक—अभी तुमने इसे छोटी बतलाया था ?

विद्यार्थी—हाँ, बतलाया था, वह मेरी भूल थी।

इसके बाद अध्यापकने, प्रथम लाइन नं० १ के ऊपर पाँच-इंच-की लाइन बनाकर और नीचेवाली एक-इची लाइनको मिटाकर फिरसे पूछा— ———————————— ३

'अच्छा, अब बतलाओ, ———————— १

नीचेकी लाइन नं० १ छोटी है या बड़ी ?'

विद्यार्थी कुछ असमंजसमे पड गया और आखिर तुरत ही कह उठा—'यह तो अब छोटी हो गई है।'

'छोटी कैसे हो गई ? क्या किसीने इसमेंसे कोई टुकड़ा तोड़ा है या इसके किसी अशको मिटाया है ?—हमने तो इसे छुआ तक भी नही। अथवा तुमने इसे जो पहले 'बड़ी' कहा था वह कहना भी तुम्हारा गलत था?' अध्यापक ने पूछा।

'पहले जो मैंने इसे 'बड़ी' कहा था वह कहना मेरा गलत नही था और न उस लाइनमेंसे किसीने कोई टुकड़ा तोड़ा है या उसके किसी अशको मिटाया है—वह तो ज्योकी त्यो अपने तीन-इचीके रूपमे स्थित है। पहले आपने इसके नीचे एक-इंचकी लाइन बनाई थी, इससे यह बडी नजर आती थी और इसीलिये मैने इसे बडी कहा था, अब आपने उस एक-इचकी लाइनको मिटाकर इसके ऊपर पाँच इचकी लाइन बना दी है, इससे यह तीन-इंचकी लाइन छोटी हो पड़ी—छोटी नजर आने लगी, और इसीसे मुझे कहना पडा कि 'यह तो अब छोटी हो गई है।' विद्यार्थीने उत्तर दिया।

अध्यापक—अच्छा, सबसे पहिले तुमने इस तीन-इंची लाइनको जो छोटी कहा था उसका क्या कारण था?

विद्यार्थी—उस समय मैंने यह देखकर कि बोर्ड बहुत बड़ा है और यह लाइन उसके एक बहुत छोटेसे हिस्सेमे आई है, इसे 'छोटी' कह दिया था।

अध्यापक—फिर इसमे तुम्हारी भूल क्या हुई? यह तो ठीक ही है—यह लाइन बोर्डसे छोटी है, इतना ही क्यों? यह तो टेबिलसे भी छोटी है, कुर्सीसे भी छोटी है, इस कमरेके किवाड़से भी छोटी है, दीवारसे भी छोटी है, और तुम्हारी-मेरी लम्बाईसे भी छोटी है।

विद्यार्थी—इस तरह तो मेरे कहनेमें भूल नही थी—भूल मान लेना ही भूल थी।

———————— ३

अब अध्यापकने उस ———— १

मिटाई हुई एक-इंची लाइनको फिरसे —— २

नीचे बना दिया और सवाल किया कि—

'तीनो लाइनोकी इस स्थितिमे तुम बीचकी उसी नम्बर १ वाली लाइनको छोटी कहोगे या बडी ?'

विद्यार्थी—मैं तो अब यूँ कहूँगा कि यह ऊपरवाली लाइन न०३ से छोटी और नीचेवाली लाइन नं० २ से बडी है।

अध्यापक—अर्थात् इसमे छोटापन और बड़ापन दोनो है और दोनो गुण एक साथ है ?

विद्यार्थी—हाँ, इसमे दोनो गुण एक साथ हैं।

अध्यापक—एक ही चीजको छोटी और बड़ी कहनेमे क्या तुम्हे कुछ विरोध मालूम नही होता ? जो वस्तु छोटी है वह बड़ी नही कहलाती और जो बडी है वह छोटी नही कही जाती। एक ही वस्तुको 'छोटी' कहकर फिर यह कहना कि 'छोटी नही, बड़ी हैं' यह कथन तो लोक-व्यवहारमें विरुद्ध जान पड़ेगा। लोकव्यवहारमे जिस प्रकार 'हाँ' कहकर 'ना' कहना अथवा विधान करके निषेध करना परस्पर विरुद्ध,असगत और अप्रामाणिक समझा जाता है उसी प्रकार तुम्हारा यह एक चीजको छोटी कहकर बड़ी कहना अथवा एक ही वस्तुमें छोटेपनका विधान करके फिर उसका निषेध कर डालना—उसे बड़ी बतलाने लगना—क्या परस्पर विरुद्ध, असगत और अप्रामाणिक नही समझा जायगा ? और जिस प्रकार अन्धकार तथा प्रकाश दोनो एक साथ नही रहते उसी प्रकार छोटापन और बड़ापन दोनों गुणों (धर्मों) के एक साथ रहनेमे क्या विरोध नही आएगा ?

यह सब सुनकर विद्यार्थी कुछ सोच-सीमे पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा, इतनेमे अध्यापकजी उसकी

विचार-समाधिको भग करते हुए बोल उठे—

'इसमें अधिक सोचने-विचारनेकी बात क्या है ? एक ही चीज-को छोटी-बड़ी दोनो कहनेमे विरोध तो तब आता है जब जिस दृष्टि अथवा अपेक्षासे किसी चीज़को छोटा कहा जाय उसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उसे बड़ा बतलाया जाय। तुमने मध्यकी तीन-इंची लाइनको ऊपरकी पाँच-इची लाइनसे छोटी बतलाया है, यदि पाँच-इंचवाली लाइनकी अपेक्षा ही उसे बड़ी बतला देते तो विरोध आ जाता, परन्तु तुमने ऐसा न करके उसे नीचेकी एक इंच-वाली लाइनसे ही बड़ा बतलाया है, फिर विरोधका क्या काम ? विरोध वही आता है जहाँ एक ही दृष्टि (अपेक्षा) को लेकर विभिन्न प्रकार-के कथन किए जायँ, जहाँ विभिन्न प्रकारके कथनोके लिये विभिन्न दृष्टियो—अपेक्षाओका आश्रय लिया जाय वहाँ विरोधके लिये कोई अवकाश नही रहता। एक ही मनुष्य अपने पिताकी दृष्टिसे पुत्र है और अपने पुत्रकी दृष्टिसे पिता है—उसमे पुत्रपन और पितापनके दोनों धर्म एक साथ रहते हुए भी जिस प्रकार दृष्टिभेद होनेसे विरोधको प्राप्त नही होते उसी प्रकार एक दृष्टिसे किसी वस्तुका विधान करने और दूसरी दृष्टिसे निषेध करने अथवा एक अपेक्षासे 'हाँ' और दूसरी अपेक्षासे 'ना' करनेमे भी विरोधकी कोई बात नही है। ऐसे ऊपरी अथवा शब्दोमे ही दिखाई पडनेवाले विरोधको 'विरोधाभास' कहते है—वह वास्तविक अथवा अर्थकी दृष्टिसे विरोध नही होता, और इसलिये पूर्वापरविरोध तथा प्रकाश-अन्धकार-जैसे विरोधके साथ उसकी कोई तुलना नही की जा सकती। और इसीलिये तुमने जो बात कही वह ठीक है। तुम्हारे कथनमे दृढता लानेके लिए ही मुझे यह सब स्पष्टीकरण करना पड़ा है। आशा है अब तुम छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब समझ गये होगे।

विद्यार्थी—हाँ, खूब समझ गया, अब नही भूलूँगा।

अध्यापक – अच्छा, तो इतना और बतलाओ—'इन ऊपर-

नीचेकी दोनो बडी-छोटी लाइनोको यदि मिटा दिया जाय और मध्यकी उस नं० १ वाली लाइनको ही स्वतन्त्र रूपमें स्थिर रक्खा जाय—दूसरी किसी भी बडी-छोटी चीजके साथ उसकी तुलना या अपेक्षा न की जाय, तो ऐसी हालतमे तुम इस लाइन नं० १ को स्वतन्त्रभावसे—कोई भी अपेक्षा अथवा दृष्टि साथमे न लगाते हुए—छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—ऐसी हालतमें तो मैं इसे न छोटी कह सकता हूँ और न बड़ी ।

अध्यापक—अभी तुमने कहा था 'इसमे दोनो (छोटापन और बडापन) गुण एक साथ है' फिर तुम इसे छोटी या बडी क्यो नहीं कह सकते ? दोनो गुणोको एक साथ कहनेकी वचनमे शक्ति न होनेसे यदि युगपत् नही कह सकते तो क्रमसे तो कह सकते हो ? वे दोनो गुण कही चले तो नही गये ? गुणोका तो अभाव नही हुआ करता—भले ही तिरोभाव (आच्छादन) हो जाय, कुछ समयके लिये उनपर पर्दा पड़ जाय और वे स्पष्ट दिखलाई न पड़े ।

विद्यार्थी फिर कुछ रुका और सोचने लगा ! अन्तको उसे यही कहते हुए वन पडा—'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जासकता है ? पहले जो मैंने इस लाइनको 'छोटी' तथा 'बड़ी' कहा था वह अपेक्षासे ही कहा था, अब आप अपेक्षाको बिल्कुल ही अलग करके पूछ रहे है तब मैं इसे छोटी या बड़ी कैसे कह सकता हूँ, यह मेरी कुछ भी समझमे नहीं आता । आप ही समझाकर बतलाइये ।'

अध्यापक—तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बडा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नही कहा जासकता । अपेक्षा ही छोटेपन या बड़ेपनका मापदण्ड है—मापनेका गज है ? जिस अपेक्षा-गजसे किसी वस्तुविशेषको मापा जाता है वह गज यदि उस वस्तुके एक अंशमे आजाता है—उसमें

समा जाता है—तो वह वस्तु 'बड़ी' कहलाती है । और यदि उस वस्तुसे बढा रहता—बाहरको निकला रहता—है तो वह 'छोटी' कही जाती है । वास्तवमे कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी नही है—स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी होने पर वह सदा छोटी या बडी रहेगी, क्योकि स्वभावका कभी अभाव नही होता। और इसलिये किसी भी वस्तुमें छोटापन और बड़ापन ये दोनो गुण परतन्त्र, पराश्रित, परिकल्पित, आरोपित, सापेक्ष अथवा परापेक्षिक ही होते हैं, स्वाभाविक नही। छोटेके अस्तित्व-बिना बड़ापन और बड़ेके अस्तित्व-बिना छोटापन कही होता ही नही। एक अपेक्षासे जो वस्तु छोटी है वही दूसरी अपेक्षासे बड़ी है और जो एक अपेक्षासे बडी है वही दूसरी अपेक्षासे छोटी है। इसीलिये कोई भी वस्तु सर्वथा (बिना अपेक्षाके) छोटी या बडी न तो होती है और न कही जा सकती है। किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहना 'एकान्त' है। जो मनुष्य किसीको सर्वथा छोटा या बडा कहता है वह उसको सब ओरसे अवलोकन नही करता—उसके सब पहलुओ अथवा अगोपर दृष्टि नही डालता—न सब ओरसे उसकी तुलना ही करता है, सिक्केकी एक साइड (side) को देखनेकी तरह वह उसे एक ही ओरसे देखता है और इसलिये पूरा देख नही पाता। इसीसे उसकी दृष्टिको 'सम्यक्दृष्टि' नही कह सकते और न उसके कथनको 'सच्चा कथन' ही कहा जा सकता है । जो मनुष्य वस्तुको सब ओरसे देखता है, उसके सब पहलुओ अथवा अंगो पर दृष्टि डालता है और सब ओरसे उसकी तुलना करता है वह 'अनेकान्तदृष्टि' है—'सम्यक्दृष्टि' है। ऐसा मनुष्य यदि किसी वस्तुको छोटी कहना चाहता है तो कहता है—'एक प्रकारसे छोटी है,' 'अमुककी अपेक्षा छोटी है', 'कथंचित् छोटी है' अथवा 'स्यात् छोटी' है । और यदि छोटी-बडी दोनो कहना चाहता है तो कहता है—'छोटी भी है

और बड़ी भी, एक प्रकारसे छोटी है–दूसरे प्रकारसे बड़ी है, अमुककी अपेक्षा छोटी और अमुककी अपेक्षा बड़ी है अथवा कथंचित् छोटी और बड़ी दोनो है।' और उसका यह वचन-व्यवहार एकान्त-कदाग्रहकी ओर न जाकर वस्तुका ठीक प्रतिपादन करनेके कारण 'सच्चा' कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि अब तुम इस विषयको और अच्छी तरहसे समझ गये होगे।

विद्यार्थी—(पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए) हाँ, बहुत अच्छी तरहसे समझ गया हूँ। पहले समझनेमे जो कचाई रह गई थी वह भी अब आपकी इस व्याख्यासे दूर हो गई है। आपने मेरा बहुत कुछ अज्ञान दूर किया है, और इसलिये मैं आपके आगे नत-मस्तक हूँ।

अध्यापक वीरभद्रजी अभी इस विषय पर और भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे कि इतनेमे घंटा बज गया और उन्हे दूसरी कक्षा-जाना पड़ा।

३६

बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा

अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें पहुँच कर उस कक्षाके विद्यार्थियोंको भी वही नया पाठ पढ़ाना चाहा जिसे वे अभी अभी इससे पूर्वकी एक कक्षामे पढ़ाकर आये थे, परन्तु यहाँ उन्होने पढ़ानेका कुछ दूसरा ही ढग अख्तियार किया। वे बोर्ड पर तीन-इचकी लाइन खीचकर एक विद्यार्थीसे बोले—'क्या तुम इस लाइनको छोटी कर सकते हो ?'

विद्यार्थीने उत्तर दिया—'हाँ, कर सकता हूँ' और वह उस लाइनको इधर-उधरसे कुछ मिटानेकी चेष्टा करने लगा।

यह देख कर अध्यापकमहोदयने कहा— 'हमारा यह मतलब नही है कि तुम इस लाइनके सिरोंको इधर-उधरसे मिटाकर अथवा इसमेसे कोई टुकड़ा तोड़कर इसे छोटी करो। हमारा आशय यह है कि यह लाइन अपने स्वरूपमे ज्योकी त्यो स्थिर रहे, इसे तुम छूओ भी नही और छोटी कर दो।

यह सुन कर विद्यार्थी कुछ भौंचक-सा रह गया ! तब अध्यापकने कहा—'अच्छा, तुम इसे छोटी नहीं कर सकते तो क्या बिना छुए बड़ी कर सकते हो ?'

विद्यार्थीने कहा—'हाँ, कर सकता हूँ, और यह कहकर उसने दो इंचकी एक लाइन उस लाइनके बिल्कुल सीधमें उसके एक

सिरेसे सटाकर बनादी और इस तरह उसे पाँच इंचकी लाइन कर दिया।

इस पर अध्यापकमहोदय बोल उठे—

'यह क्या किया ? हमारा अभिप्राय यह नहीं था कि तुम इसमें कुछ टुकड़ा जोड़कर इसे बड़ी बनाओ, हमारी मन्शा यह है कि इसमे कुछ भी जोड़ा न जाय, लाइन अपने तीन इंचके स्वरूपमें ही स्थिर रहे—पाँच-इची जैसी न होने पावे—और बिना छुए ही बड़ी कर दी जाय।'

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है ? ऐसा तो कोई जादूगर ही कर सकता है।

अध्यापक—(दूसरे विद्यार्थियोसे) अच्छा, तुम्हारेमेसे कोई विद्यार्थी इस लाइनको हमारे अभिप्रायानुसार छोटी या बड़ी कर सकता है ?

सब विद्यार्थी—हमसे यह नहीं हो सकता। इसे तो कोई जादूगर या मत्रवादी ही कर सकता है।

अध्यापक—जब जादूगर या मत्रवादी इसे बड़ी-छोटी कर सकता है और यह बड़ी-छोटी हो सकती है तब तुम क्यो नहीं कर सकते ?

विद्यार्थी—हमें बडेसे छोटा और छोटेसे बड़ा करनेका वह जादू या मत्र आता नही।

'अच्छा, हमे तो वह जादू करना आता है। बतलाओ इस लाइनको पहले छोटी करे या बड़ी ?' अध्यापकने पूछा।

'जैसी आपकी इच्छा, परन्तु आप भी इसे छूएँ नही और इसे अपने स्वरूपमे स्थिर रखते हुए छोटी या बड़ी करके बतलाएँ;' विद्यार्थियोने उत्तरमे कहा।

'ऐसा ही होगा' कहकर; अध्यापकजीने विद्यार्थियोंसे कहा—'तुम इसके दोनो ओर मार्क कर दो—पहचानका कोई चिन्ह बना

दो, जिससे इसमे कोई तोड़-जोड़ या बदल-सदल न हो सके और यदि हो तो उसका शीघ्र पता चलजाय।' विद्यार्थीने दोनो ओर दो फूलकेसे चिन्ह बना दिये। फिर अध्यापकजीने कहा 'फुटा रखकर इसकी पैमाइश भी करलो और वह इसके ऊपर लिखदो।' विद्यार्थीने फुटा रखकर पैमाइश की तो लाइन ठीक तीन इंचकी निकली और वही लाइनके ऊपर लिख दिया गया।

३ इंच

————————

इसके बाद अध्यापकजीने बोर्ड-पर एक ओर कपडा डालकर कहा—

'अब हम पहले इस लाइनको छोटी बनाते है और छोटी होने-का मंत्र बोलते है।' साथ ही, कपड़ेको एक ओरसे उठा कर 'होजा छोटी, होजा छोटी !' का मत्र बोलते हुए वे बोर्ड पर कुछ बनाने-को ही थे कि इतनेमें विद्यार्थी बोल उठे—

'आप तो पर्देकी ओटमे लाइनको छूते हैं। पर्देको हटाकर सब-के सामने इसे छोटा कीजिये।'

अध्यापकजीने वोर्ड पर डाला हुआ कपड़ा हटाकर कहा—

'अच्छा, अब हम इसे खुले आम छोटा किये देते है और किसी मंत्रका भी कोई सहारा नही लेते। यह कह कर उन्होने उस तीन-इंची लाइनके ऊपर पाँच-इंचकी लाइन बनादी और विद्यार्थियोंसे पूछा—

५ इंच

————————————

३ इंच

————————

'कहो, तुम्हारी मार्क की हुई नीचेकी लाइन ऊपरकी लाइनसे छोटी है या कि नही ? और बिना किसी अंशके मिटाए या तोड़े अपने तीन इंचके स्वरूपमें स्थिर रहते हुए भी छोटी हो गई है या कि नही ?'

सबे विद्यार्थी—हाँ हो गई है। यह रहस्यकी बात पहले हमारे ध्यानमे ही नही आई थी कि, इस तरह भी बड़ीसे छोटी और छोटीसे बडी चीज़ हुआ करती है। अब तो आप नीचे छोटी लाइन बना कर इसे बडी भी कर देगे।

अध्यापकजीने तुरत ही नीचे एक-इचकी लाईन बना कर उसे साक्षात् बडा करके बतला दिया।

५ इंच

३ इंच

१ इच

अब अध्यापक वीरभद्रने फिर उसी विद्यार्थीसे पूछा—

'तीनो लाइनोकी इस स्थितिमे तुम अपनी मार्क की हुई उस बीचकी लाइनको, जो बडीसे छोटी और छोटीसे बडी हुई है, क्या कहोगे,—छोटी या बड़ी ?'

विद्यार्थी—यह छोटी भी है और बडी भी।

अध्यापक—दोनो एक साथ कैसे ?

विद्यार्थी—ऊपरकी लाइनसे छोटी और नीचेकी लाइनसे बडी है अर्थात् स्वय तीन-इंची होनेसे पाच-इची लाइनकी अपेक्षा छोटी और एक-इची लाइनकी अपेक्षा बड़ी है। और यह छोटापन तथा बडापन दोनो गुण इसमे एक साथ प्रत्यक्ष होनेसे इनमे परस्पर विरोध तथा असगति-जैसी भी कोई बात नही है।

अध्यापक—अगर कोई विद्यार्थी इस बीचकी लाइनको एक वार ऊपरकी लाइनसे छोटी और दूसरी वार ऊपरकी लाइनसे ही बड़ी बतलावे, और इस तरह इसमे छोटापन तथा बडापन दोनोका विधान करे तब भी विरोधकी क्या कोई बात नही है ?

विद्यार्थी—इसमे जरूर विरोध आएगा। एक तो उसके कथनमें

पूर्वापर-विरोध आएगा, क्योकि पहले उसने जिसको जिससे छोटी कहा था उसीको फिर उससे बड़ी बतलाने लगा। दूसरे उसका कथन प्रत्यक्षके भी विरुद्ध ठहरेगा, क्योकि ऊपरकी लाइन नीचेकी लाइनसे साक्षात् बड़ी नजर आती है, उसे छोटी बतलाना दृष्ट-विरुद्ध है।

अध्यापक—यह क्या बात है कि तुम्हारे बड़ी-छोटी बतलानेमें तो विरोध नही और दूसरेके बड़ी-छोटी बतलानेमे विरोध आता है?

विद्यार्थी—मैंने एक अपेक्षासे छोटी और दूसरी अपेक्षासे बड़ी बतलाया है। इस तरह अपेक्षाभेदको लेकर भिन्न कथन करनेमें विरोधके लिए कोई गुंजाइश नही रहती। दूसरा जिसे एक अपेक्षासे छोटी बतलाता है, उसीकी अपेक्षासे उसे बड़ी बतलाता है, इसलिये अपेक्षाभेद न होनेके कारण उसका भिन्न कथन विरोधसे रहित नहीं हो सकता—वह स्पष्टतया विरोध-दोषसे दूषित है।

अध्यापक—तुम ठीक समझ गये। अच्छा अब इतना और बतलाओ कि तुम्हारी इस मार्क की हुई बीचकी लाइनको एक विद्यार्थी 'छोटी ही है' ऐसा बतलाता है और दूसरा विद्यार्थी कहता है कि 'बड़ी ही है', तुम इन दोनो कथनोको क्या कहोगे? तुम्हारे विचारसे इनमेसे कौनसा कथन ठीक है और क्योकर?

विद्यार्थी—दोनो ही ठीक नही है। मेरे विचारसे जो 'छोटी ही' (सर्वथा छोटी) बतलाता है उसने नीचेकी एक-इची लाइनको देखा नही, और जो 'बड़ी ही' (सर्वथा बड़ी) बतलाता है उसने ऊपरकी पांच-इंची लाइन पर दृष्टि नही डाली। दोनोकी दृष्टि एक तरफा होनेसे एकाङ्गी है, एकान्त है, सिक्के अथवा ढालको एक ही साइड (side) को देखकर उसके स्वरूपका निर्णय करलेने-जैसी है, और इसलिये सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि है। जो अनेकान्तदृष्टि होती है वह वस्तुको सब ओरसे देखती है—उसके सब पहलुओ पर नज़र डालती है—इसीलिये उसका निर्णय ठीक होता है और वह 'सम्यग्दृष्टि' कहलाती है। यदि उन्होने ऊपर-नीचे दृष्टि डालकर

भी वैसा कहा है तो कहना चाहिये कि वह उनका कदाग्रह है—हठ-धर्मी है; क्योंकि ऊपर-नीचे देखते हुए मध्यकी लाइन सर्वथा छोटी या सर्वथा बडी प्रतीत नही होती और न स्वरूपसे कोई वस्तु सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी हुआ करती है।

अध्यापक—मानलो, तुम्हारे इस दोष देनेसे बचनेके लिये एक तीसरा विद्यार्थी दोनो एकान्तोको अपनाता है—'छोटी ही है और बड़ी भी है' ऐसा स्वीकार करता है; परन्तु तुम्हारी तरह अपेक्षा-वादको नही मानता। उसे तुम क्या कहोगे?

विद्यार्थी थोड़ा सोचने लगा, इतनेमे अध्यापकजी विषयको स्पष्ट करते हुए बोल उठे—

'इसमे सोचनेकी क्या बात है? उसका कथन भी विरोध-दोषसे दूषित है; क्योकि जो अपेक्षावाद अथवा स्याद्वाद-न्यायको नहीं मानता उसका उभय-एकान्तको लिए हुए कथन विरोध-दोषसे रहित हो ही नही सकता—अपेक्षावाद अथवा 'स्यात्' शब्द या स्यात् शब्दके आशयको लिये हुए 'कथंचित्' (एक प्रकारसे) जैसे शब्दोका साथमे प्रयोग ही कथनके विरोध-दोषको मिटानेवाला है। कोई भी वस्तु सर्वथा छोटी या बड़ी नही हुआ करती यह बात तुम अभी स्वय स्वीकार कर चुके हो और वह ठीक है, क्योकि कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे सर्वथा छोटी या बड़ी नही है—किसी भी वस्तुमे छोटेपन या बड़ेपनका व्यवहार दूसरेके आश्रय अथवा पर-निमित्तसे ही होता है और इसलिये उस आश्रय अथवा निमित्त-की अपेक्षाके बिना वह नही बन सकता। अत अपेक्षासे उपेक्षा धारण करनेवालोके ऐसे कथनमे सदा ही विरोध बना रहता है। वे 'ही' की जगह 'भी' का भी प्रयोग करदें तो कोई अन्तर नही पड़ता। प्रत्युत उसके जो स्याद्वादन्यायके अनुयायी हैं—एक अपेक्षासे छोटा और दूसरी अपेक्षासे बड़ा मानते है—वे साथमें यदि 'ही' शब्दका भी प्रयोग करते है तो उससे कोई बाधा नही आती—

विरोधको ज़रा भी अवकाश नही मिलता; जैसे 'तीन-इंची लाइन पांच-इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी ही है और एक-इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी ही है' इस कहनेमे विरोधकी कोई बात नही है। विरोध वही आता है जहाँ छोटापन और बड़ापन जैसे सापेक्ष-धर्मो अथवा गुणोंको निरपेक्षरूपसे कथन किया जाता है । मैं समझता हूँ अब तुम इन विरोध-अविरोधके तत्त्वको भी अच्छी तरहसे समझ गये होगे ?'

विद्यार्थी—हाँ, आपने खूब समझा दिया है और मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ ।

अध्यापक—अच्छा, अब मैं एक बात और पूछता हूँ—कल तुम्हारी कक्षामें जिनदास नामके एक स्याद्वादी—स्याद्वादन्यायके अनुयायी—आए थे और उन्होंने मोहन लड़केको देखकर तथा उसके विषयमे कुछ पूछ-ताछ करके कहा था 'यह तो छोटा है'। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'यह छोटा ही है' यह भी नही कहा कि 'वह सर्वथा छोटा है' और न यही कहा कि वह 'अमुककी अपेक्षा अथवा अमुक-विषयमे छोटा है', तो बतलाओ उनके इस कथनमे क्या कोई दोष आता है ? और यदि नही आता तो क्यों नहीं ?

इस प्रश्नको सुनकर विद्यार्थी कुछ चक्करसेमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा। जब उसे कई मिनट हो गये तो अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ी सोचमे पड़ गये ! इस प्रश्नपर इतने सोच-विचारका क्या काम ? यह तो स्पष्ट ही है कि जिनदास स्याद्वादी है, उन्होंने स्वतन्त्ररूपसे 'ही' तथा 'सर्वथा' शब्दोंका साथमे प्रयोग भी नही किया है, और इसलिये उनका कथन प्रकट रूपमे 'स्यात्' शब्दके प्रयोगको साथमे न लेते हुए भी 'स्यात्' शब्दसे अनुशासित है—किसी अपेक्षा-विशेषको लिये हुए है । किसीसे किसी प्रकारका छोटापन उन्हे विवक्षित था, इसीसे यह जानते हुए भी कि मोहन अनेकोंसे

अनेक विषयोमे 'बड़ा' है, उन्होने अपने विवक्षित अर्थके अनुसार उसे उस समय 'छोटा' कहा है। इस कथनमे दोषकी कोई बात नही है। तुम्हारे हृदयमे शायद यह प्रश्न उठ रहा है कि जब मोहनमें छोटापन और बड़ापन दोनो थे तब जिनदासजीने उसे छोटा क्यो कहा, बड़ा क्यो नही कह दिया ? इसका उत्तर इतना ही है कि—मोहन उम्रमे, कदमें, रूपमे, बलमे, विद्यामे, चतुराईमे और आचार-विचारमे बहुतोसे छोटा है और बहुतोसे बड़ा है । जिनदासजी को जिसके साथ जिस विषय अथवा जिन विषयोमें उसकी तुलना करनी थी उस तुलनामे वह छोटा पाया गया, और इसलिये उन्हें उस समय उसको छोटा कहना ही विवक्षित था, वही उन्होने उसके विषयमे कहा। जो जिस समय विवक्षित होता है वह 'मुख्य' कहलाता है और जो विवक्षित नही होता वह 'गौण' कहा जाता है। मुख्य-गौणकी इस व्यवस्थासे ही वचन-व्यवहारकी ठीक व्यवस्था बनती है। अत जिनदासजीके उक्त कथनमे दोषापत्तिके लिये कोई स्थान नही है। अनेकान्तके प्रतिपादक स्याद्वादियोंका 'स्यात्' पदका आश्रय तो उनके कथनमें अतिप्रसग-जैसा गड़बड़-घुटाला भी नही होने देता। बहुतसे छोटेपनों और बहुतसे बडेपनोमे जो जिस समय कहनेवालेको विवक्षित होता है उसीका ग्रहण किया जाता है—शेषका उक्त पदके आश्रयसे परिवर्जन (गौणीकरण) हो जाता है। ''

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या अभी चल ही रही थी कि इतनेमें घंटा बज गया और वे दूसरी कक्षामे जानेके लिये उठने लगे। यह देखकर कक्षाके सब विद्यार्थी एकदम खड़े हो गये और अध्यापकजीको अभिवादन करके कहने लगे—'आज तो आपने तत्त्वज्ञानकी बड़ी बडी गभीर तथा सूक्ष्म बातोको ऐसी सरलता और सुगमरीतिसे बातकी बातमे समझा दिया है कि हम उन्हे जीवनभर भी नहीं भूल सकते। इस उपकारके लिये हम आपके आजन्म ऋणी रहेगे।

३७

बड़ा दानी कौन ?

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने कक्षामे पहुँचकर विद्यार्थियोंसे पूछा—'बडे-छोटेका जो तत्त्व तुम्हे कई दिनसे समझाया जा रहा है उसे तुम खूब अच्छी तरह समझ गये हो या कि नही ?' विद्यार्थियोने कहा—'हां,हम खूब अच्छी तरह समझ गये हैं।'

'अच्छा, यदि खूब अच्छी तरह समझ गये हो तो आज मेरे कुछ प्रश्नोका उत्तर दो, और उत्तर देनेमे जो विद्यार्थी सबसे अधिक चतुर हो वह मेरे सामने आ जाय, शेष विद्यार्थी उत्तर देनेमे उसकी मदद कर सकते हैं और चाहे तो पुस्तक खोलकर उसकी भी मदद ले सकते है', अध्यापक महोदयने कहा ।

इस पर मोहन नामका एक विद्यार्थी, जो कक्षामे सबसे अधिक होशियार था सामने आगया और तब अध्यापकजीने उससे पूछा—

'बतलाओ, बड़ा दानी कौन है ?'

विद्यार्थी—जो लाखों रुपयोंका दान करे वह बड़ा दानी है ।

अध्यापक—तुम्हारे इस उत्तरसे तीन बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि दो चार हजार रुपयेका या लाख रुपयेसे कमका दान करनेवाला बड़ा दानी नही, दूसरी यह कि लाखोकी रकमका दान करनेवालोमे जो समान रकमके दानी है वे परस्परमे समान हैं—उनमें कोई बड़ा-छोटा नही, और तीसरी बात यह कि रुपयोंका

दान करनेवाला ही बडा दानी है, दूसरी किसी चीजका दान करने-वाला बडा दानी नही।

विद्यार्थी—मेरा यह मतलब नही कि दूसरी किसी चीजका दान करनेवाला बडा दानी नही, यदि उस दूसरी चीज़की—जायदाद मकान वगैरहकी—मालियत उतने रुपयो जितनी है तो उसका दान करनेवाला भी उसी कोटिका बड़ा दानी है।

अध्यापक—जिस चीजका मूल्य रुपयोमे न आँका जा सके उसके विषयमे तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी—ऐसी कौन चीज है, जिसका मूल्य रुपयोमे न आँका जा सके ?

अध्यापक—नि स्वार्थ प्रेम, सेवा और अभयदानादि, अथवा क्रोधादि कषायोका त्याग और दयाभाव वहुतसी ऐसी चीजे हैं जिनका मूल्य रुपयोंमे नही आँका जा सकता। उदाहरणके लिये एक मनुष्य नदीमे डूब रहा है, यह देखकर तट पर खड़ा हुआ एक नौजवान, जिसका पहलेसे उस डूबनेवालेके साथ कोई सम्बन्ध तथा परिचय नही है, उसके दु खसे व्याकुल हो उठता है, दयाका स्रोत उसके हृदयमे फूट पडता है, मानवीय कर्तव्य उसे आ धर दबाता है और वह अपने प्राणोकी कोई पर्वाह न करता हुआ—जान जोखोमे डालकर भी—एकदम चढी हुई नदीमे कूद पडता है और उस डूबनेवाले मनुष्यका उद्धार करके उसे तट पर ले आता है। उसके इस दयाभाव-परिणत आत्मत्याग और उसकी इस सेवाका कोई मूल्य नही और यह अमूल्यता उस समय और भी बढ जाती है जब यह मालूम होता है कि वह उद्धार पाया हुआ मनुष्य एक राजाका इकलौता पुत्र है और उद्धार करनेवाले साधारण गरीब आदमीने बदलेमे कृतज्ञता-रूपसे पेश किये गये भारी पुरस्कारको भी लेनेमे अपनी असमर्थता व्यक्त की है। ऐसा दयादानी आत्मत्यागी मनुष्य लाखो रुपयोका दान करनेवाले दानियोंसे कम बड़ा

नही है, वह उससे भी बडा है जो पुरस्कारमे आधे राज्यकी घोषणा-को पाकर अपनी जान पर खेला हो और ऐसे ही किसी डूबते हुए राजकुमारका उद्धार करनेमे समर्थ होकर जिसने आधा राज्य प्राप्त किया हो। इसी तरह सैनिकों द्वारा जब लूट-खसोटके साथ कत्ले-आम हो रहा हो तब एक राजाकी अभयघोषणाका उस समय रुपयो-मे कोई मूल्य नही आँका जा सकता—वह लाखो-करोडो और अर्बो-खर्बो रुपयोके दानसे भी अधिक होती है, और इसलिये एक भी रुपया दान न करके ऐसी अभय-घोषणा-द्वारा सर्वत्र अमन और शान्ति स्थापित करनेवालेको छोटा दानी नही कह सकते। ऐसी ही स्थिति निःस्वार्थ-भावसे देश तथा समाज सेवाके कार्योमे दिन-रात रत रहनेवाले और उसीमे अपना सर्वस्व होम देनेवाले छोटी पूँजीके व्यक्तियोकी है। उन्हे भी छोटा दानी नही कहा जा सकता।

अभी अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल रही थी और वे यह स्पष्ट करके बतला देना चाहते थे कि 'क्रोधादि कषायोके सम्यक् त्यागी एक पैसेका भी दान न करते हुए कितने अधिक बडे दानी होते है' कि इतनेमे उन्हे विद्यार्थीके चेहरे पर यह दीख पडा कि 'उसे बडे दानीकी अपनी सदोष परिभाषा पर और अपने इस कथन पर कि उसने बडे-छोटेके तत्त्वको खूब अच्छी तरहसे समझ लिया है कुछ सकोच तथा खेद होरहा है,' और इसलिये उन्होने अपनी व्याख्याका रुख बदलते हुए कहा—

'अच्छा, अभी इस गंभीर और जटिल विषयको हम यही रहने देते है—फिर किसी अवकाशके समय इसकी स्वतन्त्र-रूपसे व्याख्या करेंगे—और इस समय तुम्हारी समान-मालियतके दान-द्रव्यकी बातको ही लेते है। एक दानी सेनाके लिये दो लाख रुपयेका मास दान करता है, दूसरा आक्रमणके लिये उद्यत सेनाके वास्ते दो लाख रुपयेके नये हथियार दान करता है, तीसरा अपने ही आक्रमणमें घायल हुए सैनिकोकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेकी दवा-दारू-

का सामान दान करता है और चौथा बंगालके अकालपीडितो एवं अन्नाभावके कारण भूखसे तड़प-तडपकर मरनेवाले निरपराध प्राणियोको प्राणरक्षाके लिये दो लाख रुपयेका अन्नदान करता है। बतलाओ इन चारोमे बडा दानी कौन है? अथवा सबके दान-द्रव्यकी मालियत दो लाख रुपये समान होनेसे सब बराबरके दानी हैं—उनमे कोई विशेष नही, बड़े-छोटेका कोई भेद नही है ?'

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ भौचकसा रह गया और उसे शीघ्र ही यह समझ नही पड़ा कि क्या उत्तर दूँ, और इसलिये वह उत्तरकी खोजमे मन-ही-मन कुछ सोचने लगा—दूसरे विद्यार्थी भी सहसा उसकी कोई मदद न कर सके—कि इतनेमे अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बडी सोचमे पड गये हो! क्या तुम्हे दानका स्वरूप और जिन कारणोसे दानमे विशेषता आती है—अधिकाधिक फलकी निष्पत्ति होती है—उनका स्मरण नही है? और क्या तुम नही जानते कि जिस दानका फल बड़ा होता है वह दान बड़ा है और जो बड़े दानका दाता है वह बड़ा दानी है? तुमने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्याय और उसकी टीकामे पढ़ा है—स्व-परके अनुग्रह-उपकारके लिये जो अपनी धनादिक किसी वस्तुका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते है और दानमे विधि, द्रव्य, दाता और पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके तरीके, दानमें दी जानेवाली वस्तु, दाताके परिणाम और पानेवालेमे गुण-सयोगके भेदसे दानके फलमे कमी-वेशी होती है[1], तब इस तात्त्विक दृष्टिको लेकर तुम क्यों नही बतलाते कि इन चारोमे दान-द्रव्यकी समानता होते हुए भी कौन बड़ा है?'

अध्यापकजीके इन प्रेरणात्मक शब्दोको सुनकर विद्यार्थीको

---

१. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥
विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥ (त० सू०)

होश आगया, उसकी स्मृति काम करने लगी और इसलिये वह एक दम बोल पडा—

'इन चारोमे बडा दानी वह है जिसने बेबसीकी हालतमें पड़े हुए बंगालके अकालपीडितोको दो लाख रुपयेका अन्नदान किया है।'

अध्यापक—वह बड़ा दानी कैसे है? ज़रा समझाकर बतलाओ। और खासकर इस बातको स्पष्ट करके दिखलाओ कि वह घायल सैनिकोके लिये मर्हमपट्टीका सामान दान करनेवाले दानीसे भी बड़ा दानी क्योकर है?

विद्यार्थी—मासकी उत्पत्ति प्रायः जीवघातसे होती है। जो मासका दान करता है वह दूसरे निरपराध जीवोंके घातमे सहायक होता है और इसलिये मानवतासे गिरकर हिंसात्मक अपराधका भागी बनता है, जिससे उसका अपना उपकार न होकर अपकार होता है। और जिन्हे मासभोजन कराया जाता है वे भी उस जीवघातके अनुमोदक तथा प्रकारान्तरसे सहायक होकर अपराधके भागी बनते है। साथ ही, मास-भोजनसे उनके हृदयमें निर्दयता-कठोरता-स्वार्थपरतादि-मूलक तामसी भाव उत्पन्न होता है, जो आत्मविकासमे बाधक होकर उन्हें पतनकी ओर ले जाता है, और इसलिये मास-दानसे मांसभोजीका भी वास्तविक उपकार नही होता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि अन्नादिक दूसरे निर्दोष एवं सात्विक भोजनोसे पेट भले प्रकार भरा जा सकता है और उससे शारीरिक बल एवं बौद्धिक शक्तिमें भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतः ऐसे दानका पारमार्थिक अथवा आत्मोपकार-साधनकी दृष्टिसे कोई अच्छा फल नही कहा जा सकता—भले ही उसके करनेवालेको लोकमे स्वार्थी राजा-द्वारा किसी ऊपरी पद या मन्सब-की प्राप्ति हो जाय। जब पारमार्थिक अथवा आत्मोपकारकी दृष्टिसे ऐसे दानका कोई बड़ा फल नही होता तो ऐसा दान देनेवाला बडा दानी भी नही कहा जा सकता।

हथियार हिंसाके उपकरण होनेसे उनका दान करनेवाला हिंसामे—परपीड़ामे—सहायक तथा उसका अनुमोदक होता है और जिसे दान दिया जाता है उसे उनके कारण हिसामे प्रोत्साहन मिलता है और वे प्रायः दूसरोके घातमे ही काम आते हैं। इस तरह दाता और पात्र दोनाके हो लिये वे आत्महितका कोई साधन न होकर आत्महनन एव पतनके ही कारण बनते हैं, और इसलिये हथियारोका दान पारमार्थिक दृष्टिसे कोई महान् दान नही होता—आक्रमणात्मक-युद्धके सैनिकोके लिये तो वह और भी सदोष ठहरता है, तब उसका दानी बड़ा दानी कैसे हो सकता है ?

घायल सैनिकोकी मर्हम-पट्टीके लिये स्वेच्छासे दवादारूका दान देनेवाला पिछले दो दानियो—मासदानी और हथियारदानीसे बड़ा जरूर है, परन्तु वह बंगालके घोर अकालसे पीडित प्राणियोकी रक्षार्थ अन्नका दान करनेवालेसे बडा नही है। क्योकि अन्यके राष्ट्र पर आक्रमण करनेके लिये उद्यत सैनिक दूसरोको घायल करने और स्वय घायल होनेकी जिम्मेदारीको खुद अपने सिर पर उठाते है, अपराध करते हुए घायल होते है और अच्छे होने पर आगे भी अपराध करनेकी—अनेक निरपराध प्राणियो तकका घात करनेकी इच्छा रखते है, इसलिये वे उतने दयाके पात्र नही जितने कि बगालके उक्त अकाल-पीडित दयाके पात्र हैं, जिनका अकालके बुलानेमे कोई हाथ नही, कोई अपराध नही और जिन पर अकाल लादा गया है अथवा किसी जिम्मेदार बडे अधिकारीकी भारी लापर्वाही और गफलतसे लद गया है। ऐसी स्थितिमे मुझे तो बगालके अकाल-पीडितोको दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाला ही चारोमे बडा दानी मालूम होता है।

अध्यापक—जिस दृष्टिको लेकर तुमने उक्त अन्नदानीको बड़ा दानी बतलाया है वह एक प्रकारसे ठीक है, परन्तु इस विषयमें कई विकल्प उत्पन्न होते अथवा सवाल पैदा होते हैं, उनमेंसे यहाँ पर

दो विकल्पोको ही रक्खा जाता है, जिनमेसे पहला विकल्प अथवा सवाल इस प्रकार है—

'मानलो, बंगालके अकाल-पीडितोके लिये दो-दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाले चार सेठ है, जिनमेसे (१) एकने स्वेच्छासे दान नही दिया, वह दान देना ही नही चाहता था, उस पर किसी उच्च अधिकारीने भारी दबाव डाला और यह धमकी दी कि यदि तुम दो लाख रुपयेका अन्न दानमे नही दोगे तो तुम्हारा अन्नका सब स्टाक ज़ब्त कर लिया जायगा, तुम्हारे ऊपर इनकमटैक्स दुगुना-चौगुना कर दिया जायगा और भी अनेक कर बढ़ा दिये जावेंगे अथवा डिफेंस आफ इडिया ऐक्टके अधीन तुम्हारा चालान करके तुम्हे जेलमे डाल दिया जायगा, तुम्हारी जायदाद जब्त करली जायगी और तुम जेलमे पडे पड़े सड जाओगे।' और इसलिये उसने धमकीके भयसे तथा दबावसे मजबूर होकर वह दान दिया है। (२) दूसरेने इस इच्छा तथा आशाको लेकर दान दिया है कि उसके दानसे गवर्नर साहब या कोई दूसरे उच्चाधिकारी प्रसन्न होगे और उस प्रसन्नताके उपलक्षमे उसे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट या रायबहादुर-जैसा कोई पद प्रदान करेगे अथवा उसके बढते हुए करोमे कमी होगी और अमुक केसमे उसके अनुकूल .फैसला हो सकेगा। (३) तीसरेने कुछ ईर्षा-भाव तथा व्यापारिक दृष्टिको लक्ष्यमे रखकर दान दिया है। उसके पडौसी अथवा प्रतिद्वद्वीने ५० हजारका अन्न दान किया था, उसे नीचा दिखाने, उसकी प्रतिष्ठा कम करने और अपनी धाक तथा साख जमाकर कुछ व्यापारिक लाभ उठानेकी तरफ उसका प्रधान लक्ष्य रहा है। (४) चौथेका हृदय सचमुच अकाल-पीडितोके दुखसे द्रवीभूत हुआ है और उसने मानवीय कर्तव्य समझ कर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमे रक्खे वह दान दिया है। बतलाओ इन चारोंमें बड़ा दानी कौनसा सेठ है? और जिस अन्नदानीको तुमने अभी बडा दानी बतलाया है वह यदि इनमेसे पहले नम्बर-

का सेठ हो तब भी क्या वह उस दानीसे बड़ा दानी है जिसने स्वेच्छासे बिना किसी दबावके घायल सैनिकोकी बुरी हालतको देखकर उन पर रहम खाते हुए और उनके अपराधादिकी बातको भी ध्यानमे न लाते हुए उनकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेका दान दिया है ?'

विद्यार्थी--इन चारोमे बड़ा दानी चौथे नम्बरका सेठ है, जो दानकी ठीक स्पिरिटको लिये हुए है। बाकी तो दानके व्यापारी है। पहले नम्बरके सेठको तो वास्तवमे दानी ही न कहना चाहिये, उससे तो दो लाख रुपयेका अन्न एक प्रकारसे छीना गया है, वह तो दान-फलका अधिकारी भी नही है, और इसलिये घायल सैनिकोकी मर्हमपट्टीके लिये स्वेच्छासे दयाभावपूर्वक दो लाखका दान करनेवालेसे वह बडा दानी कैसे हो सकता है ? नही हो सकता।

अध्यापक—मालूम होता है अब तुम विषयको ठीक समझ रहे हो। अच्छा, दूसरे विकल्पके रूपमे, अब इतना और जानलो कि—'चौथे नम्बरका सेठ करोडोकी सम्पत्तिका धनी है, उसके यहाँ प्रतिदिन लाखो रुपयोका व्यापार होता है और हर साल सब खर्च देकर उसे दस लाख रुपयेके करीबकी बचत रहती है। उसने दो लाख रुपयेके दानसे अपना एक भोजनालय खुलवा दिया है, भोजन वितरण करनेके लिये कुछ नौकर छोड दिये है और यह आर्डर जारी कर दिया है कि जो कोई भी भोजनके लिये आवे उसे भोजन दिया जावे, नतीजा यह हुआ कि उसके भोजनालय पर अधिकतर ऐसे संडे-मुसंडे और गुडें लोगोकी भीड़ लगी रहती है जो स्वयं मजदूरी करके अपना पेट भर सकते है—दयाके अथवा मुफ्त भोजन पानेके पात्र नही, जो धक्कामुक्की करके अधिकाश गरीब भुखमरोको भोजनशालाके द्वार तक भी पहुँचने नही देते और स्वय खा-पीकर चले जाते है तथा कुछ भोजन साथ भी ले जाते है। और इस तरह जिन गरीबोके वास्ते भोजनशाला खोली गई है उन्हे बहुत ही कम

भोजन मिल पाता है। प्रत्युत इसके, धनीराम नामके एक पाचवें सेठ है, जो ३-४ लाख रुपयेकी सम्पत्तिके ही मालिक हैं। उनका भी हृदय बगालके अकाल-पीडितोको देखकर वास्तवमे द्रवीभूत हुआ है, उन्होने भी मानवीय कर्तव्य समझकर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमे रक्खे दो लाखका दान दिया है और उससे अपनी एक भोजनशाला खुलवाई है। साथ ही, भोजनशालाकी ऐसी विधि-व्यवस्था की है, जिससे वे भोजन-पात्र गरीब भुखमरे ही भोजन पा सके, जिनको लक्ष्य करके भोजनशाला खोली गई है। उसने भोजनशालाका प्रबन्ध अपने दो योग्य पुत्रोके सुपर्द कर दिया है, जिनकी सुव्यवस्थासे कोई सडा-मुसडा अथवा अपात्र व्यक्ति भोजन-शालाके अहातेके अन्दर घुसने भी नही पाता, जिसके जो योग्य है वही सात्विक भोजन उसे दिया जाता है और उन दीन-अनाथो तथा विधवा-अपाहिजोको उनके घर पर भी भोजन पहुँचाया जाता है जो लज्जाके मारे भोजनशालाके द्वार तक नही आ सकते और इसलिये जिन्हे भोजनके अभावमें घर पर ही पडे पड़े मर जाना मजूर है। अब बतलाओ इन दोनो सेठोमे कौन बड़ा दानी है ? - वही चौथे नम्बरवाला सेठ क्या बड़ा दानी है जिसे तुमने अभी वहुतोकी तुलनामे बडा बतलाया है ? अथवा पाचवे नम्बरका यह सेठ धनीराम बड़ा दानी है ? कारण-सहित प्रकट करो।

विद्यार्थी उत्तरके लिए कुछ सोचने ही लगा था कि इतनेमे अध्यापकजी बोल पड़े—'इसमे तो सोचनेकी ज़रा भी बात नहीं है। यह स्पष्ट है कि चौथे नम्बरवाले सेठकी पोजीशन बडी है, उसकी माली हालत सेठ धनीरामसे बहुत बढ़ी चढी है, फिर भी धनीरामने उसके बराबर ही दो लाखका दान दिया है, दीन-दुखियोकी पुकारके मुकाबलेमे अधिक धन संचित कर रखना उसे अनुचित जंचा है और उसने थोड़ी सम्पत्तिमे ही सन्तोष धारण करके उसीसे अपना निर्वाह कर लेना इस विषम-परिस्थितिमे उचित समझा है। अतः

उसका दानद्रव्य समान होने पर भी उसका मूल्य अधिक है और उसके दानकी विधि-व्यवस्थाने तथा पात्रोंके ठीक चुनावने उसका मूल्य और भी अधिक बढा दिया है। वह ऐसी स्थितिमे यदि एक लाख नही किन्तु अर्धलाख भी दान करता तो भी उसका मूल्य उस चौथे नम्बरवाले सेठके दानसे बढा रहता; क्योंकि दानका मूल्य दानकी रकम अथवा दान-द्रव्यकी मालियत पर ही अवलम्बित नही रहता, उसके लिये दान-द्रव्यकी उपयोगिता, दाताके भाव तथा उसकी तत्कालीन स्थिति, दानकी विधि-व्यवस्था और जिसे दान दिया जाता है उसमे पात्रत्वादि गुणोके संयोगकी भी आवश्यकता होती है। बिना इनके यो ही अधिक द्रव्य लुटा देनेसे बड़ा दान नही बनता। सेठ धनीरामके दानमे बड़ेपनकी इन सब बातोका संयोग पाया जाता है, और इसलिये उसके दानका मूल्य करोड़पति सेठ न० ४ के दानसे भी अधिक होनेके कारण वह उक्त सेठ साहबकी अपेक्षा भी बड़ा दानी है।'

मैं समझता हूँ अब तुम इस बातको भले प्रकार समझ गये होगे कि समान-रकम अथवा समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवाले सभी दानी समान नही होते—उनमे भी अनेक कारणोसे छोटा-बडापन होता है, जैसा कि दो लाखके अनेक दानियोके उदाहरणोको सामने रखकर स्पष्ट किया जा चुका है। अतः समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवालोको सर्वथा समान दानी समझना 'एकान्त' और उन्हे विभिन्न दृष्टियोसे छोटा-बड़ा दानी समझना 'अनेकान्त' है। साथ ही, यह भी समझ गये होगे कि जिस चीज़का मूल्य रुपयोमे नही आँका जा सकता उसका दान करनेवाले कभी-कभी बड़ी-बड़ी रकमोके दानियोसे भी बड़े दानी होते है। और इसलिये बड़े दानीकी जो परिभाषा तुमने बाँधी है, और जिसका एक अश (परिभाषासे फलित होनेवाली तीन बातोमेसे पहली बात) अभी और विचारणीय है, वह ठीक नही है।

इस पर विद्यार्थी (जिसे पहले ही अपनी सदोष परिभाषा पर खेद हो रहा था) नतमस्तक होकर बोला—'आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। आपके इस विवेचन, विकल्पोद्भावन और स्पष्टीकरणसे हम लोगोका बहुतसा अज्ञान दूर हुआ है। हमने जो छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब अच्छी तरह समझ लेनेकी बात कही थी वह हमारी भूल थी। जान पडता है अभी इस विषयमे हमे बहुत कुछ सीखना-समझना बाकी है। लाइनोके द्वारा आपने जो कुछ समझाया था वह इस विषयका 'सूत्र' था, अब आप उस सूत्रका व्यवहारशास्त्र हमारे सामने रख रहे है। इससे सूत्रके समझनेमे जो त्रुटि रही हुई है वह दूर होगी, कितनी ही उलझने सुलझेगी और चिरकालकी भूले मिटेगी। इस कृपा एव ज्ञान-दानके लिये हम सब आपके बहुत ही ऋणी और कृतज्ञ है।'

मोहनके इस कथनका दूसरे विद्यार्थियोने भी खड़े होकर समर्थन किया।

घंटेको बजे कई मिनट हो गये थे, दूसरे अध्यापकमहोदय भी कक्षामे आ गये थे. इससे अध्यापक वीरभद्रजी शीघ्र ही दूसरी कक्षामे जानेके लिये बाध्य हुए।

३८

बड़ा और छोटा दानी

उसी दिन अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामे जाकर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी भी इस विषयमे जाँच करनी चाही कि वे बड़े और छोटेके तत्त्वको, जो कई दिनसे उन्हे समझाया जा रहा है, ठीक समझ गये है या कि नही अथवा कहाँ तक उसे हृदयंगम कर सके हैं, और इसलिये उन्होने कक्षाके एक सबसे अधिक चतुर विद्यार्थीको पासमे बुलाकर पूछा—

एक मनुष्यने पाँच लाखका दान किया है और दूसरेने दस हजारका; बतलाओ, इन दोनोमे बड़ा दानी कौन है ?

विद्यार्थीने झटसे उत्तर दिया—'जिसने पाँच लाखका दान किया है वह बडा दानी है।' इस पर अध्यापकमहोदयने एक गभीर प्रश्न किया—

'क्या तुम पाँच लाखके दानीको छोटा दानी और दस हजारके दानीको बडा दानी कर सकते हो ?'

विद्यार्थी—हाँ, कर सकता हूँ।

अध्यापक—कैसे ? करके बतलाओ।

विद्यार्थी—मुझे सुखानन्द नामके एक सेठका हाल मालूम है जिसने अभी दस लाखका दान दिया है, उससे आपका यह पाँच लाखका दानी छोटा दानी है। और एक ऐसे दातारको भी मैं

जानता हूँ जिसने पाँच हजारका ही दान दिया है, उससे आपका यह दस हजारका दानी बड़ा दानी है। इस तरह दस हजारका दानी एककी अपेक्षासे बडा दानी और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है, तदनुसार पाँच लाखका दानी भी एककी अपेक्षासे बड़ा और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है।

अध्यापक—हमारा मतलब यह नही जैसा कि तुम समझ गये हो, दूसरोकी अपेक्षाका यहाँ कोई प्रयोजन नही। हमारा पूछनेका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि क्या किसी तरह इन दोनो दानियोमेसे पाँच लाखका दानी दस हजारके दानीसे छोटा और दस हजारका दानी पाँच लाखके दानीसे बड़ा दानी हो सकता है? और तुम उसे स्पष्ट करके बतला सकते हो?

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है? यह तो उसी तरह असभव है जिस तरह पत्थरकी शिला अथवा लोहेका पानी पर तैरना।

अध्यापक—पत्थरकी शिलाको लकड़ीके स्लीपर या मोटे तख्ते पर फिट करके अगाध जलमे तिराया जा सकता है और लोहेकी लुटिया, नौका अथवा कनस्टर बनाकर उसे भी तिराया जा सकता है। जब युक्तिसे पत्थर और लोहा भी पानी पर तैर सकते हैं और इसलिये उनका पानी पर तैरना सर्वथा असंभव नहीं कहा जासकता, तब क्या तुम युक्तिसे दस हजारके दानीको पाँच लाखके दानीसे बड़ा सिद्ध नही कर सकते।

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ गहरी सोचमे पड़ गया और उससे शीघ्र कुछ उत्तर न बन सका। इस पर अध्यापकमहोदयने दूसरे विद्यार्थियोसे पूछा—'क्या तुममेसे कोई ऐसा कर सकता है?' वे भी सोचते-से रह गये। और उनसे भी शीघ्र कुछ उत्तर न बन पड़ा। तब अध्यापकजी कुछ कड़ककर बोले—

'क्या तुम्हे तत्त्वार्थसूत्रके दान-प्रकरणका स्मरण नही है? क्या तुम्हे नही मालूम कि दानका क्या लक्षण है और उस लक्षणसे गिर-

कर दान दान नही रहता ? क्या तुम्हे उन विशेषताओंका ध्यान नही है जिनसे दानके फलमे विशेषता—कमी-बेशी—आती है और जिनके कारण दानका मूल्य कमो-बेश हो जाता अथवा छोटा-बडा बन जाता है ? और क्या तुम नही समझते हो कि जिस दानका मूल्य बड़ा—फल बड़ा—वह दान बडा है, उसका दानी बडा दानी है, और जिस दानका मूल्य कम–फल कम वह दान छोटा है, उसका दानी छोटा दानी है—दानद्रव्यकी सख्या पर ही दानका छोटा-बडापन निर्भर नही है ?"

इन शब्दोके आघातसे विद्यार्थी-हृदयके कुछ कपाट खुल गये, उसकी स्मृति काम करने लगी और वह ज़रा चमककर कहने लगा—

'हाँ, तत्त्वार्थसूत्रके सातवे अध्यायमे दानका लक्षण दिया है और उन विशेषताओंका भी उल्लेख किया है जिनके कारण दानके फलमे विशेषता आती है और उस विशेषताकी दृष्टिसे दानमे भेद उत्पन्न होता है अर्थात् किसी दानको उत्तम-मध्यम-जघन्य अथवा बडा-छोटा आदि कहा जा सकता है। उसमे बतलाया है कि 'अनुग्रहके लिये—स्व-पर-उपकारके वास्ते—जो अपने धनादिकका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते है और उस दानमे विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके ढग, दानमे दिये जानेवाले पदार्थ, दातारकी तत्कालीन स्थिति और उसके परिणाम तथा पानेवालेमें गुणसयोगके भेदसे दानके फलमे कमी-वेशी होती है । ऐसी स्थितिमे यह ठीक है कि दानका छोटा-बड़ापन केवल दानद्रव्यकी संख्या पर निर्भर नही होता, उसके लिये दूसरी कितनी ही बातोको देखनेकी ज़रूरत होती है, जिन्हे ध्यानमे रखते हुए द्रव्यकी अधिक-संख्यावाले दानको छोटा और अल्प-सख्यावाले दानको खुशीसे बड़ा कहा जा सकता है । अत' अब आप कृपाकर अपने दोनो दानियोका कुछ विशेष परिचय दीजिये, जिससे उनके छोटे-वडेपनके विषयमे कोई बात ठीक कही जा सके ।

अध्यापक—हमें पाँच-पाँच लाखके दानी चार सेठोंका हाल मालूम है जिनमेंसे (१) एक सेठ डालचन्द हैं, जिनके यहाँ लाखोंका व्यापार होता है और प्रतिदिन हजारो रुपये धर्मादाके जमा होते है, उसी धर्मादाकी रकममेसे उन्होने पाँच लाख रुपये एक सामाजिक विद्या-संस्थाको दान दिये हैं और उनके इस दानमे यह प्रधान-दृष्टि रही है कि वे उस समाजके प्रेमपात्र तथा विश्वासपात्र बनें और लोकमे प्रतिष्ठा तथा उदारताकी धाक जमाकर अपने व्यापारको उन्नत करे। (२) दूसरे सेठ ताराचन्द है, जिन्होने ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुत धन संचय किया है और जो सरकारके कोप-भाजन बने हुए थे—सरकार उन पर मुकदमा चलाना चाहती थी। उन्होने एक उच्चाधिकारीके परामर्शसे पाँच लाख रुपये 'गाँधी-मेमोरियल-फंड' को दान दिये है और इससे उनकी सारी आपत्ति टल गई है। (३) तीसरे सेठ रामानन्द हैं, जो एक बडी मिलके मालिक है जिसमे 'वनस्पति-घी' भी प्रचुर परिमाणमे तय्यार होता है। उन्होने एक उच्चाधिकारीको गुप्तदानके रूपमे पाँच लाख रुपये इसलिये भेंट किये है कि वनस्पति-घीका चलन बन्द न किया जाय और न उसमे किसी रंगके मिलानेका आयोजन ही किया जाय। (४) चौथे सेठ विनोदीराम है, जिन्हे 'रायबहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' बननेकी प्रबल इच्छा थी। उन्होने जिलाधीशसे (कलक्टरसे) मिलकर उन जिलाधीशके नाम पर एक अस्पताल (चिकित्सालय) खोलनेके लिये पाँच लाखका दान किया है और वे जिलाधीशकी सिफारिश पर रायबहादुर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिये गये है।

इसी तरह हमे चार ऐसे दानी सज्जनोका भी हाल मालूम है जिन्होने दस-दस हजारका ही दान किया है। उनमेसे (१) एक तो हैं सेठ दयाचन्द, जिन्होने नगरमे योग्य चिकित्सा तथा दवाईका कोई समुचित प्रबन्ध न देखकर और साधारण गरीब जनताको उनके अभावमे दुःखित एवं पीडित पाकर अपनी निजकी कमाईमेसे दस

हज़ार रुपये दानमें निकाले हैं और उस दानकी रकमसे एक धर्मार्थ-शुद्ध-औषधालय स्थापित किया है, जिसमे गरीब रोगियोकी सेवा-सुश्रूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन्हे दवाई मुफ्त दी जाती है। सेठ साहब औषधालयकी सुव्यवस्था पर पूरा ध्यान रखते हैं और अक्सर स्वयं भी सेवाके लिये औषधालयमे पहुँच जाया करते हैं। (२) दूसरे सेठ ज्ञानानन्द है, जिन्हे सम्यग्ज्ञान-वर्धक साधनोके प्रचार और प्रसारमे बड़ा आनन्द आया करता है। उन्होने अपनी गाढी कमाईमेसे दस हज़ार रुपये प्राचीन जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोके उद्धारार्थ प्रदान किये है और उस द्रव्यकी ऐसी सुव्यवस्था की है जिससे उत्तम सिद्धान्त-ग्रन्थ बराबर प्रकाशित होकर लोकका हित कर रहे हैं। (३) तीसरे सज्जन लाला विवेकचन्द है, जिन्हे अपने समाजके बेरोज़गार (आजीविका-रहित) व्यक्तियोको कष्टमे देखकर बड़ा कष्ट होता था और इसलिये उन्होने उनके दुःख-मोचनार्थ अपनी शुद्ध कमाईमेसे दस हज़ार रुपये दान किये है। इस द्रव्यसे बेरोजगारोको उनके योग्य रोज़गारमे लगाया जाता है—दुकाने खुलवाई जाती है, शिल्पके साधन जुटाये जाते हैं, नौकरियाँ दिलवाई जाती है और जब तक आजीविकाका कोई समुचित प्रबन्ध नही बैठता तब तक उनके भोजनादिकमे कुछ सहायता भी पहुँचाई जाती है। इससे कितने ही कुटुम्बोकी आकुलता मिटकर उन्हे अभयदान मिल रहा है। (४) चौथे सज्जन गवर्नमेटके पेशनर बाबू सेवाराम है, जिन्होने गवर्नमेटके साथ अपनी पेशनका दस हज़ार नकदमे समझौता कर लिया है और उस सारी रकमको उन समाजसेवकोंकी भोजन-व्यवस्थाके लिये दान कर दिया है जो निःस्वार्थभावसे समाज-सेवाके लिये अपनेको अर्पित कर देना चाहते है परन्तु इतने साधन-सम्पन्न नही है कि उस दशामे भोजनादिकका खर्च स्वयं उठा सके। इससे समाजमे निःस्वार्थ सेवकोकी वृद्धि होगी और उससे कितना ही सेवा एवं लोकहितका कार्य सहज सम्पन्न हो सकेगा। बाबू सेवारामजीने

स्वयं अपनेको भी समाजसेवाके लिये अर्पित कर दिया है और अपने दानद्रव्यके सदुपयोगकी व्यवस्थामे लगे हुए हैं।

अब बतलाओ दस-दस हजारके इन चारो दानियोमेसे क्या कोई दानी ऐसा है जिसे तुम पाँच-पाँच लाखके उक्त चारो दानियोमेसे किसीसे भी बड़ा कह सको ? यदि है तो कौन-सा है और वह किससे बड़ा है ?

विद्यार्थी—मुझे तो ये दस-दस हजारके चारो ही दानी उन पाँच-पाँच लाखके प्रत्येक दानीसे बडे दानी मालूम होते है।

अध्यापक—कैसे ? जरा समझाकर बतलाओ ?

विद्यार्थी—पाँच लाखके प्रथम दानी सेठ डालचन्दने जो द्रव्य दान किया है वह उनका अपना द्रव्य नही है, वह वह द्रव्य है जो ग्राहकोसे मुनाफेके अतिरिक्त धर्मादाके रूपमे लिया गया है, न कि वह द्रव्य जो अपने मुनाफेमेसे दानके लिये निकाला गया हो। और इसलिये उसमे सैकड़ो व्यक्तियोंका दानद्रव्य शामिल है। अत दानके लक्षणानुसार सेठ डालचन्द उस द्रव्यके दानी नही कहे जा सकते—दानद्रव्यके व्यवस्थापक हो सकते है। व्यवस्थामे भी उनकी दृष्टि अपने व्यापारकी रही है और इसलिये उनके उस दानका कोई विशेष मूल्य नही है—वह दानके ठीक फलोको नही फल सकता। पाँच लाखके दानी शेष तीन सेठ तो दानके व्यापारी मात्र है—दानकी कोई स्पिरिट, भावना और आत्मोपकार तथा परोपकारको लिये हुए अनुग्रहदृष्टि उनमे नही पाई जाती और इसलिये उनके दानको वास्तवमे दान कहना ही न चाहिये। सेठ ताराचन्दने तो ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुतोको सताकर कमाये हुए उस अन्याय-द्रव्यका दान करके उसका बदला भी अपने ऊपर चलनेवाले एक मुकदमेको टलानेके रूपमें चुका लिया है और सेठ विनोदीरामने बदलेमे 'रायबहादुर' तथा 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' के पद प्राप्त कर लिये है अतः पारमार्थिक-दृष्टिसे उनके उस दानका कोई मूल्य नही है। प्रत्युत इसके,

दस-दस हज़ारके उन चारों दानियोंके दान दानकी ठीक स्पिरिट, भावना तथा स्व-परकी अनुग्रहबुद्धि आदिको लिये हुए हैं और इस-लिये दानके ठीक फलको फलनेवाले सम्यक्‌दान कहे जानेके योग्य हैं। इसीसे मैं उनके दानी सेठ दयाचन्द, सेठ ज्ञानानन्द, ला० विवेकचन्द और बाबू सेवारामजीको पाँच पाँच लाखके दानी उन चारो सेठो डालचन्द, ताराचन्द, रामानन्द, और विनोदीरामसे बड़े दानी समझता हूँ। इनके दानका फल हर हालतमें उन तथाकथित बड़े दानियोंके दान-फलसे बड़ा है और इसलिये उन दस-दस हज़ारके दानियोमेंसे प्रत्येक दानी उन पाँच-पाँच लाखके दानियोंसे बड़ा है।

यह सुनकर अध्यापक वीरभद्रजी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—'परन्तु सेठ रामानन्दजीने तो दान देकर अपना नाम भी नही चाहा, उन्होने गुप्तदान दिया है और गुप्तदानका महत्व अधिक कहा जाता है, तुमने उन्हे छोटा दानी कैसे कह दिया ? ज़रा उनके विषयको भी कुछ स्पष्ट करके बतलाओ।

विद्यार्थी—सेठ रामानन्दका दान तो वास्तवमें कोई दान ही नही है—उस पर दानका कोई लक्षण घटित नही होता और इसलिये वह दानकी कोटिमें ही नही आता—गुप्तदान कैसा ? वह तो स्पष्ट रिश्वत अथवा घूस है, जो एक उच्चाधिकारीको लोभमे डालकर उसके अधिकारोंका दुरुपयोग कराने और अपना बहुत बड़ा लौकिक स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दी गई है और उस स्वार्थसिद्धिकी उत्कट भावनामें इस बातको बिल्कुल ही भुला दिया गया है कि वनस्पतिघीके प्रचार-से लोकमे कितनी हानि हो रही है—जनताका स्वास्थ्य कितना गिर गया तथा गिरता जाता है और वह नित्य नई कितनी व कितने प्रकारकी बीमारियोंकी शिकार होती जाती है, जिन सबके कारण उसका जीवन भाररूप हो रहा है। उस सेठने सबके दुख-कष्टोकी ओरसे अपनी आखें बन्द कर ली हैं—उसकी तरफ़से बूढ़ा मरो चाहे ज़वान उसे अपनी हत्यासे काम ! फिर दानके अंगस्वरूप किसीके

अनुग्रह उपकारकी बात तो उसके पास कहाँ फटक सकती है ? वह तो उससे कोसों दूर है । महात्मा गान्धी-जैसे सन्तपुरुष वनस्पति-घीके विरोधमें जो कुछ कह गये हैं उसेभी उसने ठुकरा दिया है और उस अधिकारीको भी ठुकरानेके लिये राजी कर लिया है जो बात-बातमें गांधीजीके अनुयायी होनेका दम भरा करता है और दूसरोंको भी गांधीजीके आदेशानुसार चलनेकी प्रेरणा किया करता है। ऐसा ढोंगी, दम्भी, बगुला-भगत उच्चाधिकारी जो तुच्छ लोभमें पड़कर अपने कर्त्तव्यसे च्युत, पथसे भ्रष्ट और अपने अधिकारका दुरुपयोग करनेके लिये उतारू हो जाता है वह दानका पात्र भी नही है। इस तरह पारमार्थिक दृष्टिसे सेठ रामानन्दका दान कोई दान नहीं है। और न लोकमे ही ऐसे दानको दान कहा जाता है। यदि द्रव्यको अपनेसे पृथक् करके किसीको दे देने मात्रके कारण ही उसे दान कहा जाय तो वह सबमे निकृष्ट दान है, उसका उद्देश्य बुरा एवं लोकहितमे बाधक होनेसे वह भविष्यमें घोर दुःखो तथा आप-दाओंके रूपमें फलेगा। और इसलिये पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोंमें सेठ रामानन्दको सबसे अधिक निकृष्ट, नीचे दर्जेका तथा अधम दानी समझना चाहिये।

अध्यापक—शाबास ! मालूम होता है अब तुम बड़े और छोटेके तत्त्वको बहुत कुछ समझ गये हो। हाँ, इतना और बतलाओ कि जिन चार दानियोको तुमने पाँच पाच लाखके दानियोसे बड़े दानी बतलाया है वे क्या दस-दस हजारकी समान रकमके दानसे परस्पर-में समान दानी हैं, समान-फलके भोक्ता होगे और उनमें कोई पर-स्परमें बड़ा-छोटा दानी नहीं है ?

विद्यार्थी उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा, इतने-में अध्यापकजी बोल उठे—'इसमें अधिक सोचनेकी बात नहीं, इतना तो स्पष्ट ही है कि जब अधिक द्रव्यके दानी भी अल्प द्रव्य-के दानीसे छोटे हो जाते हैं और दानद्रव्यकी संख्या पर ही दान तथा

दानीका बड़ा-छोटापन निर्भर नही है तब समान द्रव्यके दानी परस्परमें समान और एक ही दर्जेके होंगे ऐसा कोई नियम नही हो सकता—वे समान भी हो सकते हैं और असमान भी । इस तरह उनमे भी बड़े-छोटेका भेद सभव है और वह भेद तभी स्पष्ट हो सकता है जब कि सारी परिस्थिति सामने हो अर्थात् यह पूरी तौरसे मालूम हो कि दानके समय दातारकी कौटुम्बिक तथा आर्थिक आदि स्थिति कैसी थी, किन भावोंकी प्रेरणासे दान किया गया है, किस उद्देश्यको लेकर तथा किस विधि-व्यवस्थाके साथ दिया गया है और जिन्हे लक्ष्य करके दिया गया है वे सब पात्र हैं, कुपात्र हैं या अपात्र, अथवा उस दानकी कितनी उपयोगिता है । इन सबकी तरतमता पर ही दान तथा उसके फलकी तरमता निर्भर है और उसीके आधार पर किसी प्रशस्त दानको प्रशस्ततर या प्रशस्ततम अथवा छोटा-बड़ा कहा जा सकता है। जिनके दानोका विषय ही एक दूसरेसे भिन्न होता है उनके दानी प्राय: समान फलके भोक्ता नही होते और न समान फलके अभोक्ता होनेसे ही उन्हें बड़ा-छोटा कहा जा सकता है । इस दृष्टिसे उक्त दस-दस हज़ारके चारो दानियोमेंसे किसीके विषयमें भी यह कहना सहज नही है कि उनमें कौन बड़ा कौन छोटा दानी है। चारोंके दानका विषय बहुत उपयोगी है और उन सबकी अपने अपने दानविषयमे पूरी दिलचस्पी पाई जाती है।'

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल ही रही थी, कि इतनेमें घंटा बज गया और वे यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि—'दान और दानीके बड़े-छोटेपनके विषयमें आज बहुत कुछ विवेचन दूसरी कक्षामें किया जा चुका है उसे तुम मोहनलाल विद्यार्थीसे मालूम कर लेना, उससे रही-सही कचाई दूर होकर तुम्हारा इस विषयका ज्ञान और भी परिपुष्ट हो जायगा और तुम एकान्त-अभिनिवेशके चक्करमें न पड़ सकोगे।' अध्यापकजीको उठते देखकर सब विद्यार्थी खडे होगये और बड़े विनीतभावसे उनका आभार व्यक्त करने लगे।

३६

भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झंडा और कर्तव्य

कोई एक हजार वर्षकी गुलामीके बाद भारत १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र हुआ—उसकी गर्दन परसे अवाछनीय विदेशी-शासनका जूआ उतरा, उसके पैरोकी बेड़ियाँ हाथोकी हथकड़ियाँ कटी और शरीर तथा मन परके दूसरे बन्धन भी टूटे, जिन सबके कारण वह पराधीन था, स्वेच्छासे कही जा आ नही सकता था, बोल नही सकता था यथेष्टरूपमे कुछ कर नही सकता था और न उसे कहीं सम्मान ही प्राप्त था। उसमे अनेक उपायोंसे फूटके बीज बोए जाते थे और उनके द्वारा अपना उल्लू सीधा किया जाता था। साथ ही उस पर करो आदिका मनमाना बोझ लादा जाता था, तरह तरहके अन्याय-अत्याचार किये जाते थे, अपमानो-तिरस्कारो-की बौछारें पड़ती थी और उन सबके विरोधमे ज़बान खोलने तक-का उसे कोई अधिकार नही था। उसके लिये सत्य बोलना भी अपराध था। और इसलिये वह मजबूर था झूठ, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी और ब्लैकमार्केट-जैसे कुकर्मोंके लिये। इसीसे उसका नैतिक और धार्मिक पतन बड़ी तेजीके साथ हो रहा था, सारा वातावरण गंदा एवं दूषित हो गया था और कही भी सुखपूर्वक साँस लेनेके लिये स्थान नही था।

धन्य है भारतकी उन विभूतियोंको जिन्होंने परतन्त्रताके इस

दोषको समझा, स्वतन्त्रताका मूल्य आंका और उस मूल्यको चुकानेके लिये अहिंसाके साथ तप, त्याग तथा बलिदानका मार्ग अपनाया। परिणामस्वरूप जिन्हें घोर यातनाएँ सहनी पडी, महीनो-वर्षों जेलोंकी कालकोठरियोंमें सड़ना पड़ा, सारे सुख-चैन और आरामको तिलाञ्जलि देनी पडी, सम्पत्तिका अपहरण देखना पड़ा और हृदयको व्यथित करनेवाली देशीय तथा आत्मीय जनोकी करुण-पुकारो एवं कष्ट-कहानियोको सुनना पडा। साथ ही, देशसे निर्वासित होना पड़ा, गोलियां खानी पडी और फाँसीके तख्तोपर भी लटकना पडा। परन्तु इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरते हुए जो कभी अपने लक्ष्यसे विचलित नही हुए, वेदनाओ तथा प्रलोभनोंके सामने जिन्होंने कभी सिर नही झुकाया, अहिंसाकी नीतिको नही छोड़ा, सतानेवालोंके प्रति भी उनके हृदय-परिवर्तन तथा उनमें मानवताके सचारके लिये सदा शुभ कामनाएँ ही की, और जो अपने प्रणके पक्के, वचनके सच्चे तथा संकल्पमें अडोल रहे और जिन्होने सब कुछ गँवाकर भी अपनी तथा देशकी प्रतिष्ठाको कायम रक्खा। यहाँ उन विभूतियोके नामोको गिनानेकी ज़रूरत नहीं और न उन्हें गिनाया ही जा सकता है, क्योंकि जो सुप्रसिद्ध विभूतियाँ हैं उनके नामोसे तो सभी परिचित हैं, दूसरी विभूतियोंमें कितनी ही ऐसी विभूतियाँ भी है जो गुप्तरूपसे काम करती रही हैं और जिनका तप-त्याग एवं बलिदान किसी भी प्रसिद्ध बड़ी विभूतिसे कम नही है। अकसर बड़ी विभूतियोको तो जेलमे बन्द रहते हुए भी उतने कष्ट सहन नही करने पड़े हैं जितने कि किसी-किसी छोटी विभूतिको सहन करने पड़े हैं। अतः यहाँ पर किसीका भी नाम न देकर उन सभी छोटी-बड़ी, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध विभूतियोको सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित है जो भारतकी मुक्तिके लिये बराबर प्रयत्न करती रही हैं और जिनके सत्प्रयत्नोंके फलस्वरूप ही देशको आज वह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है जिसके कारण भारतवासी अब आज़ादीके साथ खुले वातावरणमें

साँस ले सकेंगे, यथेच्छ रूपमे चल फिर सकेंगे, खुली आवाज़से बोल सकेंगे, बिना सकोचके लिख-पढ सकेंगे, बिना किसी रोक-टोकके अपनी उन्नति एवं प्रगतिके साधनोको जुटा सकेंगे। ऐसी स्वतन्त्रता किसे प्यारी नही होगी ? कौन उसका अभिनन्दन नही करेगा ? कौन उसे पाकर प्रसन्न नही होगा ? और कौन उसके लिये आनन्दोत्सव नही मनाएगा ?

यही वजह है कि उस दिन १५ अगस्तको स्वतन्त्रता-दिवस मनानेके लिये जगह-जगह—नगर-नगर और ग्राम-ग्राममे—जन-समूह उत्सवके लिये उमड़ पड़ा था, जनतामें एक अभूतपूर्व उत्साह दिखाई पडता था, लम्बे-लम्बे जलूस निकाले गये थे, तरह-तरहके बाजे बज रहे थे, नेताओं और शहीदोंकी जयघोषके नारे लग रहे थे, बालकों-को मिठाइयाँ बँट रही थी, कही कही दीन-दुखित जनोको अन्न-वस्त्र भी बाँटे जा रहे थे, घर-द्वार, सरकारी इमारते और मन्दिर-बाजारादिक सब सजाये गये थे, उन पर रोशनी की गई थी—दीपा-वली मनाई गई थी—और हजारो कैदी जेलोंसे मुक्त होकर इन उत्सवोमें भाग ले रहे थे और अपने नेताओंकी इस भारी सफलता पर गर्व कर रहे थे और उन्हे हृदयसे धन्यवाद दे रहे थे।

इन उत्सवोकी सबसे बड़ी विशेषता भारतके उस तिरंगे झडेकी थी जिसका अशोकचक्रके साथ नव-निर्माण हुआ है। घर घर, गली-गली और दुकान-दुकान पर उसे फहराया गया था। कोई भी सर-कारी इमारत, सार्वजनिक संस्था और मन्दिर मस्जिदकी बिल्डिङ्ग ऐसी दिखाई नही पडती थी, जो इस राष्ट्रीय पताकाको अपने सिर पर अथवा अपनी गोदमें धारण किये हुए न हो। जलूसोमें बहुतसे लोग अपने-अपने हाथोंमें इस झडेको थामे हुए थे, जिन्हे हाथोमें लेनेके लिये झडे नही मिल सके वे इस झंडेकी मूर्तियों या चित्रोंको अपनी-अपनी टोपियों अथवा छातियों पर धारण किये हुए थे। जिधर देखो उधर ये राष्ट्रीय झडे ही झंडे फहराते हुए नज़र आते

थे और उनकी सारे देशमें एक बाढ सी आगई थी। जहाँ कही भी किमी खास स्थान पर समूहके मध्यमें झंडेको लहरानेकी रस्म अदा की गई वहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख जैन, पारसी और ईसाई आदि सभीने मिलकर बिना किसी भेद-भावके झंडेका गुणगान किया, उसे सिर झुकाकर प्रणाम किया और सलामी दी।

उस वक्तका यह सार्वजनिक और सार्वभौमिक मूर्तिपूजाका दृश्य बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। और हृदयमे रह-रहकर ये विचार तरङ्गित हो रहे थे कि जो लोग मूर्तिपूजाके सर्वथा विरोधी हैं उसमें कृत्रिमता और जड़ता जैसे दोष देकर उसका निषेध किया करते हैं—वे समय पर इस बातको भूल जाते हैं कि 'हम भी किसी न किसी रूपमें मूर्तिपूजक हैं', क्योकि राष्ट्रका झंडा भी, जिसकी वे उपासना करते हैं, एक प्रकारकी जड़मूर्ति है और राष्ट्रके प्रतिनिधि नेताओ-द्वारा निर्मित होनेसे कृत्रिम भी है।

परन्तु देवमूर्ति जिस प्रकार कुछ भावोकी प्रतीक होती है, जिनकी उसमे प्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार यह राष्ट्रपताका भी उन राष्ट्रीय भावनाओंकी प्रतीक है जिनकी कुछ रङ्गो तथा चिन्हों आदिके द्वारा इसमें प्रतिष्ठा की गई है, और इसीसे देवमूर्तिके अपमानकी तरह इस प्रतिष्ठित राष्ट्रमूर्तिके अपमानको भी इसका कोई उपासक सहन नही कर सकता। इसी बातको लेकर 'झंडेको सदा ऊँचा रखने और प्राण देकर भी उसकी प्रतिष्ठाको बराबर कायम रखनेकी' सामूहिक तथा व्यक्तिगत प्रतिज्ञाएँ कराई गई थी। अत. झंडेकी पूजा-वन्दना करनेवालोको भूलकर भी मूर्तिपूजाका सर्वथा विरोध नही करना चाहिये—वैसा करके वे अपना विरोध आप घटित करेंगे।

उन्हें दूसरोंकी भावनाओंको भी समझना चाहिये और अनुचित आक्षेपादिके द्वारा किसीके भी मर्मको नही दुखाना चाहिये, बल्कि राष्ट्रीय झंडेकी इस सामूहिक वन्दनासे पदार्थ-पाठ लेकर सबके साथ

प्रेमका व्यवहार करना चाहिये और कोई भी काम ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे राष्ट्रकी एकता भङ्ग हो अथवा उसके हितको बाधा पहुँचे। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिये कि संसारमें ऐसा कोई भी मनुष्य नही है जो किसी न किसी रूपमें मूर्तिकी पूजा-उपासना न करता हो—विना मूर्ति-पूजाके अथवा आदरके साथ मूर्तिको अपनाये विना किसीका भी काम नही चलता। शब्द और अक्षर भी एक प्रकारकी मूर्तियां—पौद्‌गलिक आकृतियाँ—हैं,जिनसे हमारे धर्म-ग्रन्थ निर्मित है और जिनके आगे हम सदा ही सिर झुकाया करते हैं। यह सिर झुकाना, वन्दना करना और आदर-सत्कार रूप प्रवृत्त होना ही 'पूजा' है, पूजाके और कोई सीग नही होते।

झंडेमे जिस अशोकचक्रकी स्थापना की गई है उसका रहस्य अभी बहुत कुछ गुप्त है। भारतके प्रधान मन्त्री माननीय पडित जवाहरलालजी नेहरूने उस दिन वर्तमान राष्ट्रीय झंडेका रूप उपस्थित करते और उसे पास कराते हुए जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ सामान्य, संक्षिप्त तथा रहस्यके गाम्भीर्यकी सूचना-मात्र है—उससे अशोकचक्रको अपनानेका पूरा रहस्य खुलता नही है। सम्भव है सरकारकी ओरसे किसी समय उस पर विशेष प्रकाश डाला जाय। जैनकुलोत्पन्न सम्राट् अशोक किन संस्कारोंमें पले थे,कौनसी परिस्थितियाँ उनके सामने थी, उन्होने किन-किन भावोको लेकर इस चक्रकी रचना की थी,चक्रका कौन-कौन अंग किस-किस भावका प्रतिनिधित्व करता है—खासकर उसके आरोकी २४ सख्या किस भावका द्योतन करती है, जैन तीर्थंकरोके 'धर्मचक्र' और बुद्ध भगवानके 'धर्मचक्र' के साथ इसका क्या तथा कितना सम्बन्ध है और भारतके भरतादि चक्रवर्तियो तथा कृष्णादि नारायणोके 'सुदर्शन-चक्र' के साथ इस चक्रका कहाँ तक सादृश्य है अथवा उसके किस-किस रूपको किस दृष्टिसे इसमे अपनाया गया है, ये सब बातें प्रकट होनेके योग्य हैं।

कितनी ही बातें इनमें ऐसी भी हो सकती हैं जो अभी इतिहासके गर्भमे है और जिन्हें आगे चलकर किसी समय इतिहास प्रकट करेगा। परन्तु इसमें सन्देह नही कि यह चक्र बडा ही महत्वपूर्ण है, भारतकी प्राचीन संस्कृतिका द्योतक है और उसकी विजयका चिन्ह है। इसीसे विजयके अवसर पर उसे राष्ट्रीय पताकामें धारण किया गया है। वह जहाँ धार्मिक चक्रवर्तियोकी धर्म-विजयका और लौकिक चक्रवर्तियोकी लोक-विजयका चिन्ह रहा है वहाँ वर्तमान मशीन-युगके भी वह अनुरूप ही है और उसका प्रधान अग है। नई पुरानी अधिकाश मशीने चक्रोंसे ही चलती हैं—चक्रके बिना उनकी गति नही। यदि चक्रका उपयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो प्राय. सारा यातायात और उत्पादन एकदम रुक जाय। क्योंकि रथ, गाड़ी, ताङ्गा, मोटर, साईकिल, रेल, एंजिन, जहाज, रहट, चाक, चर्खा, चर्खी, कर्घा और कल-मिल आदि सभी साधनोमे प्रायः चक्रका उपयोग होता है, और इसलिये चक्रको श्रम-जीवन तथा श्रमोन्नतिका प्रधान प्रतीक भी समझना चाहिये, जिसके बिना सारा संसार बेकार है।

अत. जब तक अशोकचक्रको, जिसमें थोड़ासा परिवर्तनभी किया जान पड़ता है, प्रतिष्ठित करनेवाले अधिकारियो-द्वारा इसके रहस्यका उद्घाटन नही किया जाता तब तक सर्व साधारण जन इस चक्रमें सूर्यकी, सुदर्शनचक्रकी, जैन तथा बौद्धोके धर्मचक्रोमेसे किसीकी, वर्तमान युगके मशीनी चक्रकी अथवा सभीके समावेशकी कल्पना कर सकते हैं और तदनुकूल उसका दर्शन भी कर सकते हैं। परन्तु मुझे तो अशोकको दृष्टिसे इस चक्रका मध्यवृत्त (बीचका गोला) समता (शान्ति) और ज्योति (ज्ञान) का प्रतीक जान पडता है, बाह्यवृत्त ससारकी—मध्यलोककी अथवा जम्बूद्वीपकी परिधिके रूपमें प्रतीत होता है, संसारमें समता और ज्योतिका प्रसार जिन २४ किरणों-द्वारा हुआ तथा होरहा है वे मुख्यतः ऋष-

आदि महावीर पर्यन्त २४ जैन तीर्थंकर मालूम होते हैं—दूसरों-द्वारा बादको माने गये २४ अवतारोंका भी उनमें समावेश है—और परिधिके पास तथा किरणोंके मध्यमें जो छोटे-छोटे स्तूपाकार उभार हैं वे इस लोककी आबादी (नगरादि) के प्रतीक जान पड़ते हैं और उनके शिरोभाग जो मध्यवृत्तकी कुछ गुलाईको लिये हुए हैं वे इस बातको सूचित करते हैं कि उन पर मध्यवृत्तका असर पड़ा है और वे उसकी समता तथा ज्योतिके प्रभावसे प्रभावित हैं। साथ ही, विजय-चिन्हके रूपमें सुदर्शनचक्रका भी उसमें समावेश हो सकता है और प्रकारान्तरसे सूर्यका भी, जो सब पर समानरूपसे अपना प्रकाश डालता है, स्फूर्ति-उत्साह-प्रदायक है और सबकी उन्नति-प्रगतिमें स ायक है।

झंडेके तीन रंगोंमें एक सफेद रंग भी है जो शुद्धिका प्रतीक है। वह यदि आत्मशुद्धिका प्रतीक होता तो उसे सर्वोपरि स्थान दिया जाता, मध्यमें स्थान दिया जानेसे वह हृदय-शुद्धिका द्योतक जान पड़ता है—हृदयका स्थान भी शरीरके मध्यमें है। इस सफ़ेद रंगके मध्यमें ही अशोकचक्र अथवा विजयचक्रकी स्थापना की गई है, जिसका स्पष्ट आशय यह जान पड़ता है कि विजय अथवा अशोक-का सम्बन्ध चित्तशुद्धिसे है—चित्तशुद्धिके बिना न तो स्थायी विजय मिलती है और न अशोक-दशाकी ही प्राप्ति होती है। अस्तु।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भारतको यह जो कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है वह अभी तक बाह्य शत्रुओंसे ही प्राप्त हुई है—अन्तरंग (भीतरी) शत्रुओंसे नहीं—और वह भी एक सम-झौतेके रूपमें। समझौतेके रूपमें इतनी बड़ी स्वतन्त्रताका मिलना इतिहासमें अभूतपूर्व समझा जाता है और उसका प्रधान श्रेय महा-त्मा गांधीजीके द्वारा राजनीतिमें अहिंसाके प्रवेशको प्राप्त है। इस विषयमें महात्माजीका कहना है कि जनताने अहिंसाको एक नीतिके रूपमें ऊपरी तौर पर अपनाया है उसका इतना फल है। यदि अहिंसाको हृदयसे पूरी तौर पर अपनाया होता तो स्वराज्य कभीका

मिल जाता और वह स्थिर रहनेवाला स्वराज्य होता। यदि अहिंसा-को छोड़ दिया और हिंसाको अपनाया गया तो जो स्वराज्य आज प्राप्त हुआ है वह कल हाथसे निकल जायगा। अतः इस समय सर्वोपरि प्रश्न प्राप्त हुई स्वतन्त्रताकी सुरक्षा तथा स्थिरताका है।

जिस दिनसे यह स्वतन्त्रता मिली है उस दिनसे भीतरी शत्रुओंने और भी ज़ोरके साथ सिर उठाया है—जिधर देखो उधर मार-काट, लूट-खसोट, मन्दिर-मूर्तियोकी तोड़-फोड और आग लगानेकी घटनाएँ हो रही हैं। इन घटनाओंको पहले पाकिस्तानने शुरू किया, पाकिस्तान गैर-मुसलिमोकी संपत्तिको छीनकर अथवा उसे नष्ट-भ्रष्ट करके ही सन्तुष्ट रहना नही चाहता बल्कि उनकी युवास्त्रियो तथा लडकियोसे बलात्कार करने और उन्हे घरमे डालने तकमे प्रवृत्त हो रहा है शेष सबको बच्चो-समेत कत्ल कर देने अथवा जबरन उनका धर्म परिवर्तन करनेके लिये उतारू है। और इस तरह गैर-मुसलमानोकी अथवा अपनी बोलीमे काफिरोकी संख्याको एकदम कम कर देना चाहता है। चुनांचे अगर कोई किसी तरह भाग-बचकर किसीकी शरणमें अथवा शरणार्थी-शिविरमे पहुँच जाता है तो वहाँ तक उसका पीछा किया जाता है और हिन्दुस्तानमें आनेवाले शरणार्थियोकी ट्रेनो, बसो तथा हवाई जहाजों तक पर हमला किया जाता है और कितने ही ऐसे मुसीबतज़दा वेघरबार एवं निरपराधी शरणार्थियोको भी मौतके घाट उतार दिया जाता है॥ इस घोर अन्याय-अत्याचार और अमानुषिक व्यवहारकी खबरोंसे सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है, बदलेकी भावनाएँ दिन-पर-दिन जोर पकड़ती जा रही हैं और लोग 'जैसेको तैसा' की नीति पर अमल करनेके लिये मजबूर हो रहे हैं सारा वातावरण क्षुब्ध और सशंक बना हुआ है, कहीं भी अपनेको कोई सुरक्षित नही समझता। कहाँ पर किस समय क्या होजाय, यही आशंका लोगोंके हृदयोमे घर किये हुए है। सारा व्यापार चौपट है और किसीको भी ज़रा चैन नही है, इस तरह

यह स्वतन्त्रता एक प्रकारका अभिशाप बन रही है और साधारण अदूरदर्शी एव अविवेकी लोगोको यह कहनेका अवसर मिल रहा है कि 'इस स्वतन्त्रतासे तो परतन्त्रता अच्छी थी' । इधर पास खड़े कुछ बाहरी शत्रु भी आगमें ईंधन डालकर उसे भड़का रहे हैं और इस बातकी फिकरमें है कि इन भारतवासियोको स्वराज्यके अयोग्य करार देकर फिरसे इनकी गर्दन पर सवारी की जाय—अपने निरकुश शासनका जूआ उन पर रक्खा जाय ।

ऐसी हालतमे नेताओका कार्य बडा ही कठिन और जटिल हो रहा है । उन्हे सुखकी नीद सोना तो दूर रहा, सुखपूर्वक सास लेनेका भी अवसर नही मिल रहा है । उनकी जो शक्ति रचनात्मक, व्यवस्थात्मक और देशको ऊपर उठानेके कार्योमें लगती और जिनसे उनकी असाधारण क़ाबलियत (योग्यता) जानी जाती, वह आज इस व्यर्थके गृह-कलहके पीछे उलझी हुई है । इसमें सन्देह नही कि पाकिस्तानने हिन्दुस्तान (भारत) के साथ विश्वासघात किया है और नेताओको सख्त धोखा हुआ है, परन्तु इसमे भी सदेह नही है कि भारतके पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल-जैसे नेता बडी तत्परताके साथ काम कर रहे हैं और उन्होने दिन-रात एक करके थोड़े ही समयमे वह काम करके दिखलाया है जो अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ और कार्यकुशल व्यक्तियोके लिये ईर्षाकी वस्तु हो सकती है । इस समय उनकी सारी शक्ति हिन्दू, सिख आदि शरणार्थियोको पाकिस्तानसे निकालने और पूर्वी पंजाबसे मुसलमान शरणार्थियोको सुरक्षितरूपमें पाकिस्तान भिजवानेमे लगी हुई है । वे हिन्दुस्तानमे पाकिस्तानकी पक्षपातपूर्ण और धर्मान्ध साम्प्रदायिक विद्वेषकी नीतिको किसी तरह भी अपनाना नही चाहते । उनकी दृष्टिमें सारी प्रजा—चाहे वह हिन्दू मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई, पारसी आदि कोई भी क्यो न हो—समान है और वह सभीके हितके लिये काम करके दुनियामें एक आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं ।

परन्तु इस गृह-कलहके,जिसके विष-बीज विदेशियोने चिरकालसे बो रक्खे हैं, दूर हुए विना कुछ भी नहीं हो सकता। इसके लिये अन्तरङ्ग शत्रुओंसे युद्ध करके उनका नाश करना होगा। जब तक अन्तरङ्ग शत्रुओका नाश नही होगा तब तक भारतको सच्ची स्वाधीनताकी प्राप्ति नही कही जा सकती और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति ही हो सकती है। परन्तु इन शत्रुओका नाश उनके मारनेसे नही होगा वल्कि उनकी शत्रुताको मारनेसे होगा, जिसके लिये देशमें परस्पर प्रेम, सद्भाव और विश्वासकी भावनाओके प्रचारकी और उसके द्वारा विद्वेषके उस विषको निकाल देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है जो अधिकाश व्यक्तियोकी रगोमें समाया हुआ है। इसीके लिये नेताओको जनताका सहयोग वाञ्छनीय है। वे चाहते हैं कि जनता प्रतिहिसा अथवा बदलेकी भावनासे प्रेरित होकर कोई काम न करे और दडादिके कानूनको अपने हाथमे न लेवे। उसे आततताइयोसे अपनी जान और मालकी रक्षाका खुला अधिकार प्राप्त है और उस अधिकारको अमलमे लाते हुए, ज़रूरत पड़ने पर, वह आततताइयोंकी जान भी ले सकती है, परन्तु किसी आततायीके अन्याय-अत्याचारका बदला उसकी जातिके निरपराध व्यक्तियो—बालबच्चो तथा स्त्रियो आदिको मारकर चुकाना उन्हें किसी तरह भी सहन नही हो सकता। बदलेकी ऐसो कार्रवाइयोसे शत्रुताकी आग उत्तरोत्तर बढती है, नेताओका कार्य कठिनसे कठिनतम हो जाता है और कभी शान्ति तथा सुव्यवस्था नही हो पाती। बदलेकी ऐसी कार्रवाई करनेवाले एक प्रकारसे अपने ही दूसरे भाइयोकी हत्या और मुसीबतके कारण बनते हैं।

अतः भारतकी स्वतन्त्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्वल बनानेके लिये इस समय जनता तथा भारतहितैषियोंका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्योंमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करें जिस-

से नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमे धर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी।

देशमे ऐसी सद्भावनाओंको उत्पन्न करने और फैलानेका काम, मेरी रायमे, उन सच्चे साधुओंको अपने हाथमे लेना चाहिये जो सभी सम्प्रदायोंमें थोड़े बहुत रूपमें पाये जाते हैं। उनके ऊपर देशका बहुत बड़ा ऋण है, जिसे उनको इस प्रकारकी सेवाओं-द्वारा अब चुकाना चाहिये। इस समय उनकी सेवाओंकी खास ज़रूरत है, जिससे धर्मान्ध-गुरुओं और बहके हुए स्वार्थपरायण मौलवी-मुल्लाओंके ग़लत प्रचारसे व्याप्त हुए विषको देशकी रगोंसे निकाला जा सके। उन्हें वर्तमानमें आत्म-साधनाको भी गौण करके लोकसेवाके मैदानमें उतर आना चाहिये, महात्मा गाधीकी तरह सच्चे दिलसे निर्भय होकर अपेक्षित सेवाकार्योंमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि देशका वातावरण शान्त हुए बिना वे आत्म-साधना तो क्या, कोई भी धर्मसाधनका कार्य नहीं कर सकेंगे। अपनी सेवाओं-द्वारा वे लोकके धर्मसाधनमें तथा आजकलकी हवामें सच्चे धर्मसे च्युत हुए प्राणियोको सन्मार्ग दिखानेमें बहुत कुछ सहायक हो सकेंगे। और इसलिये उनका इस समय यह सर्वोपरि कर्तव्य है। यदि ऐसे कर्तव्यपरायण सत्साधुओंकी टोलियाँ देशमें घूमने लगें तो देशका दूषित वातावरण शीघ्र ही शुद्ध तथा स्वच्छ हो सकता है। आशा है सत्साधुओंका ध्यान ज़रूर इस ओर जायगा और वे अपने वर्तमान कर्तव्यको समझकर नेताओंको अपना वास्तविक सहयोग प्रदान करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खेंगे।

४०

महावीरका सर्वोदय-तीर्थ

विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें, जो कि आप्त कहे जानेवाले समस्त तीर्थप्रवर्तकोंकी परीक्षा करके और उस परीक्षा-द्वारा श्री-महावीर-जिनको सत्यार्थ आप्तके रूपमे निश्चित करके तदनन्तर उनकी स्तुतिके रूपमे लिखा गया है, महावीर भगवान्को (मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे) अतुलित-शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिके उदयकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ एवं ब्रह्मपथका नेता लिखा है और इसीलिये उन्हें 'महान्' बतलाया है। साथ ही उनके अनेकान्त-शासन (मत) के विषयमें लिखा है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की निष्ठा—तत्परताको लिये हुए है, नयो तथा प्रमाणोके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खंडित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नही है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।' जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाओंसे प्रकट है:—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

दया-दम त्याग-समाधि-निष्ठं, नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनसे अगली कारिकाओमे सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीर-जिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीर-जिन-द्वारा इस शासनमे वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोमे निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको ही सिद्ध करनेमे असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ-पाठकोंके लिये बडा ही रोचक और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी बनानेवाला है। इसमे प्रधान-प्रधान दर्शनो और उनके अवान्तर कितने ही वादोका सूत्र अथवा संकेतादिके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आगया है। यह विषय ३९ वी कारिका तक चलता रहा है। इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें ९ वी शताब्दीके विद्वान् श्रीविद्यानन्दाचार्यने वहाँ तकके वर्णित विषयकी सक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है :—

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषत.
सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीत मतमद्वितीयममलं सक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकल सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमे शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीर-जिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपमें निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमे, वीरशासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके

मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो परवर्ती-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती. जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग प्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे महावीरके तत्त्वज्ञान-को समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। महावीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी भव्यजीव पार उतर जाते हैं और जो सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें परम सहायक है। इस विषयकी कारिका निम्न प्रकार है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

इसमें स्वामी समन्तभद्र भगवान महावीरकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—'(हे भगवन्!) आपका यह तीर्थ - प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके द्वारा दुःखमय संसार-समुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव-अभाव), एक-अनेक (अद्वैत द्वैत), नित्य-क्षणिक आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है; एकान्ततः किसी एक ही धर्मको अपना विषय किये हुए नहीं है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथ-में लिये हुए है—एक धर्म किसी समय मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, जो गौण है वह निरात्मक नहीं होता और जो मुख्य है उससे व्यवहार चलता है, इसीसे सब धर्म सुव्यवस्थित हैं, उनमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था

ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सब दुःखोंका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी सर्वथैकान्तात्मक मिथ्यादर्शनके द्वारा खंडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है—जो शासन सर्वथा एकान्तपक्षको लिये हुए हैं उनमेंसे कोई भी सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य नहीं हो सकता।'

यहाँ 'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्णका वाचक है, 'उदय' ऊँचे—ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकासको कहते हैं; और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्तसे संसारमहासागरको तिरा जाय[1]। वह तीर्थ वास्तवमे धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवात्मासे है, उसकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहाँ 'तीर्थ' शब्दके द्वारा परिगृहीत है। और इसलिये इन तीनो शब्दोंके सामासिक योगसे बने हुए 'सर्वोदयतीर्थ' पदका फलितार्थ यह है कि—जो आगमवाक्य जीवात्माके पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें तथा सब जीवोंके उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमे सहायक है वह 'सर्वोदयतीर्थ' है। आत्माका उदय-उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-सुखादिक स्वाभाविक गुणोका ही उदय उत्कर्ष अथवा विकास है। और गुणोंका वह उदय-उत्कर्ष अथवा विकास दोषोके अस्त-अपकर्ष अथवा विनाशके बिना नही होता। अतः सर्वोदयतीर्थ जहाँ ज्ञानादि गुणोंके विकासमे सहायक है वहाँ अज्ञानादि दोषो तथा उनके कारण ज्ञानावरणादिक कर्मोंके विनाशमें भी सहायक है—वह उन सब रुकावटोको दूर करनेकी व्यवस्था करता है जो किसीके विकासमे बाधा डालती हैं। यह

१. 'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति' —विद्यानन्द

तीर्थको सर्वोदयका निमित्त कारण बतलाया गया है। तब उसका उपादान कारण कौन है ? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुण ही हैं जो तीर्थका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादिके दूर होने पर स्वयं विकासको प्राप्त होते हैं। इस दृष्टिसे 'सर्वोदयतीर्थ' पदका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि 'समस्त अभ्युदय-कारणोंका—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप त्रिरत्न-धर्मों-का—जो हेतु है—उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदिमें (सहायक) निमित्त-कारण है— वह 'सर्वोदयतीर्थ' है'[1]। इस दृष्टिसे ही, कारणमें कार्य-का उपचार करके इस तीर्थको धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टिसे वीरजिनेन्द्रको धर्मतीर्थका कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है, जैसा कि ९वी शताब्दीकी बनी हुई 'जयधवला' नामकी सिद्धान्तटीकामें उद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे प्रकट है—

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो ।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥

इस गाथामें वीर-जिनको जो 'निःसंशयकर'—संसारी प्राणियोंके सन्देहोंको दूरकर उन्हें सन्देहरहित करनेवाला—'महावीर'—ज्ञान-वचनादिकी सातिशय-शक्तिसे सम्पन्न—'जिनोत्तम'—जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओंमें श्रेष्ठ— और 'रागद्वेष-भयसे-रहित' बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक होनेके उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणोंकी सम्पत्तिसे युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थका प्रवर्तक हो ही नहीं सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादिशक्तियोंसे हीन होकर राग-द्वेषादिसे अभिभूत एवं आकुलित रहे हैं उनके द्वारा सर्वथा एकान्त-शासनों—मिथ्यादर्शनोंका ही प्रणयन हुआ है, जो जगतमें अनेक भूल-भ्रान्तियों एवं दृष्टिविकारोंको जन्म देकर दुःखोंके जालको विस्तृत

---

१. 'सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदानां हेतु-त्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः ।' —विद्यानन्द

करनेमे ही प्रधान कारण बने हैं । सर्वथा एकान्तशासन किस प्रकार दोषोसे परिपूर्ण है और वे कैसे दुःखोके विस्तारमें कारण बने हैं इस विषयकी चर्चाका यहाँ अवसर नही है। इसके लिये स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र जैसे ग्रन्थों तथा अष्ट-सहस्री जैसी टीकाओंको और सिद्धसेन अकलंकदेव, विद्यानन्द आदि महान् आचार्योंके तर्कप्रधान ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

यहाँ पर मै सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जो तीर्थ—शासन—सर्वान्तवान् नही—सर्वधर्मोंको लिये हुए और उनका समन्वय अपनेमें किये हुए नही है—वह सबका उदयकारक अथवा पूर्ण-उदयविधायक हो ही नही सकता और न सबके सब दुःखोंका अन्त करनेवाला ही बन सकता है, क्योकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है—अनेकानेकगुणो-धर्मोंको लिये हुए है। जो लोग उसके किसी एक ही गुण-धर्म पर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूपमे देखते और प्रतिपादन करते है उनकी दृष्टियाँ उन जन्मान्ध पुरुषोकी दृष्टियोंके समान एकांगी हैं जो हाथीके एक-एक अंगको पकड़कर—देखकर उसी एक-एक अंगके रूपमें हाथीका प्रतिपादन करते थे, और इस तरह परस्परमें लडते, झगड़ते, कलहका बीज बोते और एक दूसरेके दुःखका कारण बने हुए थे। उन्हें हाथीके सब अंगों पर दृष्टि रखनेवाले सुनेत्र पुरुषने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था कि 'तुमने हाथीके एक-एक अंगको ले रखा है, तुम सब मिल जाओ तो हाथी बन जाय—तुम्हारे अलग-अलग कथनके अनुरूप हाथी कोई चीज नही है।' और इसलिये जो वस्तुके सब अंगो पर दृष्टि डालता है—उसे सब ओरसे देखता और उसके सब गुण-धर्मोंको पहचानता है—वह वस्तुको पूर्ण तथा यथार्थ रूपमें देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और यह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसारमें वैर-विरोध-

को मिटाकर सुख-शान्तिकी स्थापना करनेमे समर्थ है। इसीसे श्री-अमृतचद्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे अनेकान्तको विरोधका मथन करनेवाला कहकर उसे नमस्कार किया है[1]। और श्रीसिद्धसेनाचार्य-ने 'सम्मइसुत्त'में यह बतलाते हुए कि अनेकान्तके बिना लोकका कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नही सकता, उसे लोकका अद्वितीय गुरु कहकर नमस्कार किया है[2]।

सिद्धसेनका यह कहना कि 'अनेकान्त' के बिना लोकका व्यवहार सर्वथा बन नही सकता सोलहो आने सत्य है। सर्वथा एकान्तवा-दियो के सामने भी लोक-व्यवहारके वन न सकनेकी यह समस्या रही है और उसे हल करने तथा लोक-व्यवहारको बनाये रखनेके लिये उन्हे माया, अविद्या, सवृति जैसी कुछ दूसरी कल्पनाये करनी पड़ी हैं अथवा यो कहिये कि अपने सर्वथा एकान्तसिद्धान्तके छप्परको सम्भालनेके लिये उसके नीचे तरह-तरहकी टेवकियाँ (थूनियाँ) लगानी पड़ी हैं, परन्तु फिर भी वे उसे सम्भाल नही सके और न अपने सर्वथा-एकान्त सिद्धान्तको किसी दूसरी तरह प्रतिष्ठित करने-में ही समर्थ हो सके हैं। उदाहरणके लिये अद्वैत एकान्तवादको लीजिये, ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थका अस्तित्व नही मानते—सर्वथा अभेदवादका ही प्रतिपादन करते है—उनके सामने जव साक्षात् दिखाई देनेवाले पदार्थ-भेदो, कारक-क्रिया-भेदो तथा विभिन्न लोक-व्यवहारोकी बात आई तो उन्होने कह दिया कि ये सब मायाजन्य है अर्थात् मायाकी कल्पना करके प्रत्यक्षमे दिखाई पडनेवाले सब भेदो तथा लोक-व्यवहारोका भार

---

१ परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकल-नय-विलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम्॥

२ जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगतवायस्स॥६१॥

उसके ऊपर रख दिया । परन्तु यह माया क्या बला है और वह सत्‌रूप है या असत्‌रूप, इसको स्पष्ट करके नही बतलाया गया। माया यदि असत् है तो वह कोई वस्तु न होनेसे किसी भी कार्यके करनेमे समर्थ नही हो सकती। और यदि सत् है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है ? यह प्रश्न खड़ा होता है। अभिन्न होनेकी हालतमें ब्रह्म भी मायारूप मिथ्या ठहरता है और भिन्न होने पर माया और ब्रह्म दो जुदी वस्तुएँ होनेसे द्वैतापत्ति होकर सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त बाधित हो जाता है। यदि हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जाता है तो हेतु और साध्यके दो होनेसे भी द्वैतापत्ति होती है और हेतुके विना वचनमात्रसे सिद्धि मानने पर उस वचनसे भी द्वैतापत्ति हो जाती है। इसके सिवाय, द्वैतके विना अद्वैत कहना बनता ही नही, जैसे कि हेतुके विना अहेतुका और हिंसाके विना अहिंसाका प्रयोग नही बनता। अद्वैतमे द्वैतका निषेध है, यदि द्वैत नामकी कोई वस्तु नही तो उसका निषेध भी नही बनता, द्वैतका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस तरह सर्वथा अद्वैतवादकी मान्यताका विधान सिद्धान्त-बाधित ठहरता है, वह अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमे स्वयं असमर्थ है और उसके आधार पर कोई लोकव्यवहार सुघटित नही हो सकता। दूसरे सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादि सर्वथा एकान्त-वादोकी भी ऐसी ही स्थिति है. वे भी अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमे असमर्थ है और उनके द्वारा भी अपने स्वरूपको बाधा पहुँचाये विना लोक-व्यवहारकी कोई व्यवस्था नही बन सकती।

श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रमे कपिलके साख्यदर्शनको द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य, शुद्धोधनपुत्र बुद्धके बौद्धदर्शनको परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प और उलूक (कणाद) के वैशेषिकदर्शनको उक्त दोनो नयोका वक्तव्य होने पर भी पारस्परिक निरपेक्षताके कारण 'मिथ्यात्व'-बतलाया है और उसके अनन्तर लिखा है:—

जे सतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति सखाण ।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्क ॥५१॥

'साख्योके सद्वादपक्षमे बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें साख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही हैं । ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जाँय - समन्वयपूर्वक अनेकान्तदृष्टिमें परिणत हो जांय - तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है, क्योकि ये सत्-असत् रूप दोनो दृष्टियाँ अलग-अलग ससारके दुःखोसे छुटकारा दिलानेमे समर्थ नही हैं—दोनोंके सापेक्ष सयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर ससारके दु खोंसे मुक्ति एवं शान्ति मिल सकती है ।'

इस सब कथन परसे मिथ्यादर्शनो और सम्यग्दर्शनोका तत्त्व सहज ही समझमें आ जाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं । मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जब तक अपने-अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर पर-विरोधका लक्ष्य रखते हैं तब तक सम्यग्दर्शनमें परिणत नहीं होते, और जब पर-विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते हैं, और 'जैनदर्शन' कहलानेके योग्य होते हैं । जैनदर्शन अपने अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-न्यायके द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है न कि विरोध, और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने-अपने विरोध को भुलाकर उसमें समा जाते हैं । इसीसे सन्मतिसुत्रकी अंतिम गाथामें जिनवचन-रूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मगलकामना करते हुए उसे 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' बतलाया है, जो इस प्रकार है—

भद्द मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स ॥१०॥

इसमे जिनवचनरूप जैनदर्शन (जिनशासन) के तीन खास विशेषणोका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण 'मिथ्यादर्शन-समूहमय', दूसरा 'अमृतसार' और तीसरा 'सविग्नसुखाधिगम्य' है। मिथ्यादर्शनोका समूह होते हुए भी वह मिथ्यास्वरूप नही है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्षनय-वादमे सन्निहित है—सापेक्षनय मिथ्या नही होते, निरपेक्षनय ही मिथ्या होते है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति न ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

महावीरजिनके सर्वधर्मसमन्वयकारक उदार शासनमे सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादिरूप वे सब नय-धर्म जो निरपेक्षरूपमें अलग-अलग रहकर अतत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-घातक होते हैं वे ही सब सापेक्ष (अविरोध) रूपमे मिलकर तत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-उपकारी बने हुए हैं[1]। तथा आश्रय पाकर बन जाते है और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासन-की उक्त (६१ वी) कारिकामे वीरशासनको जो सर्वधर्मवान्, सर्वदुःख प्रणाशक और सर्वोदयतीर्थ बतलाया है वह बिल्कुल ठीक तथा उस-की प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। महावीरका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयो (परस्पर निरपेक्षनयो) अथवा मिथ्यादर्शनोका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्त

---

१. "य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने परस्परेक्षा स्व-परोप-कारिणः ॥" - स्वयम्भूस्तोत्र

वादरूप मिथ्यादर्शन ही ससारमे अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओके कारण होते हैं। अत जो लोग भगवान-महावीरके शासनका—उनके धर्मतीर्थका—सचमुच आश्रय लेते हैं—उसे ठीक तौर पर अथवा पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्या-दर्शनादि दूर होकर समस्त दु ख यथासाध्य मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एव विकास - तक सिद्ध करनेमे समर्थ हो जाते हैं।

महावीरकी ओरसे इस धर्मतीर्थका द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अगणित कथाएँ जैनशास्त्रोमे पाई जाती है और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतितसे-पतित प्राणियोने भी इस धर्मका आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है; उन सब कथाओको छोड कर यहाँ पर जैनग्रन्थोके सिर्फ कुछ विधि-वाक्योको ही प्रकट किया जाता है जिससे उन लोगोका समाधान हो जो इस तीर्थको केवल अपना ही साम्प्रदायिक तीर्थ और 'एकमात्र अपने ही लिये अवतरित हुआ समझ बैठे है तथा दूसरोंके लिये इस तीर्थसे लाभ उठानेमे अनेक प्रकारसे बाधक बने हुए हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं.—

(१) मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जन्तव: ।—यशस्तिलक

(२) उच्चाऽवच-जनप्राय' समयोऽय जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालय. ॥" —यशस्तिलक

(३) आचाराऽनवद्यत्व शुचिरुपस्कार. शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव-द्विजाति-तपस्वि-परिकर्मसु योग्यान् ।
—नीतिवाक्यामृत

(४) शूद्रोऽप्युपस्कराऽऽचार-वपु शुद्धयाऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥
—सागारधर्मामृत

(५) एहु धम्मु जो आयरइ बम्भणु सुद्दु वि कोइ.।

सो सावउ किं सावयह अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥६७॥

—सावयधम्मदोहा

इन सब वाक्योका आशय क्रमसे इस प्रकार है :—

(१) 'मन, वचन तथा कायसे किये जानेवाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।' (यशस्तिलक)

(२) 'जिनेन्द्रका यह धर्म प्राय. ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है। एक स्तम्भके आधार पर जैसे मन्दिर-मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्य-समूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नही है—वास्तवमें धर्म धार्मिकोंके आश्रित होता है, भले ही उनमे ज्ञान, धन मान-प्रतिष्ठा, कुल-जाति, आज्ञा-ऐश्वर्य शरीर, बल, उत्पत्तिस्थान और आचार-विचारादिकी दृष्टिसे कोई ऊँचा और कोई नीचा हो।' (यशस्तिलक)

(३) मद्य-मांसादिके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृहपात्रादिकी पवित्रता और नित्यस्नानादिके द्वारा शरीरकी शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियाँ (विधियाँ) शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियो) के परिकर्मोंके योग्य बनाती हैं।' (नीतिवाक्यामृत)

(४) 'आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्यमासादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य-स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके समान धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर धर्मका अधिकारी होता है।' (सागारधर्मामृत)

(५) 'इस (श्रावक) धर्मका जो कोई भी आचरण—पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावकके सिर पर और क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहचान की जा सके।' (सावयधम्मदोहा)

नीच-से-नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जो इस धर्मप्रवर्तककी

शरणमें आकर नतमस्तक हो जाता है—प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्मको धारण करता है—वह इसी लोकमें अति उच्च बन जाता है। इस धर्मकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याण-कारी हैं, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर 'देव' (आराध्य) माना गया है और चाण्डालको किसी साधारण धर्म क्रियाका ही नहीं किन्तु 'उत्तमधर्म' का अधिकारी सूचित किया है, जैसा कि निम्न आर्ष वाक्योंसे प्रकट है :—

'यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरः कुतः ॥ स्तुतिविद्या ८३ ॥
न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ पद्मचरित ११-२०३ ॥
सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ रत्नकरण्ड २८ ॥
चाण्डालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

वीरका यह धर्मतीर्थ इन ब्राह्मणादि जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषोंको वास्तविक नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचार-भेदके आधार पर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है। साथ ही यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है, उनके नाश पर नष्ट हो जाती है और वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मोंके आधार पर है न कि जन्मके। यथा —

चातुर्वर्ण्यं यथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम्।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥ पद्मचरित ११-२०५ ॥
आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता काऽपि तात्त्विकी ॥१७-२४॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ॥ धर्मपरीक्षा १७-३२ ॥

तस्माद्गुणैर्वर्ण-व्यवस्थिति. ॥ पद्मचरित ११-१९८ ॥

क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहार:।(प्रमेयकमलमार्तण्ड)

इस धर्ममें यह भी बतलाया गया है कि इन ब्राह्मणादि जातियो-का आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोकी तरह मनुष्य-शरीरमे नही पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिमे गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति-भेदके विरुद्ध है। इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमे नही होता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय, और न केवल व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस तीर्थ-धर्ममे 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है। इन दोनो बातोके निर्देशक दो वाक्य इस प्रकार है —

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जाति-कृतो भेदो मनुष्याणा गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥ (महापुराण)
चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचर: ॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्य:

वस्तुत: सब मनुष्योकी एक ही मनुष्यजाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नामकर्मके उदयसे होती है, और इसी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमे भाई-भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैसा कि निम्न वाक्योसे प्रकट है —

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्य:

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा प्रोक्ता क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ —धर्मरसिक

इसके सिवाय, किसीके कुलमे कभी कोई दोष लग गया हो तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छो तककी कुलशुद्धि करके उन्हे अपनेमे मिलाने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस धर्मशासनमे पाई जाती हैं* । और इसलिये यह शासन

---

* जैसा कि निम्न वाक्योसे प्रकट है —

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुल सम्प्राप्त-दूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्व यदा कुलम् ॥ ४०-१६८॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजा ॥४०-१६९॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजा-बाधा-विधायिन ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यै स्वसात्कुर्यादुपक्रमे. ॥४२-१७९॥
—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्य.

३. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणा सकलसयमग्रहण कथं भवतीति नाऽऽशंकितव्य। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखडमागताना म्लेच्छराजाना चक्रवर्त्यादिभि सह जातवैवाहिकसम्बन्धाना संयम-प्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाज. सयमसभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥"
—लब्धिसारटीका (गाथा १९३ वी)

नोट—यहाँ म्लेच्छोकी दीक्षा-योग्यता, सकलसयमग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध आदिका जो विधान किया है वह सब कसायपाहुडकी 'जयधवला' टीकामे भी, जो लब्धिसारटीकासे कईसौ वर्ष पहलेकी (९वी शताब्दीकी) रचना है, इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है । जैसा कि उसके निम्न शब्दोंसेप्रकट है —

सचमुच ही 'सर्वोदयतीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसारसमुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने —'जिनके हाथो दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थका-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरोको लाभ उठाने देते हैं—मात्र अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीड़ाके स्थल रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदयतीर्थ' पर दिन-रात उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोका मेला-सा लगा रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अंगुलियोंपर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमे भी जैनत्वका प्राय: कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नही पड़ता—कही भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नज़र नही आती—लोगोको महावीरके सन्देशकी ही खबर नही, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दु:ख ही दु:ख फैला हुआ है।

ऐसी हालतमे अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया

'जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं। दिसाविजयपयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाण मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसबधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अथवा तत्तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिता: ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।'

जाय, इसकी सब रुकावटोको दूर किया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हर वक्त खुला रहे, सभीके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमे कही-कही शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके माहात्म्यका पूरा-पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोकी इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान् इस पर मुग्ध होते हैं, कितने असख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दु ख-सतापोसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज १८०० वर्षके लगभग हो गये है, ऐसा ही किया है, और इसीसे कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख[1] में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

---

१ यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक सम्वत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवी; 'स्वामी समन्तभद्र', पृष्ठ ४६ अथवा समीचीन-धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ११३।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमे यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र या मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्र-रूप एव सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यो कहिये कि भगवान् महावीरके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥

—युक्त्यनुशासन

अत. इस तीर्थके प्रचार-विषयमें ज़रा भी सकोचकी ज़रूरत नही है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीतिसे योग्य-प्रचार-कोके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोका यह काम है कि वे जैसे-तैसे जनतामे मध्यस्थभावको जाग्रत करे, ईर्षा-द्वेषादिरूप मत्सर-भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करे और उस सत्यकी दर्शन-प्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान-दृष्टिको खोलें।

सर्वोदयके मूलसूत्र

भगवान् महावीरके तीर्थ-शासनमे सर्वोदयके जिन मूल-सूत्रोका प्रतिपादन हुआ है वे संक्षेपमे इस प्रकार है'—

१ सब जीव द्रव्य-दृष्टिसे परस्पर समान है।

२ सब जीवोका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है।

३ प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार अथवा पिंड है।

४ अनादिकालसे जीवोके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल-प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस और उत्त-रोत्तर प्रकृतियाँ असख्य है।

५. इस कर्ममलके कारण जीवोका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकार-की पर्याये धारण करते हुए नजर आते हैं।

६ अनेक अवस्थाओको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है।

७. कर्ममलके भेदसे ही यह सब जीव-जगत भेदरूप है।

८ जीवकी इस कर्ममलसे मलिनावस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं।

९. जब तक किसी जीवकी यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'ससारी' कहलाता है। और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा

दुःख उठाना होता है।

१०. जब योग्य-साधनोंके बल पर विभावपरिणति मिट जाती है, आत्मामें कर्ममलका सम्बन्ध नही रहता और उसका निज-स्वभाव पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है।

११ आत्माकी पूर्णविकसित एवं परम-विशुद्ध अवस्थाके अतिरिक्त परमात्मा या ईश्वर नामकी कोई जुदी वस्तु नही है।

१२. परमात्माकी दो अवस्थाएँ हैं, एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त।

१३. जीवन्मुक्तावस्थामे शरीरका सम्बन्ध शेष रहता है, जब कि विदेह-मुक्तावस्थामें किसी भी प्रकारके शरीरका सम्बन्ध अवशिष्ट नही रहता।

१४. संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये मुख्य दो भेद हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद अनेकानेक हैं।

१५. एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक जीव 'स्थावर' और रसनादि इन्द्रियों तथा मनके धारक जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

१६. जीवोंके संसारी मुक्तादि ये सब भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। इसी दृष्टिसे उन्हें अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोमें भी बाटा जा सकता है।

१७. जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं, क्योंकि आत्म-गुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

१८ संसारी जीवोंका हित इसीमे है कि वे अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर-होने-रूप 'सिद्धि को प्राप्त करनेका यत्न करें।

१९. सिद्धि 'स्वात्मोपलब्धि' को कहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये

आत्मगुणोंका परिचय, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये।

२०. इसके लिये, अपना हित एव विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये जिनमें आत्माके गुणोका अधिकाधिक रूपमे या पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम-मार्ग है।

२१. शरणमे जानेका आशय उपासना-द्वारा उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना, उन्हें अपना मार्गप्रदर्शक मानकर उनके पद-चिन्होंपर चलना और उनकी शिक्षाओंपर अमल करना है।

२२. सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' है।

२३ शुद्धात्माओंके गुणोमे अनुरागको, तदनुकूलवर्तनको तथा उनमें गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप-प्रवृत्तिको 'भक्ति' कहते हैं।

२४. पुण्यगुणोंके स्मरणसे आत्मामे पवित्रताका संचार होता है।

२५. सद्भक्तिसे प्रशस्त अध्यवसाय एव कुशल-परिणामोंकी उपलब्धि और गुणावरोधक संचित-कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्माका विकास सधता है।

२६ सच्ची उपासनासे उपासक उसी प्रकार उपास्यके समान हो जाता है जिस प्रकार कि तैलादिसे सुसज्जित बत्ती पूर्ण-तन्मयताके साथ दीपकका आलिंगन करने पर तद्रूप हो जाती है।

२७. जो भक्ति लौकिक लाभ, यश, पूजा-प्रतिष्ठा, भय तथा रूढि आदिके वश की जाती है वह सद्भक्ति नही होती और न उससे आत्मीय-गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है।

२८. सर्वत्र लक्ष्य-शुद्धि एव भावशुद्धि पर दृष्टि रखनेकी ज़रूरत है, जिसका संबंध विवेकसे है।

२९. बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथार्थ फलको नहीं फलती और न बिना विवेककी भक्ति ही सद्भक्ति कहलाती है।

३० जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तैयार नही होती।

३१. भक्तियोगसे अहंकार मरता है. इसीसे विकास-मार्गमे उसे पहला स्थान प्राप्त है।

३२. बिना भावके पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार कि बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन।

३३. जीवात्माओके विकासमे सबसे बडा बाधक कारण मोहकर्म है, जो अनन्तदोषोका घर है।

३४. मोहके मुख्य दो भेद है–एक दर्शनमोह, जिसे मिथ्यात्व भी कहते हैं, दूसरा चारित्रमोह, जो सदाचारमे प्रवृत्ति नहीं होने देता।

३५. दर्शनमोह जीवकी दृष्टिमे विकार उत्पन्न करता है, जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ अवलोकन न होकर अन्यथा रूपमे होता है और इसीसे वह 'मिथ्यात्व' कहलाता है।

३६. दृष्टिविकार तथा उसके कारणको मिटानेके लिये आत्मामे तत्त्व-रुचिको जागृत करनेकी ज़रूरत है।

३७. तत्त्वरुचिको उस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा जागृत किया जाता है जो संसारी जीवात्माको तत्त्व-अतत्त्वकी पहचानके साथ अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकार-दोषका अथवा विभावपरिणतिका, विकारके विशिष्ट-कारणोका और उन्हे दूर करके निर्विकार-निर्दोष बनने, बन्धन-रहित मुक्त होने तथा अपने निज स्वरूपमे सुस्थित होनेका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर आत्म-विकासके सम्मुख किया जाता है।

३८ ऐसे ज्ञानाभ्यासको ही 'ज्ञानयोग' कहते हैं।

३९ वस्तुका जो निज स्वभाव है वही उसका धर्म है।

४०. प्रत्येक वस्तुमे अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए अविरोध-रूपसे रहते है और इसीसे वस्तुका

वस्तुत्व बना रहता है।

४१. वस्तुके किसी एक धर्मको निरपेक्षरूपसे लेकर उसी एक धर्मरूप जो वस्तुको समझना तथा प्रतिपादन करना है वह एकान्त अथवा एकान्तवाद है। इसीको निरपेक्ष-नयवाद भी कहते है।

४२, अनेकान्तवाद इसके विपरीत है। वह वस्तुके किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ भी दूसरे धर्मोंको छोड़ता नही, सदा सापेक्ष रहता है;इसीसे उसे 'स्याद्वाद' या 'सापेक्षनयवाद'भी कहते हैं।

४३. जो निरपेक्षनयवाद हैं वे सब मिथ्यादर्शन हैं और जो सापेक्षनयवाद हैं वे सब सम्यग्दर्शन है।

४४. निरपेक्षनय परके विरोधकी दृष्टिको अपनाये हुए स्व-पर-वैरी होते है, इसीसे जगतमे अशान्तिके कारण है।

४५. सापेक्षनय परके विरोधको न अपनाकर समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए स्व-पर-उपकारी होते है, इसीसे जगतमे शान्ति-सुखके कारण है।

४६. दृष्ट और इष्टका विरोधी न होनेके कारण स्याद्वाद निर्दोषवाद है,जब कि एकान्तवाद दोनोके विरोधको लिये हुए होनेसे निर्दोषवाद नही है।

४७ 'स्यात्' शब्द सर्वथाके नियमका त्यागी यथादृष्टको अपेक्षामे रखनेवाला, विरोधी धर्मका गौणरूपसे द्योतनकर्ता और परस्पर-प्रतियोगी वस्तुके अगरूप धर्मोंकी संधिका विधाता है।

४८ जो प्रतियोगीसे सर्वथा रहित है वह आत्महीन होता है और अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नही हो सकता।

४९ इस तरह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, शुभ-अशुभ,लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष, विद्या-अविद्या, गुण-दोष अथवा विधि-निषेधादिके रूपमे जो असंख्य-अनन्त जोड़े है उनमेसे किसी भी जोड़ेके एक साथीके बिना दूसरेका अस्तित्व नही बन सकता।

५०. एक धर्मीमें प्रतियोगी धर्म परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए रहते हैं, सर्वथा रूपसे किसी एकको कभी व्यवस्था नहीं बन सकती।

५१. विधि-निषेधादिरूप सप्त भग सम्पूर्णतत्त्वार्थपर्यायोमें घटित होते हैं और 'स्यात्' शब्द उनका नेतृत्व करता है।

५२ सारे ही नय-पक्ष सर्वथारूपमें अति दूषित हैं और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त हैं।

५३. जो स्याद्वादी हैं वे ही सुवादी हैं, अन्य सब कुवादी हैं।

५४ जो किसी अपेक्षा अथवा नयविवक्षाको लेकर वस्तुतत्त्वका कथन करते हैं वे 'स्याद्वादी' हैं,भले ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग साथमें न करते हों।

५५. कुशलाऽकुशल-कर्मादिक तथा बन्ध-मोक्षादिककी सारी व्यवस्था स्याद्वादियो अथवा अनेकान्तियोंके यहाँ ही बनती है।

५६. सारा वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है।

५७ जो अनेकान्तात्मक है वह अभेद-भेदात्मककी तरह तदतत्-स्वभावको लिये होता है।

५८ तदतत्स्वभावमे एक धर्म दूसरे धर्मसे स्वतन्त्र न होकर उसकी अपेक्षाको लिये रहता है और मुख्य-गौणकी विवक्षासे उसकी व्यवस्था उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि मथानीकी रस्सीके दोनो सिरोकी।

५९ विवक्षित 'मुख्य' और अविवक्षित 'गौण' होता है।

६०. मुख्यके विना गौण तथा गौणके विना मुख्य नही बनता। जो गौण होता है वह अभावरूप निरात्मक नही होता।

६१ वही तत्त्व प्रमाण-सिद्ध है जो तदतत्स्वभावको लिए हुए एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है।

६२ वस्तुके जो अश (धर्म) परस्पर निरपेक्ष हो वे पुरुषार्थके हेतु अथवा अर्थ-क्रिया करनेमे समर्थ नही होते।

६३. जो द्रव्य है वह सत्स्वरूप है।

६४. जो सत् है वह प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है।

६५. उत्पाद तथा व्यय पर्यायमें होते हैं और ध्रौव्य गुणमें रहता है, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् भी कहा गया है।

६६. जो सत् है उसका कभी नाश नही होता।

६७. जो सर्वथा असत् है उसका कभी उत्पाद नही होता।

६८. द्रव्यसे तथा सामान्यरूपसे कोई उत्पन्न या विनष्ट नही होता; क्योकि द्रव्य सब पर्यायोमे और सामान्य सब विशेषोमें रहता है।

६९ विविध पर्याये द्रव्यनिष्ठ एवं विविध विशेष सामान्यनिष्ठ होते हैं।

७०. सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है।

७१. सर्वथा नित्यमे उत्पाद और विनाश नही बनते, विकार तथा क्रिया-कारककी योजना भी नही बन सकती।

७२ विधि और निषेध दोनो कथंचित् इष्ट हैं, सर्वथा नही।

७३ विधि-निषेधमें विवक्षासे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है।

७४ वस्तुके किसी एक धर्मको प्रधानता प्राप्त होने परशेष धर्म गौण हो जाते हैं।

७५. वस्तु वास्तवमें विधि-निषेधादि-रूप दो-दो अवधियोंसे ही कार्यकारी होती है।

७६ वाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोके मिलनेसे ही कार्यकी निष्पत्ति होती है।

७७ जो सत्य है वह सब अनेकान्तात्मक है, अनेकान्तके बिना सत्यकी कोई स्थिति ही नही।

७८. जो अनेकान्तको नही जानता वह सत्यको नही पहचानता, भले ही सत्यके कितने ही गीत गाया करे।

७९. अनेकान्त परमागमका बीज अथवा जैनागमका प्राण है।

८०. जो सर्वथा एकान्त है वह परमार्थ-शून्य है।

८१. जो दृष्टि अनेकान्तात्मक है वह 'सम्यग्दृष्टि' है।

८२. जो दृष्टि अनेकान्तसे रहित है वह 'मिथ्यादृष्टि' है।

८३. जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह 'मिथ्यावचन' है।

८४. सिद्धि अनेकान्तसे होती है, न कि सर्वथा एकान्तसे।

८५. सर्वथा एकान्त अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेमे भी समर्थ नही होता।

८६ जो सर्वथा एकान्तवादी है वे अपने वैरी आप हैं।

८७ जो अनेकान्त-अनुयायी है वे वस्तुत. अर्हज्जिन-मतानुयायी हैं, भले ही वे 'अर्हन्त' या 'जिन' को न जानते हो।

८८. मन-वचन-काय-सबंधी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति या निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुपार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते है।

८९ दया, दम त्याग और समाधिमे तत्पर रहना आत्मविकास-का मूल एव मुख्य कर्मयोग है।

९०. समीचीन धर्म सद्दृष्टि, सद्बोध और सच्चारित्ररूप है, वही रत्नत्रय-पोत और मोक्षका मार्ग है।

९१. सद्दृष्टिको लिये हुए जो ज्ञान है वह 'सद्बोध' कहलाता है।

९२ सद्बोध-पूर्वक जो आचरण है वह सच्चारित्र' है अथवा ज्ञानयोगीके कर्माऽऽदानकी निमित्तभूत जो क्रियाएँ उनका त्याग 'सम्यक्चारित्र' है और उसका लक्ष्य राग-द्वेषकी निवृत्ति है।

९३ अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-दोषोको शान्त करनेसे ही आत्मामे शान्तिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है।

९४. ये राग-द्वेषादि-दोष, जो मनकी समताका निराकरण करनेवाले हैं, एकान्त धर्माभिनिवेश-मूलक होते हैं और मोही जीवोके अहंकार-ममकारसे उत्पन्न होते हैं।

९५ संसारमे अशान्तिके मुख्य कारण विचार-दोष और आचार-दोष हैं।

९६ विचारदोषको मिटानेवाला 'अनेकान्त' और आचारदोष-को दूर करनेवाली 'अहिसा' है।

९७ अनेकान्त और अहिसा ही शास्ता वीरजिन अथवा वीर-जिन-शासनके दो पद हैं।

९८ अनेकान्त और अहिंसाका आश्रय लेनेसे ही विश्वमे शान्ति हो सकती है।

९९ जगतके प्राणियोकी अहिंसा ही 'परमब्रह्म' है, किसी व्यक्तिविशेषका नाम परमब्रह्म नहीं।

१०० जहाँ बाह्याभ्यन्तर दोनो प्रकारके परिग्रहोका त्याग है वहीं उस अहिंसाका वास है।

१०१ जहाँ दोनो प्रकारके परिग्रहोका भार-वहन अथवा वास है वहीं हिंसाका निवास है।

१०२ जो परिग्रहमें आसक्त है वह वास्तवमें 'हिंसक' है।

१०३ आत्मपरिणामके घातक होनेसे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसाके ही रूप हैं।

१०४ धन-धान्यादि सम्पत्तिके रूपमे जो भी सासारिक विभूति है वह सब 'बाह्य-परिग्रह' है।

१०५ 'आभ्यन्तर-परिग्रह' दर्शनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्साके रूपमे है।

१०६ तृष्णा-नदीको अपरिग्रह-सूर्यके द्वारा सुखाया जाता और विद्या-नौकासे पार किया जाता है।

१०७ तृष्णाकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रिय-विषयोकी सम्पत्तिसे नही होती, प्रत्युत इसके वृद्धि होती है।

१०८ आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये ही बाह्य तप विधेय है।

१०९ यदि आध्यात्मिक तपकी वृद्धि ध्येय या लक्ष्य न हो तो

बाह्य-तपश्चरण एकान्ततः शरीर-पीडनके सिवा और कुछ नहीं।

११०. सद्ध्यानके प्रकाशसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर होता है।

१११. अपने दोषके मूल-कारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है।

११२. समाधिकी सिद्धिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोका त्याग आवश्यक है।

११३. मोह-शत्रुको सद्दृष्टि, संवित्ति और उपेक्षारूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित किया जाता है।

११४. वस्तु ही अवस्तु हो जाती है, प्रक्रियाके बदल जाने अथवा विपरीत हो जानेसे।

११५. कर्म कर्ताको छोड़कर अन्यत्र नही रहता।

११६ जो कर्मका कर्ता है वही उसके फलका भोक्ता है।

११७. अनेकान्त-शासन ही अशेष-धर्मोंका आश्रय-भूत और सर्व-आपदाओंका प्रणाशक होनेसे 'सर्वोदयतीर्थ' है।

११८. जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नही करता वह सब धर्मोंसे शून्य एवं विरोधका कारण होता है और वह कदापि 'सर्वोदयतीर्थ' नही हो सकता।

११९. आत्यन्तिक-स्वास्थ्य ही जीवोका सच्चा स्वार्थ है, क्षण-भंगुर भोग नही।

१२०. विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिस्वरूपमें शाश्वती स्थिति ही 'आत्यन्तिकस्वास्थ्य' कहलाती है, जिसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।



नामानुक्रमणिका